रुद्र देवता

डॉ॰ स्वामी श्यामसुन्दर दास शास्त्री
वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार, एम.ए.

रुद्र देवता

डॉ॰ स्वामी श्यामसुन्दर दास शास्त्री
वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार, एम.ए.

रुद्र देवता

प्रलयङ्करी नृत्यमुद्रा में

भगवान् नटराज

रुद्र देवता

(प्रलयङ्कर रुद्र भगवान् के रौद्र रूप का विवेचन)

महामण्डलेश्वर डॉ० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री
सांख्ययोग-वेदान्ताचार्य, साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम० ए०,
प्राचार्य—श्री गरीबदासी साधु संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार

वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार एम० ए०

भूमिका—
साहित्यवाचस्पति डॉ० विष्णुदत्त राकेश
एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक :
श्री गरीबदासी सन्त-साहित्य शोध-संस्थान
श्री गरीबदासी सेवाश्रम, मायापुर, हरिद्वार

विक्रमी संवत् २०४२
ईस्वी सन् १९८५

प्रथम आवृत्ति
१०००

मूल्य : ५० रुपये

पुस्तक प्राप्ति-स्थान
श्री साधु गरीबदासी धर्मशाला सेवाश्रम
सम्मुख रेलवे स्टेशन, हरिद्वार (उ० प्र०)

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

पुरोवाक्

—डॉ० विष्णुदत्त राकेश

महर्षि कात्यायन ने देवता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिसका कथन है, वह ऋषि है तथा जिसके प्रति कथन किया गया है, वह देवता है—

"यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता।"

निरुक्तकार यास्क "देवो दानाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा दीपनाद् वा" कहकर सारे पदार्थों को देने वाले, लोक-लोकान्तर में विचरण करने वाले, प्रकाशित होने वाले तथा प्रकाशित करने वाले को देवता कहते हैं। शतपथ के अनुसार जिसके लिए हवि समर्पित की जाय वह देवता है—"यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता।" महर्षि दयानन्द के अनुसार कर्म-काण्ड में देवता शब्द से वेद-मंत्रों का ही ग्रहण अभिप्रेत है—

"अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमंत्राणां ग्रहणम्।"

मन्त्रों के अर्थ करने में याज्ञिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा ऐतिहासिक प्रणाली अपनाई जाती है, अतः देवता का निर्णय भी इन्हीं के आधार पर होना चाहिए। सारांश यह कि जिनसे यज्ञ सिद्ध होता है वे ही उन मन्त्रों के देवता हैं और उनसे भिन्न मन्त्र का परमात्मा देवता होता है[1]। आचार्य सायण और महर्षि दयानन्द की निर्वचन-प्रणाली में एक प्रमुख अन्तर यह है कि सायण प्रायः याज्ञिक और ऐतिहासिक प्रणाली पर अर्थ करते हैं तथा दयानन्द याज्ञिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक शैली से अर्थ करते हैं। प्रतीकात्मक शैली से रूपकमयी अर्थ-योजना का खुलासा भी करते हैं। आधुनिक युग में श्री मधुसूदन ओझा, श्री अरविन्द, श्री मोतीराम शास्त्री तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने समन्वित शैली पर प्रतीकार्थों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है।

देवता तीन प्रकार के होते हैं—(१) पृथ्वीस्थानीय, (२) अन्तरिक्षस्थानीय, तथा (३) द्युस्थानीय। पृथ्वीस्थानीय देवताओं में अग्नि प्रमुख है, अन्तरिक्ष-

---

१. ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवता का मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। दयानन्द-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-पृष्ठ ७९।

स्थानीय देवताओं में इन्द्र तथा वायु एवं द्युस्थानीय देवताओं में सूर्य प्रमुख है।[1] ऋचा कहती है, "ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन् ऋ० ८।२८।१ के आधार पर ३३ देवता कहे जाते हैं। याज्ञवल्क्य वृहदारण्यक में आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति को मिलाकर ३३ की संख्या पूरी करते हैं। इनकी प्रतीकात्मक व्याख्या भी उपनिषद्कार ने की है। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ८ वसु हैं। दस प्राण तथा ग्यारहवीं आत्मा रुद्र हैं। जब ये इस मर्त्य शरीर से निकलते हैं तो सम्बन्धियों को रुला देते हैं। अतः इन्हें रुद्र कहा जाता है। बारह मास ही द्वादशादित्य हैं, सारे जगत् को लेकर चलने से उन्हें आदित्य कहते हैं। विद्युत् ही इन्द्र है तथा यज्ञ प्रजापति है। तीन लोक ही तीन देवता हैं क्योंकि इन्हीं तीन लोकों में सब देवता रहते हैं। निरुक्तकार वाणी, मन और प्राण को तीन लोक क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु मानते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्माण्ड के समान पिण्ड में भी देवताओं का निवास है। प्राण ही यहाँ एक मुख्य देवता है, अपर ब्रह्म है।

देवता को परम्परावादी आचार्य सशरीरी रूप वाला भी मानते हैं। देवताधिकरण और निरुक्त के अनुसार वे अग्नि, आदित्य आदि हृदय-ज्योति से भिन्न शरीरधारी देवताओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। "नमो हिरण्यबाहवे" जैसे प्रयोग ऋचाओं में हैं यथा तैत्तिरीय उपनिषद् "नमो वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि" कहकर देवताओं के प्रत्यक्षवाद का समर्थन करता है। परम्परावादी यह भी मानते हैं कि एक ही समय में एक ही देवता अनेक शरीर धारण कर विभिन्न यागों में विभिन्न स्थानों पर हवि का ग्रहण कर सकता है, शरीरधारी होने पर देवता के अनित्यत्व को लेकर की जाने वाली शंका का समाधान करते हुए ये लोग कहते हैं कि जैसे मन्त्र नित्य हैं तथा प्रत्येक सर्ग में उसी रूप में विद्यमान रहते हैं, ऐसे ही मन्त्रों के देवता तथा ऋषि भी प्रत्येक सर्ग में विद्यमान रहते हैं, उनकी परम्परा कभी विछिन्न नहीं होती। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य का हवाला देते हुए भी महाभारत के शांतिपर्व तथा विष्णुपुराण के श्लोकों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की गई है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८।४।१) के "अग्निर्वा अकामयत" "अन्नादो देवानां स्यामिति"। "स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्" अंश को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि अग्नि ने अग्नि के लिए पुरोडाश अर्पित किया। इसका अर्थ है कि देवता नाम रूप में प्रत्येक सर्ग में समान होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (४।२) की "इन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" श्रुति अर्थात् इन्द्र ने वृत्र के विरुद्ध वज्र उठाया अथवा शतपथ की "मृदब्रवीत्" (६।१।३।४) तथा "आपो

---

१. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। —नि० ७।५

ब्रुवन्" (६।१।३।२) मिट्टी बोली, जल बोला जैसे प्रयोगों से भी सिद्ध होता है कि देव विग्रहवान् होते हैं, तथा जड़ पदार्थों के अधिष्ठातृ-देवता होते हैं। 'मिट्टी बोली, का तात्पर्य है, भूमि देवता ने कहा। 'जल बोला' का तात्पर्य है, वरुण ने कहा। इतना ही नहीं, ऐतरेय ब्राह्मण (३।८) में कहा गया है कि जिस देवता के लिए हविर्त्याग किया जाता है, उस देवता का वषट् उच्चारणपूर्वक ध्यान करे—

"यस्यै देवतायै हविर्ग्रहीतं स्यात् तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्।"

सारांश यह है कि यागविधि में देवता के स्वरूप की अपेक्षा रहती है, यह भी निश्चित है कि देवता मनुष्यों से भिन्न है। मनुष्य मरणधर्मा हैं तथा देवता अमर हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

देवो न मर्त्यः (ऋक् १०।२२।५)

यहाँ देवता और मनुष्य में अन्तर माना गया है। शतपथ भी "अमृता देवाः" (२।१।३।४) कहता है। यही नहीं ताण्ड्य महाब्राह्मण (२२।१०।३) में "यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां प्रत्यक्षम्" पंक्ति से भी स्पष्ट होता है कि जो वस्तु मनुष्य के लिए परोक्ष है वह देवताओं के लिए प्रत्यक्ष है। देवता दिव्यदृष्टि-सम्पन्न होते हैं। कहने का आशय यह है कि देवता प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय भी हो सकते हैं। अग्नि, इन्द्र, सोम आदि को प्रत्यक्ष ब्रह्म के विविध रूप स्वीकार करना परम्परावादी दृष्टि ही कहा जाएगा। प्राकृतिक घटकों—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, आदि में कार्यरत उस परमात्मा की शक्ति का ही विलास हो रहा है। यजुर्वेदी यदि वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म मानता है तो ऋग्वेदी अग्नि को प्रत्यक्ष ब्रह्म मानता है तथा सामवेदी सूर्य को प्रत्यक्ष ब्रह्म मानता है। मनु महाराज **"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्"** मानते ही हैं। यजुर्वेद के मन्त्र "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (३२।१) के अनुसार अग्नि, वायु और आदित्यादि द्वारा वही ब्रह्म प्रत्यक्ष हो रहा है। रुद्र भी इसी प्रत्यक्ष ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है अतः रुद्र को ब्रह्म मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जैसे ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है वैसे ही उसकी रौद्री शक्ति भी। अग्नि, जल, ओषधि, वनस्पति आदि पदार्थों में अभिव्याप्त है समस्त ब्रह्माण्ड को वह अपनी शक्ति से सामर्थ्यवान् बनाता है। ऐसा रुद्र नमस्य है। लेखकद्वय ने अथर्व का एक मंत्र "यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश" (७।९२।१) उद्धृत कर यह प्रतिपादित किया है कि जल, थल, नभ सर्वत्र रुद्र की ही सत्ता है और ये प्राकृतिक घटक उस सत्ता के प्रत्यक्ष रूप हैं जो उस शक्ति का द्योतन कराते हैं श्वेताश्वतर ने भी "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" (३।२) कहकर रुद्र के रूप में उस एक परमेश्वर की सत्ता मानी है जिसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। शिवपुराण विद्येश्वर संहिता में "अहमेव परं ब्रह्म मत्स्वरूपं कलाकलम्" उक्ति भी इसी तथ्य का समर्थन करती है। अद्वैतवादी "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के

समान ही शैवाद्वैतवादी भी "सर्वं ब्रह्मेति उपासीत सर्वं वै रुद्र इत्यपि" कहते हैं। पुराणकाल में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र एक परमात्मा के ही तीन रूप कहे गये हैं। इस पुस्तक के लेखकों ने भी त्रिगुणात्मक भगवान् की चर्चा की है। "भगवान् जब सृष्टि की रचना करते हैं तब वे प्रमुख रूप से रजोगुण का संस्पर्श करते हैं। तब उन्हें ब्रह्मा कहा जाता है। जब सत्त्व को अपनाते हैं तब इन्हें विष्णु नाम से सम्बोधित किया है और जब वे प्रमुख रूप से तम का स्पर्श करते हैं तब रुद्र कहलाते हैं। प्रलयावस्था में ही तम होता है। वह स्वयं अजन्मा है तथा वह सर्जन, स्थिति तथा नाश का हेतु है, त्रयी रूप तथा त्रिगुणात्मक भगवान् को मेरा नमस्कार है।"[1] शिवपुराण में भी इसी आधार से कहा गया है—

सृष्टिकर्ताऽभवद् ब्रह्मा हरिः पालनकारकः।
लयकारी भविष्यामि रुद्ररूपो गुणाकृतिः।।

श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—

त्रयाणां एकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति।। (४।७।५४)

शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा कार्यभेद से ही ब्रह्म के भिन्न रूप हैं अन्यथा एक ही हैं। विष्णुपुराण विष्णु को मूल मानकर शिव तथा ब्रह्मा को उसका रूप मानता है।

सर्गस्थितिविनाशानां जगतोस्य जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने।। (१।२)

मार्कण्डेय पुराण शक्ति को मूल मानकर कार्यभेद से शक्ति के त्रिधा रूप की कल्पना करता है—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते।।
(दु० स० १२।१०)

कहना यह कि यह एक शैली है। "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" के अनुसार विष्णु, रुद्र, प्रजापति, दुर्गा सब एक परमात्मा की ही शक्तियाँ हैं। शाक्त इन्हीं को ब्रह्माणी, रुद्राणी तथा वैष्णवी शक्तियाँ कहते हैं। शैव-ग्रन्थों में उसी को शिव कहा गया है शैव उपनिषद् श्वेताश्वतर कहता है कि रुद्र एक है अतः ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्वतः किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते। वही रुद्र ब्रह्मादि के रूप में अपनी शक्तियों से इन लोगों का शासन करता है। वह सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर विद्यमान है। तथा समस्त भुवनों को बनाकर प्रलयकाल में पुनः समेट लेता है।[2] वह परमात्मा ही अग्नि है, वही सूर्य, वहो वायु, वही चन्द्रमा वही शुद्ध हिरण्यगर्भ-

---

१. रुद्र देवता पृष्ठ ६
२. श्वे० ३।४

स्वरूप, वही जल और वही विराट्‌रूप प्रजापति है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥ (श्वे० ४।२)

इस भावना ने प्राकृतिक पदार्थों तथा घटकों में प्रत्यक्ष ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करने की प्रेरणा दी। सर्वात्मवादी धारणा के इस विकास ने मनुष्य को संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठने को प्रेरित किया।

श्रीमद्‌भागवत में महाराज निमि को उपदेश करते हुए 'कवि' नामक योगेश्वर ने भी कहा था कि राजन् यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सबके सब भगवान् के शरीर हैं। अर्थात् सभी रूपों में स्वयं भगवान् प्रकट हैं। अतः ये सभी प्रणम्य हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च, ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं, यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११।२।४१)

प्रत्यक्ष ब्रह्मवाद की भावना ने मानवतावाद की नींव डाली। यदि इस भावना का विकास हो पाता तो राग-द्वेष, उच्च-नीच, सवर्ण-असवर्ण, देश-विदेश, निर्धन-धनी, रंग-रूप एवं भाषा-भेद की संकुचित दीवारों से निकलकर मानव एकता की ऐसी भूमि पर खड़ा हो सकता था जहाँ समतावादी समाज की नींव पड़ सकती थी और जहाँ प्राणिमात्र एकता का अनुभव कर सकता था।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय के अन्तिम तीन मंत्रों में द्युलोक, अन्तरिक्ष, तथा पृथ्वी-स्थानीय रुद्र की स्तुति की गई है। द्युलोक में रुद्र के बाण-वर्षा, अन्तरिक्ष में वायु तथा पृथ्वी पर अन्न को बताया गया है। वस्तुतः रुद्र अग्नि है "अग्निर्वै रुद्रः"। अग्नि होने के कारण वह यज्ञ है। यज्ञ से वर्षा, वायु, प्रकाश तथा अन्न और वनस्पतियों की प्राप्ति होती है। रुद्र को 'अम्बक' कहना भी जलतत्त्व के आधिक्य को सूचित करना ही है। अम्बा शब्द का अर्थ जल है, जल सोम की स्थूलावस्था है और रुद्र है वायु। वायु अग्निप्रधान तथा सोमप्रधान होती है। अग्निप्रधान वायु अन्तरिक्ष में रहती है जिसे विद्युत् युक्त इन्द्र कहते हैं तथा सोमप्रधान वायु शांत है सौम्य है। पहली घोर रूपा है, दूसरी शिवा है। इन्हीं को मन्त्र में 'घोरातनु' तथा 'शिवातनु' कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में "अग्निर्वा रुद्रः तस्य द्वौ तन्वौ घोरान्या च शिवान्या च" कहा भी गया है। अतः अग्नि को रुद्र कहने का तात्पर्य है यज्ञरूप रुद्र की प्रतिष्ठा। भूस्थानीय अग्नि वायुरूप जटाओं में (अन्तरिक्ष) में आकर सोमरूप में परिणत होती है तथा द्युलोक में सूर्य-किरणों के स्पर्श से दिव्य जल में बदल जाती है। अथर्व की श्रुति है कि जो जल अपने सारभूत रस से सम्मिलित है और जो अन्तरिक्ष का और भूमि का जल है। हिरण्य-सुवर्ण के समान वर्ण वाला, यज्ञ के उपयुक्त वह जल हमारे लिए कल्याण और सुख का

देने वाला हो।

या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुः
या आन्तरिक्ष्या उत पार्थिवीर्याः।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः
शिवाः शं स्योनाः सुहवा भवन्तु।

कहा भी गया है कि सूर्य के साथ अप् वर्तमान है। सूर्य और अग्नि अप् में ही पैदा होते हैं।

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।

अथर्व १।६।३३।१

सूर्य की किरणों के संघर्ष से वह अप् अपना स्थान छोड़कर दूर हटता है। रस-रूप होने के कारण तेज के साथ इस अप् का स्वाभाविक विरोध है। अतएव जहाँ तक सूर्य की किरणें प्रखरता से फैलती हैं वहाँ से उतने प्रदेश के अप् को दूर हटाती हैं। ध्रुव प्रदेश में जहाँ सूर्यकिरणें अति मंद हो जाती हैं वहाँ वह अप् इकट्ठा हो जाता है। बहुत इकट्ठा हो जाने के कारण वहाँ घनीभूत होकर स्थूल जल के रूप में आ जाता है और गुरुत्व के कारण वायु में नहीं ठहर सकता अतः सुमेरु के शिखर पर गिर पड़ता है उसे ही कहते हैं गंगा[1]। शिव व्योमकेश हैं और गंगा का उनसे अभिन्न सम्बन्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण सूर्य-किरणों में रहने वाले जल को 'मारीचि' बताता है। यह अन्तरिक्ष में भरा रहता है। सूर्य की किरणें इसे पृथ्वी तक ले आती हैं। यह जलधारा सूर्य से उद्भूत होने के कारण पुराणकार के शब्दों में सूर्य-पुत्री यमुना है। तात्पर्य यह कि रुद्र यज्ञ है तथा दिव्य जल उसके ऊर्ध्वा-रोहण (व्योमकेश) की परिणति। गीता (३।१४) में "यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म-समुद्भवः" इसीलिए कहा गया है। रुद्र की एक निरुक्ति यह भी है कि "रोदनात् स्थूलावस्थातः द्रावणात् इति रुद्रः" अर्थात् स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर पदार्थों की गति कराने वाला ही रुद्र है। यज्ञ में हुत पदार्थों को अग्नि अन्तरिक्ष तथा द्युलोक की ओर भेजती है अतः यज्ञाग्नि को रुद्र कहते हैं। पूर्णाहुति के अवसर पर मृडाग्नि की पूजा इसी स्थिति का संकेत करती है। अग्नि और रुद्र के पर्यायवाची नाम इसीलिए संस्कृतसाहित्य में मिलते हैं। आचार्य पंडित बलदेव उपाध्याय ने भी रुद्र को अग्नि मानकर यज्ञपरक व्याख्या की है। उनका कथन है कि अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्वलिंग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर जलते हैं। इसी कारण शिव जलधारी के बीच रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसलिए शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिव-भक्तों के लिए भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त

---

१. वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति पृष्ठ ११०

के मानने से भलीभांति हो जाता है। ऋग्वेद ने "तमग्ने रुद्रो" तथा अथर्व ने "तस्म रुद्राय नमो अस्त्वग्नये" कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र दिया है[1]। शतपथ से ज्ञात होता है कि प्राच्य लोग रुद्र को शर्व तथा वाहीक (पश्चिम) लोग भव नाम से पुकारते हैं परन्तु हैं ये दोनों अग्नि के ही नाम।

"अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि अग्निरित्येव शान्ततमम्" (१।७।३।८) शुक्लयजुर्वेद के ३९ वें अध्याय के आठवें मंत्र में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव तथा उग्र एक देवता के पृथक्-पृथक् ८ नाम कहे गए हैं। इनमें अग्नि भूस्थानीय, अशनि या विद्युत् अन्तरिक्षस्थानीय तथा उग्र या सूर्य द्युस्थानीय है। इस प्रकार एक रुद्राग्नि ही तीन रूपों में तीन धामों में है और यही भूमिस्थानीय जल, अन्तरिक्षस्थानीय जल तथा द्युस्थानीय जल उसके तीन अम्बक (त्र्यम्बक) होने के हेतु हैं। अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य भी उसके तीन नेत्र हैं। "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" के कारण चन्द्रमा का सम्बन्ध भी जल से है। यजुर्वेद (१२।३६) के "अप्स्वग्ने सधिष्टव" मंत्र से भी अग्नि का सम्बन्ध जल से सिद्ध होता है तथा सूर्य का सम्बन्ध तो अप् से है ही। विष्णु-रूप सूर्य से गंगा का क्षरण पुराणकार ने इसी आधार पर कल्पित किया। आधिदैविक रूप में रुद्र के साथ तीन नेत्र और गंगा के होने का यही वैदिक आधार है। पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन कि शिव अनार्य-देवता है तथा रुद्रोपासना अवैदिक है, ऐसी स्थिति में सर्वथा निराधार सिद्ध हो जाता है। आधिभौतिक रूप में रुद्र पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, यजमान (विद्युत्) पवमान, पावक और शुचि नाम से परिगणित किए गए हैं। इनमें प्रथम आठ शिव की अष्टमूर्ति हैं तथा पवमान, पावक और शुचि उपद्रावक रुद्र हैं। इनमें शुचि सूर्य की उग्रता में पवमान अन्तरिक्ष में और पावक पृथिवी पर कार्य करते हैं। घोर रूपों का यज्ञ में स्थान नहीं है। विद्वानों ने ११ प्रकार की यज्ञाग्नि को ही ग्यारह रुद्र बताया है। अग्नियाँ सामान्य तीन हैं—गार्हपत्य, आहवनीय का कोई भेद नहीं होता। धिष्ण्य के आठ भेद हैं—अग्निध्रीय, अच्छावाकीय, नेष्ट्रीय, पोत्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, होत्रीय, प्रशात्रीय और भार्जालीय।

सूर्य रूप अग्नि या रुद्र के चारों ओर लिपटे नाग-ग्रहों के परिभ्रमण के प्रतीक हैं। आचार्य गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का कथन है कि चन्द्रमा, मंगल आदि ग्रह जो सूर्य के चारों ओर घूमते हैं वे अपने एक परिभ्रमण में जिस मार्ग में गये थे, ठीक उसी बिन्दु पर दूसरी बार नहीं जाते। किंचित् हटकर उसी मार्ग पर चलते हैं। यों एक-एक बार के भ्रमण का एक-एक कुण्डलाकार वृत्त बनता है। कुछ नियत परिभ्रमणों के बाद वे फिर अपने उस पूर्व वृत्त पर आ जाते हैं। यह भिन्न-

---

१. पुराणविमर्श—पृष्ठ ४७३

भिन्न मण्डलों का समुदाय रस्सी की तरह लपेटा हुआ ध्यान में लाया जाय तो सर्प-कुण्डली के आकार का ही होता है। आधुनिक ज्योतिष शास्त्र में इन्हें कलावृक्ष कहते हैं[1]। जब "अग्निषोमात्मकं जगत्" कहते हैं तब अग्नि में अग्नि और सूर्य तथा सोम में वायु और अप् (रस) का समावेश—बोध होता है। अग्नि ऊर्ध्वमुखी होकर सोम बनती है और सोम अधोमुखी होकर अग्नि। बृहज्जाबालोपनिषद् में कहा गया है—

अग्नेरुर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम्।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः॥

इनमें सोम शक्ति है और अग्नि रुद्र। जैसे अग्नि की शक्ति सोम है, वैसे ही रुद्र की शक्ति रौद्री है। जैसे अग्नि और सोम में कोई भेद नहीं होता, वैसे ही रुद्र और रुद्राणी में कोई भेद नहीं। सोम ग्राह्य है और अग्नि ग्रहीता। अतः शिव ग्रहीता हैं, पति हैं तथा सोम पत्नी है, ग्राह्य है। शिव-शक्ति के सामंजस्य का यह वैदिक आधार है। लिंगपुराण में इसी तथ्य का पल्लवन हुआ है[2]।

वेद में अम्बिका को रुद्र की स्वसा (बहन) कहा गया है, पत्नी नहीं। तैत्तिरीय आरण्यक में इनकी पत्नी का नाम पार्वती तथा केनोपनिषद् में हैमवती उमा शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मेरी दृष्टि में रुद्र-परिवार की (पार्वती, गणेश, स्कंद) पौराणिक कल्पना के पीछे यह मन्त्र प्रेरक रहा है—

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥ (ऋक्० १०।१५९।३)

अर्थात् मेरे पुत्र शत्रुओं को मारनेवाले हैं और मेरी पुत्री भी शत्रुओं पर खूब चमकने वाली है और मैं भी शत्रुओं को अच्छी तरह जीतने वाली (संजया) हूँ। मेरे पति में भी सबसे श्रेष्ठ शत्रुविजय-सम्बन्धी यश है। सायण ने यह कथन इन्द्र की पत्नी शची का माना है। हम यदि इसे शक्ति का कथन मानें तो यहाँ 'पुत्राः' का तात्पर्य गणेश, कार्तिकेय तथा क्षेत्रपाल, दुहिता का तात्पर्य कौशिकी (शरीर-कोशतश्चास्याः समुद्भूताब्रवीच्छिवा। मार्क० ८६।८५) पति का तात्पर्य रुद्र (धनुष पर निरन्तर बाण चढ़ाए हुए—विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत, य० १६।१०) तथा स्वयं युद्धरत देवी लिया जा सकता है। वागाम्भृणी सूक्त में देवी ने स्वयं कहा है कि "अहं जनाय समदं कृणोमि" (१०।१५९।६) मैं सज्जनों की रक्षा के लिए युद्ध करती हूँ। रुद्र के यज्ञ से जुड़े होने के प्रमाण पुराणों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। यज्ञ-भाग न मिलने पर दक्ष यज्ञ का ध्वंस तथा वैश्वदेव-

---

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—पृष्ठ २५३
२. अहमग्निर्महातेजाः सोमश्चैषा महांबिका:
अहमग्निश्च सोमश्च प्रकृत्या पुरुषः स्वयम्। पृष्ठ २२०

सम्बन्धी सूक्तों के आचार्य नाभाग द्वारा यज्ञ-धन की रुद्र देव का अधिकार स्वीकार करना उक्त तथ्य की पोषक घटनाएँ हैं[1]।

रुद्र देवता पुस्तक के विद्वान् लेखकों ने रुद्र की व्याख्या मुख्यतया आध्यात्मिक शैली पर की है। वैदिक वाङ्मय तथा पौराणिक साहित्य में रुद्र देवता का क्रमिक विकास दिखाते हुए रुद्र के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया गया है। मैं तो रुद्र के यज्ञपरक अर्थ को ही परम्परानुमोदित मानता हूँ। आधिदैविक दृष्टि से महर्षि दयानन्द ने राज्य व्यवस्थापरक, शिक्षक-शिष्य-व्यवहारपरक विद्वान् लोगों का सत्कार-विषयक, गृहस्थ के सत्कर्त्तव्य परक तथा उदात्त मन वाले मनुष्योचित आचरण परक अर्थ कर समाजोपयोगी दृष्टि का प्रकाश किया है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' में युद्धकाण्डविषयक अधुनातन प्रणालियों का सम्यक् निरूपण रुद्राध्याय के मन्त्रों द्वारा किया है। उसीप्रकार इस पुस्तक के प्रणेताओं ने प्रत्यक्ष देवता-परक तथा अध्यात्मपरक व्याख्या कर रुद्र के प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट किया है। रुद्राध्याय का अर्थ करते हुए अग्निपरक अर्थ के साथ-साथ परमेश्वरपरक अर्थ भी मनीषी लेखकों ने दिया है। यदि पूरे रुद्र सूक्त का अध्यात्मपरक अर्थ भी दे दिया जाता तो अधिक सुन्दर होता। ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा अथर्व में उपलब्ध रुद्र-विषयक मन्त्रों को अर्थसहित देकर अध्येताओं का उपकार किया गया है।

इस पुस्तक की एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें शोधार्थी की तटस्थ संधान दृष्टि का उपयोग हुआ है। किसी मतवाद, आग्रहवाद या सम्प्रदाय की जड़-दृष्टि पुस्तक में नहीं दिखाई पड़ती। पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ पण्डित दामोदर सातवलेकर, डा० सम्पूर्णानन्द प्रभृति विद्वानों के द्वारा उठाए गए आक्षेपों और शंकाओं का भी तर्क-सम्मत समाधान प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है। शतरुद्रिय के नामकरण पर भी मौलिक दृष्टि से विचार किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में भयंकर रुद्र को अन्न देकर शान्त करने का विधान है। 'शान्त देवत्य' प्रधान प्रक्रिया को याज्ञवल्क्य "परोक्षप्रिया हि देवाः" के आधार पर शतरुद्रिय कहते हैं—

"शान्तदेवत्यं शान्त देवत्यं ह्वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते
परोक्षम्।" (९।१।२)

यों यह नामकरण मन्त्रों की सौ संख्या को लेकर भी हुआ है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के ६६ मन्त्र—फिर प्रारम्भ के १६ मन्त्र—फिर 'एष ते रुद्रभागः' तथा

---

१. यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित्
चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति।
नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम्
इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये॥ भागवत ९।४।८।९

'अवरुद्रमदीमह्यव' २ मन्त्र—फिर 'नमस्ते रुद्र' मन्त्र तथा 'या ते रुद्र शिवातनूरघोरा २ मन्त्र—'न तं विदाथ य इमा' तथा 'विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव, मीढुष्टम शिवतम, विकिरिद्र विलोहित, सहस्राणि सहस्रशा, असंख्याता सहस्राणि ६ मन्त्र तथा 'वयं सोमव्रते, एष ते रुद्रभागः अवरुद्रमदी, भेषजमसि, त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं पतिवेदनम् एतत्ते रुद्रावसन्तेन, त्र्यायुषं जमदग्नेः' एवं 'शिवोनामासि ८ मंत्रों को क्रमशः रखकर सौ की संख्या पूरी की गई है। यही शतरुद्रिय है। कैवल्योपनिषद् तथा जाबालोपनिषद में शतरुद्रिय की बड़ी महिमा वर्णित है[1]।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता प्रदर्शितकर त्रिलोकी में रुद्रों के प्रवेश की भी मौलिक व्याख्या की गई है। नाभि से जानु तक पृथिवी, मुख से नाभि तक अन्तरिक्ष तथा शिर के ऊपर से मुख तक द्युलोक बताकर देह-यज्ञ की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। रुद्र—प्रकोपशमन तथा औषध-विज्ञान का सम्बन्ध दिखाते हुए भी कुछ मौलिक बातें कही गई हैं। रुद्र के स्वरूप पर सायण, महीधर, दयानन्द तथा अरविन्द के विचार भी संकलित कर दिए गए हैं। अष्टमूर्ति महादेव की धारणा पर भी उपयोगी प्रकाश डाला गया है। स्कंद की योगपरक व्याख्या नई है। अष्टमूर्ति शिव पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख भी उपयोगी है। पण्डितद्वय के इस अध्याय को देखकर यदि डा० अग्रवाल का लेख पढ़ा जाएगा तो इसकी महत्ता का पता चलेगा।

शतरुद्रिय के मंत्रों की योगपरक व्याख्या इस पुस्तक में कुछ स्थानों पर दी गई है। त्र्यम्बकं यजामहे, रुद्रों द्वारा पूर्व—उद्धि या अन्तरिक्ष स्थिति, सोम का आगमन, हविरूप यजमान में देवों की उत्पत्ति तथा रुद्र के विभिन्न रूपों का शरीरांगों से सम्बन्ध योग की प्रक्रिया की छाया में निर्मित हुए हैं। एकादश रुद्रों की उत्पत्ति-विषयक कथानक तथा उसके अंगों की बुद्धिग्राही व्याख्या को देखकर प्रसन्न होना स्वाभाविक है। 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र की योगपरक व्याख्या स्वामी विष्णुदेवानन्द जी ने "वैदिक योग" पुस्तक में की है। बादमें शैव दार्शनिकों में योग की महत्ता का प्रतिपादन इसीलिए हुआ कि शिव योग के आचार्य हैं। लिंगपुराण में अष्टांग योग द्वारा शिवाराधना का उल्लेख इसी तथ्य का परिचायक है। सद्योजात, वामदेव, ईशान, अघोर तथा तत्पुरुष मूर्ति से महायोग का उपदेश भी शैव धर्म की योगप्रधान चर्या का संकेत करता है। 'व्रात्य रुद्र' योगी के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।

'व्रात्यरुद्र' शब्द विवादास्पद रहा है। 'व्रात्यं असंस्कृतम्' की धारणा से वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी की व्यंजना कराता है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने

---

१. यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति, स होवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रियेणेत्येतान्येव ह वा अमृतस्य नामानि एतैर्ह वा अमृतो भवतीति।

अथर्व के १५वें काण्ड की व्याख्या करते हुए व्रात्य मन्त्रों की ऐतिहासिक प्रणाली पर व्याख्या की है। इसमें व्रात्य एक महान् योगी और अवधूत के रूप में उल्लिखित किया गया है जो कर्मकाण्ड विधि-निषेध से ऊपर उठकर आत्मत्याग में तल्लीन रहता है। व्रात्यकाण्ड के मन्त्र में आया है कि व्रात्य न चाहे तो गृहस्थ अग्निहोत्र बन्द करदे[1]। इस पुस्तक के लेखकों की भी मान्यता है कि वेद में वर्णित व्रात्य का जैसा स्वरूप है, उससे स्पष्ट है कि यह महान् योगी है पर अपने रहन-सहन वेश-भूषा तथा व्यवहार से बहुत ही निकृष्ट-सा प्रतीत होता है। वेद कहता है कि ऐसे व्रात्य की निन्दा नहीं करनी चाहिए[2]। रुद्र देवता का व्रात्य के साथ सम्बन्ध है। ऐतिहासिकों ने वेदकाल में ही ऐसे ज्ञान-प्रधान मुनियों की कल्पना की है जो कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं रखते थे, वर्णाश्रम के भेद को बनावटी मानते थे मुण्डकोपनिषद् में "प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा" जैसी उक्तियाँ इन्हीं की देन हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में इनकी विशेष वेशभूषा तथा रहन-सहन का उल्लेख है। हमने "व्रात्य और उसकी साधना" में इस पर विस्तृत विचार किया है[3]। संक्षेप में, निरग्नि रहना, अनिकेत रहना, अगोत्रचरण रहना, अल्पाहार तथा उपवास करना एवं कम से कम वस्त्र धारण करना व्रात्य का लक्षण कहा जा सकता है। मत्स्य-पुराण (२०।१२) में इनका विस्तृत विवरण है। पाशुपत ही वैदिकों की दृष्टि में व्रात्य है तथा श्वेताश्वतर ऋषि व्रात्यों के पाशुपतों के श्रेष्ठ आचार्य हैं। कूर्म पुराण में आया है—

अथास्मिन्नन्तरेऽपश्यत् समायान्तं महामुनिम्।
श्वेताश्वतरनामानं महापाशुपतोत्तम्॥

ऐतिहासिक दृष्टि से हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में पशुपति के रूप में जिस योगी की मूर्ति मिली है, वह व्रात्य ही है जिसके सिर पर पगड़ी है। आगम साहित्य व्रात्य मुनियों की बौद्धिक धरोहर है।

वेदों के समान शैवागमों का उद्भव भी प्राचीन माना गया है फिर भी इनका उद्धार दुर्वासा ने किया तथा त्र्यम्बकादित्य को त्र्यम्बक शास्त्र पढ़ाया सोमानन्द त्र्यम्बकादित्य का बीसवां वंशज था जिसका आविर्भाव ८वीं शती के आसपास हुआ। प्रत्यभिज्ञादर्शन का भी यही समय है। मालिनीविजयोत्तर, विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र प्रमुख ग्रन्थ हैं। वसुगुप्त के शिवसूत्रों में सिद्धान्त स्पष्ट हुआ है। "सूत्रमाह महेश्वरः" के अनुसार शिव ही इन सूत्रों के रचयिता हैं। इन सूत्रों पर आधृत ५१ कारिकाओं को क्षेमराज ने स्पन्दशास्त्र कहा है। क्षेमराज ने

---

१. स चाति सृजेर्ज्जुहुयान्न चाति सृज्जेन्न जुहुयात्। अथर्व १५।१२।३
२. रुद्र देवता—पृष्ठ ५८
३. यतीन्द्र तिलक…पृष्ठ १५६

इसकी प्रथम कारिका पर 'स्पन्दसंदोह' नामक टीका लिखी। सोमानन्द, उत्पल तथा अभिनवगुप्त इस दर्शन के प्रमुख आचार्य हैं। दक्षिण में पाशपुत धर्म का विकास हुआ। भस्म तथा रुद्राक्ष धारण उनके प्रमुख बाह्य लक्षण माने गए। महाभारत में माहेश्वरों के चार सम्प्रदाय बतलाए गए हैं। शैव, पाशुपत, कालदमन, और कापालिक। आगम प्रामाण्य में यामुनाचार्य ने कालदमन को कालमुख भी कहा है। पाशुपत मत प्राचीन था जिसका उद्धार आचार्य लकुलीश ने किया था। कपालपात्र में भोजन करना, श्मशान की राख लगाना, मदिरापात्र रखना, लाठी धारण करना तथा अस्थियों के कण्ठहार तथा चूड़ामणि और कर्णाभूषण धारण करना इनकी रहनी के अंग थे। महेश्वर द्वारा रचित पाशुपत सूत्र इनका मुख्य ग्रन्थ है, जिस पर कौण्डिन्य का 'पंचार्थी भाष्य' उपलब्ध है। इनकी पाशुपत, लकुलीश, कापालिक, नाथ तथा रसेश्वर मुख्य शाखाएँ हैं। आगमिक शैवों की शाखाओं में काश्मीर शैव, तमिल शैव तथा वीर शैवों के नाम आते हैं। वीर शैवों के संस्थापक महात्मा वसव थे। ब्रह्मसूत्र पर श्रीकरभाष्य एवं सिद्धान्तशिखामणि इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ हैं। शिवलिंग को गले में नित्य धारण किए रहने से इन्हें लिंगायत भी कहते हैं। शैव सिद्धान्त के ग्रन्थ संस्कृत तथा तमिल दोनों में मिलते हैं। पति, पशु और पाश तीन मूल तत्त्वों का विवेचन इन ग्रन्थों में है। काश्मीरी मत त्रिक् दर्शन अथवा ईश्वराद्वयवाद कहलाता है। शैव दर्शन के बिखरे हुए सूत्र लिंगपुराण तथा शिवपुराण में भी मिलते हैं। १४वीं शती के पूर्वार्द्ध में माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में शैव सिद्धान्तों की चर्चा की है।

योरपीय विद्वानों ने शिवलिंग को पुरुष जननेन्द्रिय तथा वेदी को स्त्री—उपस्थ का प्रतीक मानकर एक भ्रान्त धारणा का प्रचार किया। देशी-विचारक श्री गोपीनाथ राव ने इसी धारणा से अभिभूत होकर शिवलिंग को शिश्न का प्रतिरूप बताया। वस्तुत: वेदी पर प्रज्वलित अग्नि का प्रतीक है यह और इसे अवैदिक न मानकर वैदिक माना जाना चाहिए। लकुलीशों के प्रभाव से दक्षिण की गुडीमल्लम वाली मूर्ति में ऐसी छाया अवश्य है और यह मद्रास में है। लिंग-पुराण में बाद को वाममार्गी प्रभाव से लिंगवेदी को शिव-पार्वती का प्रतीक बताया गया।

लिंगवेदी समायोगादर्धनारीश्वरी भवेत्। (९९।८)

इसके अतिरिक्त हाथी गुफा में प्राप्त त्रिमूर्ति का चित्र सत्त्व, रज, तम के प्रतीक भव, हर तथा मृड का सूचक है, जिस रूप की वेदना बाणभट्ट ने कादम्बरी में "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नम:" कहकर या शिवमहिम्न में "बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नम:", "प्रबल तमसे तत्संहारे हराय नमो नम:" या "जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नम:" कहकर की है। चालुक्य-नरेश परम माहेश्वर थे। उन्होंने एलीफेंटा में अनेक महेश्वर मूर्तियों का निर्माण कराया।

अर्धनारीश्वर के नरेश—नरेशी के रूप में नटराज की प्रतिमा में मिले हैं। मद्रास-संग्रहालय में विश्व नृत्य-निरत महानट की मूर्ति उल्लेखनीय है जो संहार की प्रतीक है। इनके मुकुट में नर-कपाल निहित है, माथे पर सोम, चरणों में अपस्मार है। कटि में दिक् अम्बर और सूर्य काल के प्रतीक हैं। ऊपरवाले दाहिने हाथ में डमरु तथा बांये हाथ में अग्नि है। पहला वेद का प्रतीक है तो दूसरा यज्ञाग्नि का। बांये कान में स्त्री का कुण्डल तथा पुरुष कुण्डल का दाहिने कान में है। अपस्मार मोहपुरुष है, अज्ञान है। पुरुष कुण्डल का टूटना पुरुष का निश्चेष्ट होना है, उसके मंद होने पर प्रकृति भी निश्चेष्ट हो जाती है। सृष्टि-भंग होने की स्थिति की सूचना है। यह नादान्त नृत्य है। राष्ट्रकूट राजाओं ने एलोरा की गुफाओं में नादान्त नृत्तमूर्ति का निर्माण कराया है। वैदिक रुद्र की सभी विशेषताएँ इस मूर्ति में निहित हैं। इसी तरह की एक मूर्ति कोलम्बो म्यूजियम में है। इसमें ऊपर प्रकृति चक्र तथा पांच स्फुलिंग वाली ज्वालाएं विशेष रूप से प्रदर्शित हैं। प्रस्तुत पुस्तक के मुखपृष्ठ पर मद्रास-संग्रहालय में उपलब्ध मूर्ति का चित्र दिया गया है। लेखकों का परिचय इससे मिल जायेगा। इस सारे विवरण को लिखने का तात्पर्य यह है कि वैदिक तथा वैदिकेतर साहित्य में रुद्र-देवता का ऐसा प्रभाव वर्णित है कि उससे दर्शन, साहित्य, उपासना, स्थापत्य, सभी कुछ प्रभावित हुए हैं। भारतीय संस्कृति पर शैवदर्शन तथा उपासना का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। "रुद्र देवता" पुस्तक लिखकर विद्वान् लेखकों ने शिव के क्रमिक विकास को समझने-सोचने की दिशा दी है। अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया है तथा वेद से लेकर सन्त गरीबदास तक की वाणियों का हवाला देते हुए शिवतत्त्व की महत्ता का बखान किया है। निश्चय ही इस पुस्तक से "शिव-संस्कृति" के वास्तविक आधार का उद्घाटन हो सकेगा। भारतीय धर्म-साधना के परम्परागत, सांस्कृतिक तथा वैचारिक इतिहास में वैदिक तथा वैदिकेतर मान्यताओं के एक समान योगदान की चर्चा करते हुए "शिव-संस्कृति" की चर्चा इतिहासवेत्ता करते रहे हैं पर "शिव-संस्कृति" के सर्वथा वैदिक पक्ष पर नूतन शैली से प्रकाश डालने वाली यह प्रथम पुस्तक है। शिव ही ऐसे देवता हैं जिन्हें आर्य और आर्य-भिन्न परम्पराओं ने समान भाव से ग्रहण किया। शिव के ही माध्यम से एशिया के अनेक देशों में शिव-संस्कृति का प्रचार हुआ। अतः दार्शनिक दृष्टि से शिवतत्त्व का व्याख्यान अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। यह पुस्तक इस दिशा में उपयोगी सिद्ध होगी। वेदमूर्ति पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार तथा महामण्डलेश्वर डा० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री इस उत्तम ग्रन्थ के लेखन के लिए बधाई के पात्र हैं। शास्त्री जी से अनुरोध है कि वैदिक साहित्य के प्रकाशन का जो शिवसंकल्प उन्होंने लिया है, उसे आगे बढ़ाएँ, यही सच्ची शिवोपासना होगी।

सन्त कवि सद्गुरु
आचार्य गरीबदासजी महाराज

अज्ञानी पुरुषों को सुमार्ग पर लाने के लिये ईश्वरीय आशा से महापुरुष इस संसार में अवतीर्ण हुआ करते हैं। नास्तिकों को आस्तिक बनाने में उनमें अपार शक्ति होती है। दिल्ली से लगभग ३० मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में एक प्रसिद्ध छुड़ाणी धाम नाम का ग्राम है। वहीं विक्रमीय संवत् १७७४ में वैशाख पूर्णिमा के दिन ब्राह्ममुहूर्त में श्री सद्गुरु सन्तकवि गरीबदास जी का प्रादुर्भाव हुआ था। उस समय वह सारी कोठी ज्योति से जगमगा उठी थी। आपके पिता का नाम बलिराम भगत और माता का नाम राणी था। आप क्षात्रवंश (जाट) के एक देदीप्यमान सूर्य के तुल्य थे। बचपन से ही आप अन्यों में विलक्षण थे। बालकों को साथ लेकर खेलने के लिए किसी एकान्त स्थान में जाकर कुछ ऊँचे टीले पर बैठ उन्हें उपदेश दिया करते थे। अज्ञानी लोग उसे समझकर कहा करते, "पता नहीं राणी का छोहरा क्या कविता कहता है कुछ समझ में तो आती नहीं" महा-पुरुषों की रहस्यमयी ऊँची वाणी सर्वसाधारण की समझ से परे की होती है। गुरु के सम्बन्ध में—

श्री गरीबदास जी ने मानुषी तनु धारी कोई गुरु धारण तो नहीं किया था पर फिर भी कबीरदास जी को वे अपना गुरु मानते थे। उनके ये उद्गार हैं—

अवधू श्वासा संग शास्त्र निकसें, संख असंखों मेला।
दूजा कौन पढ़ाते हैं, आपे गुरु आपे चेला॥

कहते हैं कि एक बार वन में सन्तकवि कबीरदास जी ने आविर्भूत होकर उन्हें गुरु-दीक्षा दी थी। अस्तु, शनैः-शनैः आपकी अमृतवाणी की चर्चा समस्त हरियाणा प्रान्त की सीमा को लाँघकर उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, आदि सुदूर प्रान्तों में फैल गई। श्रद्धालु पुरुषों ने दूर-दूर से आकर उनसे गुरु-दीक्षा ली। इसप्रकार लगभग एक सौ पच्चीस शिष्य उनके ऐसे थे जो ब्रह्मवेत्ता, योगिराज अवधूत, वैरागी, त्यागी थे। ये सब सन्त बने। सेवकों की संख्या तो हजारों में थी। इनके शिष्यों में दादूपंथी सम्प्रदाय के श्री गोपालदास जी उनके परम प्रिय साधक शिष्य हुए हैं। उन्होंने विक्रमीय संवत् १७९७ के फाल्गुन मास की शुक्ला त्रयोदशी तिथि को वाणी का शुभ लेखन आरम्भ किया। जो वाणी लिपिबद्ध हुई वह साढ़े अठारह हजार के लगभग है। इन्हें चार विभागों में विभक्त किया गया है।

यथा—(१) अंगभाग (२) ग्रन्थभाग (३) पदभाग (४) रागभाग।

प्रथम भाग में एक-एक विषय को लेकर युक्तियुक्त प्रमाणों व दृष्टान्तों से उसे विशद किया गया है। ग्रन्थभाग में एक-एक विषय का अंगभाग की तरह विशद विवेचन तो नहीं है पर उसमें मिश्रित-सा विषय है। तृतीय तथा चतुर्थ भाग में मिश्रित उपदेश हैं। श्री स्वामी गरीबदास जी ने सन्त शिरोमणि कबीरदास जी को गुरु धारण किया था—

"दास गरीब कबीर का चेरा, सत्य लोक अमरापुर डेरा"

अतः उनके पदचिह्नों पर ही वे चले थे। कबीरदास जी निर्गुण शाखा के परम सन्त थे उन्होंने निराकार ब्रह्म की उपासना को ही मुख्य माना है तद्वत् आपने भी इसी पथ का अनुसरण किया है।

ग्रन्थसाहिब—

सम्पूर्ण ग्रन्थसाहिब साढ़े अठारह हजार वाणियों का है। यह समूचा ग्रन्थ सत्पुरुष (साहिब) सद्गुरु तथा सन्त इन तीनों की स्तुति व प्रशंसा से भरा पड़ा है। उनके मत में ये तीन होते हुए भी तत्त्ववस्तु एक ही हैं। इनमें भेद नहीं है। वे कहते हैं—

गरीब, साहिब से सतगुरु भये सतगुरु से भये साध।
ये तीनों अंग एक हैं गति कुछ अगम अगाध।
गरीब, सतगुरु पूर्ण ब्रह्म है सतगुरु आप अलेख।
सतगुरु रमता राम है यामे मीन न मेख।।

निर्गुण ब्रह्म तो निराकार है वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अतः उनके सगुण अवतार सन्तों के दर्शन ही प्रत्यक्ष ब्रह्म का रूप है।

गरीब, निर्गुण सर्गुण एक है दूजा भ्रम विकार।
निर्गुण साहिब आप हैं सर्गुण सन्त विचार।।
निर्गुण सर्गुण सब कला बहुरंगी बरियाम।
पिण्ड ब्रह्मण्ड पूर्ण पुरुष अविगत रमता राम।।
गरीब, सन्त सकल के मुकट हैं साईं साधु समान।
बड़भागी वे हँस हैं जहां सन्तों नाल पिछान।।

अद्वैतवाद और सन्तमत में कोई विशेष अन्तर नहीं है पर सद्गुरु आचार्य गरीबदास जी निराकार ब्रह्म के ज्योतिरूप तथा शब्दरूप को एक ही स्वरूप मानते हैं अर्थात् परब्रह्म और शब्दब्रह्म एक ही हैं। कहा भी है—

"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति"

सहजयोग, सन्तयोग, फकीरीयोग एक ही हैं। **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात, यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु**

पश्यतः "अहिंसा परमोधर्मः"। मादक द्रव्यों का निषेध, व्यभिचार, माँसाहार आदि में दोष-दर्शन आदि सन्त जी के प्रमुख मन्तव्य हैं। भाषा इनकी सधुक्कड़ी है। इनकी भाषा में पूरवी, मारवाड़ी, ब्रजभाषा, पंजाबी, गुजराती, हरयाणवी, अरबी, फारसी, आदि का मिश्रित बोल है। कोई बिरला योगी, अनुभवी व्यक्ति इसका रसपान कर सम्पूर्ण रहस्य को जान सकता है। पौराणिक कथाओं का भी यत्र-तत्र समावेश हुआ है।

इसी प्रकार गुरुमहिमा, नाम-जप, सदाचार, योग, माया, कथनी, करनी, प्रेमरस, विरह, दया, निर्वैरता, चेतावनी, पाखण्डखण्डन, हठयोग, कर्मज्ञान, भक्ति, गायत्री, स्तोत्र, भक्तचरित्र तथा अष्टांग योग पर विशेष प्रकाश डाला गया है। स्वामी जी का प्रादुर्भाव तथा निर्वाण छुड़ाणी में हुआ। अतः गरीबदासी सन्तों व भक्तों के लिए यह छुड़ाणी धाम ग्राम प्रमुख तीर्थस्थल है। गरीबदासी सन्तों में स्वामी दयालुदास जी महाराज युग-प्रवर्तक बहुत बड़े विद्वान् महापुरुष महामण्डलेश्वर हुए हैं। इसी प्रकार जैतराम, राजाराम, वनखण्डिदास, रामदास, दौलतराम, लालदास, श्यामदास, हरिदास, चैनराम, प्रेमदास, गोविन्ददास, भवानीदास ठाकुरदास, पूरणदास, चण्डीराम, जैसीराम, चेतनदास, गुलाबराम, मनसाराम, तथा तुलसीराम आदि अन्य अनेक सन्त महात्माओं ने इस सन्त-मत को चार चाँद लगाये हैं। युगपुरुष स्वामी दयालुदास जी ने हरिद्वार, प्रयाग, नासिक, उज्जैन, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों में अन्नक्षेत्र शिविर, सत्संग पण्डाल का सम्प्रवर्त्तन कर तीर्थसेवी साधु सद्गृहस्थों में धार्मिक, सामाजिक, संस्कारों की चेतना जागृत की। और साढ़े अठारह हजार वाणी ग्रन्थ में से नित्यपाठ के लिए रत्नसागर नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इनके सुयोग्य शिष्यों में श्री गरीबदासी धर्मशाला सेवाश्रम ट्रस्ट भवन मायापुर हरिद्वार के संस्थापक एवं संवर्धक महामण्डलेश्वर स्वामी भास्करानन्द जी महाराज, श्री जगदीश आश्रम खड़खड़ी हरिद्वार के संस्थापक महामण्डलेश्वर स्वामी जगदीश्वरानन्द जी महाराज, श्री आनन्द आश्रम भूपतवाला हरिद्वार के संस्थापक दर्शनाचार्य स्वामी आनन्दप्रकाश जी महाराज तथा महामहिम स्वामी रामकृष्ण जी के सुयोग्य शिष्य महामण्डलेश्वर स्वामी धर्मस्नेही जी, संस्थापक श्रीरामनिकेतन भूपतवाला के नाम विशेष लेखनीय हैं जो उत्तराखण्ड की प्रसिद्ध समाजसेवी संस्थाएँ हैं। इसी प्रकार सिद्ध महापुरुष (भूरीवाले महामहिम) स्वामी ब्रह्मसागर जी महाराज ने आचार्य गरीबदास जी की अविकल वाणी (ग्रन्थसाहिब) के अखण्ड पाठ की परम्परा का प्रवर्तन किया। भूरीवालों की परम्परा में ब्रह्मनिवास सप्तसरोवर हरिद्वार एवं श्री जगदीशस्वरूप आश्रम भूपतवाला, हरिद्वार का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। वर्तमान में वैदिक धर्म संस्कृति के प्रचार-प्रसार निमित्त (१) श्री दयालु संस्कृति महाविद्यालय बाँसफाटक वाराणसी (२) श्री गरीबदासी साधु संस्कृत महाविद्यालय मायापुर हरिद्वार,

(३) श्री शम्भुदेव संस्कृत महाविद्यालय खड़खड़ी हरिद्वार, (४) श्री चेतनज्योति संस्कृति महाविद्यालय भूपतवाला हरिद्वार, सुसंचालित हैं।

इस प्रकार गरीबदासी सम्प्रदाय की धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक शैक्षणिक, सामाजिक सेवाएँ बड़ी अनुकरणीय एवं प्रेरणाप्रद सिद्ध हो रही हैं। अन्त में हम षड्दर्शन भारत साधुसमाज के अखाड़ों, आश्रमों के संचालकों, धर्माचार्यों, धर्मप्रचारकों, विद्वान् महामण्डलेश्वरों, सन्तों, महन्तों, के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। जिन्होंने भारतीय वैदिक धर्म संस्कृति में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का सुन्दर निर्वहण किया है। इसके अतिरिक्त हम डॉ० विष्णुदत्त जी राकेश प्रो० गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय तथा डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा प्राचार्य राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। जिन्होंने रुद्र-देवता प्रकाशन कार्य में समय-समय पर अपने अमूल्य विचार दिए हैं। डॉ० राकेश ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में वेद, दर्शनशास्त्र एवं सन्त-साहित्य का जो समन्वय किया है इस उदार समर्पित भावना से हम अधिक प्रभावित हैं।

साथ ही प्रिय शिष्य राजपाल जी, दर्शनकुमार जी, कुलवन्त कुमार जी, श्री उदयन जी परमार, श्री सदानन्द जी, उदारात्मा श्रीमती चान्द राणी जी, सेठ हरवंशलाल जी, श्री राजेश डालमिया, बनारसीबाई डालमिया, सेठ नरसिंह-दास जी एण्ड सन्स, पुष्पा राणी जी, जनकराणी जी, पुष्पालक्ष्मी जी, विष्णु जी, सरलादेवी जी, आदि को हम हार्दिक शुभकानाएँ देते हैं। जिन्होंने रुद्रदेवता के प्रकाशन में तन-मन-धन से सहयोग देकर अपनी वैदिक निष्ठा का परिचय प्रदान किया है।

डॉ० स्वामी श्यामसुन्दरदास शास्त्री
वेदमार्तण्ड भगवद्दत्त वेदालंकार

प्राक्कथन

यह रुद्र देवता ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव हर्ष हो रहा है। रुद्र भगवान् का सर्वांगपरिपूर्ण परिचय तो त्रिकाल में भी असम्भव है। प्राचीन आचार्यों, ऋषि-मुनियों व सन्तों के पदचिह्नों का अनुसरण कर कुछ-कुछ रुद्र भगवान् का स्वरूप-निर्धारण व परिचय कराने का प्रयत्न किया गया है। हमारे इस रुद्र देवता ग्रन्थ का प्रमुख आधार शतपथ ब्राह्मण, गोपथ, ऐतरेय ब्राह्मण एवं यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक तथा मैत्रायणी संहिताएँ आदि हैं। अतः इस ग्रन्थ में कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विधि-विधानों पर ऊहापोह होना स्वाभाविक है। श्री डॉ० श्यामसुन्दरदास जी शास्त्री अध्यक्ष एवं महन्त गरीबदासीय साधु (सेवा) आश्रम (हरिद्वार) की महती अनुकम्पा से सायणाचार्य आदि भाष्यकारों, शिवपुराण की छाया में शिवस्तवन तथा उसके पशुपाश आदि तथा सन्तकवि आचार्य श्री सद्गुरु गरीबदास जी की शिवमहिमा व शिव-स्तवन पर हृदयग्राह्य व्याख्या आदि का भी संक्षेप में इस ग्रन्थ में समावेश किया गया है। इसप्रकार यह ग्रन्थ हम दोनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। कई विद्वानों को ग्रन्थ के कुछ निष्कर्ष व प्रकरण आपत्तिजनक प्रतीत हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि अनेक स्थलों पर मन्त्रों की वर्णनशैलियाँ अति गूढ़, दुरूह व विरोधाभास लिए होती हैं जिनका समाधान प्राचीनकाल से ही ऋषि-मुनि व आचार्य व विद्वान् भाष्यकार अपने-अपने दृष्टिकोण से करते रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। इसके परिणामस्वरूप अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, त्रैत आदि अनेकों वाद प्रचलित हुए। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर वेदों के प्राचीन भाष्यकार ऋषि-मुनि ब्राह्मणग्रन्थ आदि सत् शास्त्रों में **"ता एता एक व्याख्यानाः"** का उद्घोष करते रहे हैं। इस दृष्टिकोण के वैविध्य के कारण परस्पर एक-दूसरे को अवैदिक कहना या उसने वेद से न्याय नहीं किया कहना हमारी बुद्धि से परे की बात है। हमने इस ग्रन्थ में वेद की शाखासंहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा प्राचीन भाष्यकारों के द्वारा विशिष्ट शैली में वर्णित गूढ़ रहस्यों को केवल समझने-समझाने का प्रयत्न किया है किसी सिद्धान्त व मत का खण्डन व पोषण आदि नहीं किया है। वेद के ऐतिहासिक पक्ष व आख्यानों को भी हम अपने दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करते हैं। अतः विज्ञ पाठकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थ में जिसको जितना ग्राह्य लगे वह उतना ग्रहण कर लेवें। हमारे निष्कर्ष सर्वमान्य होंगे यह तो हमने कभी नहीं सोचा।

व्यक्तिगत आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम प्रलयंकर उस रुद्र देवता को हमारा पुनः पुनः प्रणाम है जिनकी महती अनुकम्पा से ही इस भवसागर से पार हुआ जा सकता है। हे दरिद्रनारायण! हे अन्धसस्पते! हे भोले भण्डारी! न जाने कितने अनन्तकाल से नानायोनियों के गर्त में गिरता पड़ता जा रहा हूँ। कृपा कर, कृपा कर। तदनन्तर श्री गरीबदासी धर्मशाला सेवाश्रम मायापुर हरिद्वार के संचालक डॉ० स्वामी श्यामसुन्दरदास जी महामण्डलेश्वर का किन शब्दों में अभिनन्दन करूँ, समझ नहीं पा रहा जिनके वेदों व शिवपुराणादि के शिव-सम्बन्धी विचारों में समन्वयात्मक कुछ झलक यहाँ ग्रन्थ में दे पाये हैं। पुस्तक के प्रकाशन का भी सम्पूर्ण व्ययभार वहन कर इन्होंने मेरे साहस को द्विगुणित किया है। स्वामी जी महाराज नानाविध विद्या-विज्ञानों, भारतीय दर्शनों व सत्य शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् हैं तथा समाज-सेवा के क्षेत्र में अखिल भारत साधुसमाज के मन्त्री एवं अखिल भारत गरीबदासी महासभा के अध्यक्ष तथा अनेक संस्थाओं के सबल सम्पोषक हैं। इन्होंने सन् १९८१ से निरन्तर आवासीय सुविधा प्रदान कर मुझे चिन्तामुक्त किया। एतदर्थ हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

श्री चौ० प्रतापसिंह जी का भी मैं आभारी हूँ। इनसे भी मुझे पत्र-पुष्प की सहायता मिलती रही है। नवभारत टाइम्स दैनिक के अवकाशप्राप्त सहायक सम्पादक आनन्द विद्यालंकार की पत्नी श्रीमती राजेश्वरी देवी विद्यालंकृता बड़ी विदुषी सत्कार्यों में रुचि रखने वाली हैं। इन द्वारा प्रदत्त सत्परामर्श एवं सहायता के लिए आभारी हूँ।

केन्द्रीय सरकार के सर्वे विभाग में कार्यरत आर्यसमाज मसूरी के सदस्य पुत्रतुल्य श्री रामाश्रय को मेरा शुभाशीर्वाद है इन्होंने समय-समय पर ग्रन्थ के सुवाच्य लेखन में सहायता की है। बहिन शकुन्तला चोपड़ा का भी सदा मुझे आशीर्वाद मिलता रहा है।

अन्त में अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली के मालिक श्री अमरनाथ व सांवलदास जी साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने पुस्तक के शुद्ध तथा सुन्दर प्रकाशन में सहयोग दिया है।

प्रूफ-संशोधन में यदि कहीं त्रुटि रहगई है तो विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

भगवद्दत्त वेदालंकार

पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, एम. ए. (संस्कृत—आगरा विश्वविद्यालय)

वेदमार्तण्ड पं० भगवद्दत्त वेदालंकार वेद के प्रकाण्ड विद्वान्। आपका सम्पूर्ण जीवन वैदिक चिन्तन एवं अध्ययन में समर्पित है। आज भी पण्डितजी नये-नये विषयों के अनुसंधान एवं प्रसार में दत्तचित्त होकर संलग्न हैं।

जन्म मेरठ जिले के ग्राम 'नेक' में हुआ। 'वेदालंकार' तक की शिक्षा गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्राप्त की। सन् १९३५ में 'वेदालंकार' की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् ६-७ वर्षों तक आप पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा में रहे।

सन् १९४२ में पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के वेदानुसंधान विभाग में स्थानान्तरित होकर १९७६ तक गुरुकुल की सेवा में अनेक पदों पर कार्य करते रहे। वेदों का गहन अध्ययन करते हुए आपने १२ अमूल्य ग्रन्थ विद्वत्समाज को दिये और इनके अतिरिक्त ६-७ पुस्तकें अभी अप्रकाशित हैं। आपकी पुस्तकों में वैदिक साहित्य की जटिल एवं दुरूह कल्पनाओं को सुगम रूप से प्रस्तुत करने का गुण पाया जाता है। आपकी पुस्तकों पर कई पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके उच्चकोटि के शोधपूर्ण लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। पण्डित जी हंसमुख, शान्त व सरल स्वभाव के होने के कारण अजातशत्रु माने जाते हैं। वेद की निःस्वार्थ सेवा में आपने अभावग्रस्त होते हुए भी धनोपार्जन को महत्त्व नहीं दिया। **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** इस शास्त्रवचन को आपने जीवन में पूर्ण रूप से निभाया है।

शोधकार्य के साथ ही आपने 'गुरुकुल पत्रिका' के सम्पादन-कार्य को भी १५ वर्षों तक कुशलतापूर्वक निभाया है। अभी आपको 'संघड विद्यासभा ट्रस्ट, जयपुर' ने सम्मानित किया है।

पं० भगवद्दत्त वेदालंकार की प्रकाशित रचनाएँ :

ऋभु देवता	सविता देवता
आत्मसमर्पण	वैदिक अध्यात्मविद्या
ऋषि-रहस्य	विष्णु देवता
वैदिक सन्ध्या	ऋषि-देव-विवेचन
वैदिक स्वप्नविज्ञान (हिन्दी)	वेद-विमर्श
वैदिक स्वप्नविज्ञानम् (संस्कृत)	बृहस्पति देवता

पुरस्कृत कृतियों का विवरण

वैदिक स्वप्नविज्ञानम्	—	१००० रु०—उत्तरप्रदेश शासन
ऋषि-रहस्य	—	५०० रु०—उत्तरप्रदेश शासन
		२२५ रु०—पुरुषोत्तमदास मेमोरियल ट्रस्ट, हैदराबाद
विष्णु देवता	—	५०० रु०—उत्तरप्रदेश शासन
सविता देवता	—	१००० रु०—उत्तरप्रदेश शासन

विषय-सूची

रुद्र देवता

प्रथम अध्याय

परम पिता परमात्मा का रुद्र रूप

सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता वह भगवान् अपनी विविध विभूतियों व शक्तियों के कारण वेदों में अग्नि, इन्द्र, वरुण व सोम आदि नाना नामों से स्मरण किया गया है। वही भगवान् अनेक मन्त्रों में रुद्र नाम से भी सम्बोधित हुआ है। भगवान् का रुद्ररूप उसकी उग्रता, तीक्ष्णता व भयंकरता के कारण है। वह संसार का संहार करता है। उसका यह संहारकारी रूप आवश्यक नहीं कि मनुष्यों के प्रति ही हो प्रत्युत विषैले जीव-जन्तुओं, कृमि-कीटों, चोर व डकैतों तथा अन्य रोगाणुओं के प्रति भी हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि जब रुद्र का व्याधिजनक व संहारकारी रूप मनुष्यों के प्रति प्रकट होता है तब वह घोर है, और जब वह रौद्र रूप मनुष्यों के प्रति न होकर मनुष्यों के हिंसक प्राणियों, व्याधिजनक कृमि-कीटों तथा चोर व डकैतों के प्रति होता है तब वह शिव कहलाता है। व्याधि-जनक कृमि-कीटों को नष्ट करने व उन्हें शमन करने के कारण वह शिव भिषक् भी कहलाता है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो रुद्र, रुद्र ही है शिव नहीं है। क्योंकि कभी-कभी उसका रुद्ररूप मानव-शत्रुओं के प्रति प्रकट हो रहा होता है, इससे मनुष्यों का कल्याण हो जाता है इसलिये उसे शिव कह देते हैं। यदि हम और सूक्ष्मता में जायें तो किसी विशेष अवस्था में मनुष्यों का संहार करना भी उसका शिव अर्थात् कल्याणकारी रूप है। जिस समय पृथिवी पर प्रजाओं का सीमातीत बाहुल्य हो जाये और मनुष्यों में पाप-प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाये तो उस अवस्था में मनुष्यों का संहार करना भी उसका शिवरूप ही है। वेद में आता है— **"बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश"** ऋ० १।१६४।३२ अर्थात् पृथिवी पर जब प्रजा बहुत बढ़ जाती है, आबादी सीमा को लांघ जाती है तब वह निर्ऋति में जा पहुँचती है। 'निर्ऋति' मृत्यु, कष्ट तथा विपत्ति आदि को कहते हैं। अतः ऐसी अवस्था में प्रजा का युद्ध व महामारी आदि व्याधियों द्वारा विनाश कर देना ही भगवान् का कल्याणकारी रूप है। यह सम्भव है कि इस विवेचन से कई असहमत हों पर है यह सत्य।

दूसरे रुद्र भगवान् मनुष्यों को रुलाकर उनका कल्याण ही करते हैं। प्रायः मनुष्य पर दुःख व विपत्ति के पहाड़ टूटकर गिरते रहते हैं। महान् विपत्ति के आने

पर यदि वह रोये नहीं तो वह दुःख हृदय पर घातक प्रभाव डालता है, इससे मृत्यु तक हो जाती है। रोकर मनुष्य अपने दुःख को बाहिर कर देता है। अतः इस दृष्टि से रुद्र रुलाने के कारण मनुष्यों का कल्याण ही करता है। उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के जिस प्रकार अग्नि, आदित्य, वायु तथा चन्द्रमा आदि विविध रूप व शक्तियाँ हैं उसी प्रकार रुद्र भी एक रूप है और यह अग्नि का ही एक विशिष्ट रूप है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक किसी भी क्षेत्र की अग्नि जब उग्र रूप धारण कर लेती है तब वह रुद्र नाम से सम्बोधित की जा सकती है। अग्नि की यह उग्रता व तीक्ष्णता जब रोने व रुलाने (रोदिति व रोदयति) का कारण बनती है तब वह रुद्र है। भगवान् का यह आग्नेय रौद्र रूप सर्वत्र अभिव्याप्त है। मन्त्र में आता है—

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये॥

अथर्व ७।९२।१

जो रुद्रदेव अग्नि, जल, ओषधि, वनस्पति आदि पदार्थों में अभिव्याप्त है, जो इन समस्त भुवनों को सामर्थ्यवान् बनाता है उस अग्निरूप रुद्र को मेरा नमस्कार है।

इस मन्त्र में वर्णित अग्नि में समाविष्ट रुद्र द्वितीय अग्नि ही है। क्योंकि स्थूल अग्नि में सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम अग्नियाँ विद्यमान होती हैं। रुद्राग्नि सूक्ष्म अग्नि है। एक अन्य मन्त्र से भी अग्नि में एक और अग्नि का होना वर्णित हुआ है। यथा **"अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः"** अथर्व ४।३९।९ अर्थात् अग्नि में एक और दूसरी अग्नि प्रविष्ट हुई विचरती है। यजुर्वेद के १६वें अध्याय तथा शतपथ ब्राह्मण के ९वें काण्ड में वर्णित शत रुद्रिय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह रुद्राग्नि मन्युरूप होती है। इसी मन्युरूप अग्नि का अन्य रुद्राग्नियाँ विस्तार हैं। जल में भी यह रुद्राग्नि प्रविष्ट होती है। जल भी पदार्थों को खा जाता है। ओषधि-वनस्पतियों में भी यह रुद्राग्नि पैदा होती रहती है, जिससे ये भी विषैली व संहारक हो जाती हैं। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि ये लोकलोकान्तर सब उसी रुद्र भगवान् के हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु॥ अथर्व ११।२।१०

हे उग्र, तीक्ष्ण रुद्रदेव! ये चारों प्रकृष्ट दिशाएँ तथा द्युलोक, पृथिवी और यह विस्तृत अन्तरिक्ष तेरा ही है। पृथिवी पर जो आत्मवान् प्राण धारण कर रहा है वह सब तेरा ही है।

यहाँ मन्त्र में रुद्र को उग्र पद से सम्बोधित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि इस त्रिलोकी में तथा समग्र प्राणियों के प्रति उसकी उग्रता का प्रकाश होता है। उसकी उग्रता केवल हिंसा व विनाश को ही नहीं द्योतित करती अपितु संसार

के पालन-पोषण में भी सहायक होती है। मन्त्र में कहा है—

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः॥

ऋग् ६।४९।१०

(भुवनस्य पितरं) भुवन के पालक (रुद्रं) इस रुद्र भगवान् को (दिवा) दिन में (अक्तौ) रात्रि में (आभिः गीर्भिः) इन स्तुति-वचनों से (वर्द्धय) अपने अन्दर बढ़ाओ। उस (बृहन्तं) महान् (ऋष्वं) श्रेष्ठ गतियुक्त (अजरं) जीर्णशीर्ण न होने वाले और (सुषुम्नं) उत्तम सुख के देनेवाले रुद्रदेव की (कविना इषितासः) क्रान्तदर्शी देव से प्रेरित होकर हम (ऋधक्) समृद्धि के लिए (हुवेम) आह्वान करें।

ऋष्वम् —महान्तं गतिमन्तं वा ऋषी गतौ, ऋष्व इति महन्नाम [निघं० ३।३]

ऋधक् —समृद्धिर्यथा स्यात् तथा। [स्वामी दयानन्द]
अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते। ऋध्नुवन्। [निरु० ४।२५]

इषितासः—प्रेरिताः प्रेषिता वा। इषितः प्रेषित इति वा अधीष्ट इति वा।
[निरु० ८।८]

इस उपर्युक्त मन्त्र में रुद्र को भुवन का पालक बताया गया है। वह दुष्टों, हिंसकों तथा रोगाणुओं का विनाश कर समग्र प्राणियों का पालन करनेवाला है। अतः संसार के पालन-पोषण में रुद्र की स्तुति दुष्टों, हिंसकों के विनाशकर्ता के रूप में करनी चाहिये।

यह निम्न मन्त्र भी रुद्र की उग्रता का दिग्दर्शक है—

स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम्॥ ऋग् २।३३।९

(पुरु रूपः) अनेक रूपों वाला (उग्रः) उग्र स्वभाव (बभ्रुः) भरण-पोषण करने वाला वह रुद्र (शुक्रेभिः) शुद्ध व तेजस्वी (हिरण्यैः) हिरण्य की आभावाले (स्थिरेभिः अंगैः) स्थिर व दृढ़ अंगों से (पिपिशे) रूप प्रदान करता है। (अस्य भुवनस्य) इस भुवन के (भूरेः) महान् (ईशानात्) ईश इस (रुद्रात्) रुद्रदेव से (असुर्यम्) यह प्राणशक्ति (न वा उयोषत्) कभी भी पृथक् नहीं होती।

असुर्यम्—असुषु भवं हितं वा।

महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में पुरुरूप के निम्न अर्थ दिये हैं—

बहुरूपयुक्तः। (ऋग् २।३३।९), बहुशरीरधारणेन विविध रूपः।
(ऋग् ६।४७।१८),

बहुरूपयुक्तं सुन्दराकृतिम् (ऋग् ५।८।२)। ऋग् २।३३।१० में रुद्र को 'विश्वरूपम्' कहा गया है।

इन उपर्युक्त अर्थों से यह स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि महर्षि दयानन्द की दृष्टि में यह उग्र स्वभाव वाला रुद्र अनेक रूपों को धारण करता है अर्थात् मन्युरूप में

प्राणियों में ओतप्रोत वह सांप-बिच्छू आदि अनेक रूपों को धारण कर रहा है। उसके अनेक रूप में विषैले जीव-जन्तु सांप, बिच्छू, कुत्ता आदि हैं, कृमि-कीट हैं। मनुष्य भी उस समय रुद्र के घेरे में समाविष्ट हो जाता है। जब वह काम-क्रोध से वशीभूत हो अपना विवेक खो बैठता है तब भगवान् की मन्युरूप रुद्रशक्ति उसका नेतृत्व करती है। इस आधार पर ये चोर, उचक्के, लुटेरे, डकैत, ठग, आदि रुद्र के गणों में परिगणित किये जा सकते हैं। यह रुद्र 'बभ्रुः' अर्थात् भरण-पोषण करने वाला है। सज्जनों को हिंसा से बचाता है, हिंसक का नाश करता है। हिंसक जीव-जन्तु एक-दूसरे का भक्षण करते हैं। उस रुद्र का प्राणियों को पालन करने का यह भी एक तरीका है। वे अपने कर्मफलानुसार भक्षित किये जाते हैं। सांपों, मत्स्यों तथा कीट, पतंगों, कुत्ते, बिल्ली आदि नाना रूप-रंगों के होते हैं, कई सुवर्णीय आभावाले भी होते हैं। देवपुरुषों के सूक्ष्म शरीरों को वह रुद्र स्थिर व दृढ़ रूप में सक्रिय करता है, वे सूक्ष्मांग हिरण्मय होते हैं। उस रुद्र भगवान् के सम्बन्ध में ऋग् ८।७२।३ में आता है—

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्।

(जने) मनुष्य में (परः अन्तः) परे अन्तःकरण में (ससं) सोते हुए (तं रुद्रं) उस उग्र स्वभाव वाले रुद्र को (मनीषया) बुद्धि द्वारा (इच्छन्ति) जानना चाहते हैं और (जिह्वया गृभ्णन्ति) जिह्वा द्वारा ग्रहण करते हैं अर्थात् उसकी स्तुति करते हैं।

ससं—स्वपनम् [निरु० ५।१।१८]

रोहित रुद्र

अथर्व १३।३ सूक्त '**रोहितादित्यदैवतम्**' वाला है अर्थात् इस सूक्त का देवता आदित्य है जोकि रोहित रूप में है। यह रोहित आदित्य भी रुद्र हो जाता है। उणादिकोष में रोहित की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार की है—

"रुहेरश्च लोवा" उणा० ३।९४

'रोहतिप्रादुर्भवतीति रोहितः मृगमत्स्ययोर्भेदो रोहितं रुधिरं वा।
लोहितः अंगारको रुधिरं रक्तवर्णो वा।'

यहाँ रोहित के दो अर्थ लिये जा सकते हैं। एक यह कि रोहण करनेवाला, सकल भुवनों तथा प्राणि-जगत् को पैदा करनेवाला यह आदित्य। दूसरा भाव रोहित का रक्त-वर्ण से है। रक्त-वर्ण अर्थात् लाल होना क्रोध का प्रतीक है। यह क्रोध का भाव भी यहाँ अपेक्षित है। इसकी पुष्टि इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्तिम चरण से हो जाती है। वहाँ आता है **"तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति०"** अर्थात् उस आदित्य की विभिन्न सृष्टियों के रहस्यों व उस सृष्टि के रोहण को जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मण की जो हिंसा करता है, कष्ट पहुँचाता है, उसका यह अपराध उस क्रुद्ध देव के प्रति है ऐसा समझना चाहिये।

समग्र देवता इसी रोहितादित्य में समाविष्ट हैं अथवा यह कह सकते हैं कि सभी देवता इसी रोहितादित्य की विभूतियाँ हैं। कहा भी है—

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। अथर्व १३।४।४

अर्थात् वही रोहितादित्य अर्यमा है, वही वरुण है, वही रुद्र व महादेव है। **"एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति"** वे सब देव इस रोहितादित्य में एकवृत होकर रहते हैं। इस प्रकार यह आदित्य सर्वदेव रूप है। महर्षि दयानन्द तो आदित्य में पूर्ण ब्रह्म की सत्ता मानते हैं। इस आदित्य का क्रोध ही रुद्र है। वह परम पुरुष नारायण भगवान् सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष तथा सहस्रपात् है तो रुद्र को भी यह कहा गया है **"स एव शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधि०"** श०प० ६।१।१।६। अर्थात् यह आदित्य ही एक समय विष्णु है तो दूसरे समय वह रुद्र है।

इन विष्णु और रुद्र में भेद सत्त्व, रज, और तम का ही है। एक ही परमपुरुष जब सत्त्वगुण को सक्रिय करता है तब वह विष्णु कहाता है और जब वह रज और तम को चालू करता है तब वह रुद्र नाम से सम्बोधित होता है। वे ही परम पुरुष शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति नाम से कहे गये हैं और आदित्य भी ये ही हैं। इनके सम्बन्ध में आगे कहा—

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः।
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाकेवषट्कारोऽनुसंहितः॥

रोहित ही मृत्यु है अर्थात् सबका मारक है। वही अमृतरूप है, वही सर्वत्र अभिव्याप्त तथा सबका रक्षक है। वह ही रुद्ररूप है। वसुदाता भी वही है। वसु के देने में तथा अभिवादन में वषट्कार=उत्तम क्रिया, व दिव्य पात्रता विद्यमान होती है।

वषट्कार—क्रियाकौशलम् [स्वामी दयानन्द]

देवपात्रं वा एष यद् वषट्कारः श. प. १।७।२।१३, गो. उ. ३।१, ऐ. ३।५।

यह रुद्र **यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत०** द्यावा पृथिवी के मध्य में स्थित हो चहुँ ओर क्रुद्ध दृष्टि से देखा करता है और जो पापी व दुष्कर्मा होते हैं उन्हें दण्ड देता है।

त्रिगुणात्मक भगवान्

यह समग्र संसार सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुण से निर्मित हुआ है। कोई भी ऐसा दिव्य व अदिव्य, भौतिक व अभौतिक निर्माण नहीं है जहाँ ये त्रिगुण न हों। कहीं सत्त्व अधिक मात्रा में है तो रज और तम न्यून हैं, कहीं रज और तम की मात्रा अधिक है तो सत्त्व अति न्यून है, पर यह निश्चित है कि ये तीनों गुण सर्वत्र होते हैं। सत्त्व में प्रकाश है, ज्ञान है, स्थिरता है, समता है, दिव्य सुख है। रज में क्रिया है, गतिशीलता है, इच्छा, कामना व वासना आदि की सत्ता है।

तम अन्धकाररूप है, अचेतनता व जड़ता की शक्ति है, ज्ञान का आवरण है। इस सृष्टि में त्रिगुण की कार्यप्रणाली का स्वरूप यह है कि रजोगुण सदा सत्त्व और तम का वाहन बनता है। जब रज सत्त्व का वाहन बनता है अर्थात् सत्त्व प्रमुख होता है और रज तथा तम न्यून होते हैं तो संसार में सत्य युग होता है। प्रकाश, ज्ञान, दिव्यता, दिव्य गति व दिव्य आनन्द का चहुं ओर प्रसार होता है। और जब रजोगुण प्रमुख होता है, सत्त्व तथा तम न्यून होते हैं तब संघर्ष, विजय, उत्कट क्रियाशीलता, वासना आदि का प्राबल्य होता है और जब तमोगुण तथा रजोगुण मिले होते हैं, सत्त्व न के बराबर होता है तब सृष्टि में सर्वत्र वंचक, परिवंचक, चोर, डकैत, ठग, लुटेरे, असुर, राक्षस, आदि का जाल बिछा होता है। सर्वत्र अज्ञान का साम्राज्य रहता है। अहंकार, उग्रता, क्रोध, संहार व प्रलय चहुँ ओर दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार त्रिगुण की ये विचित्र सृष्टियाँ सर्वत्र फैली होती हैं। परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति और उसका चहुँ ओर प्रसार उस अजन्मा भगवान् के इन तीन गुणों के साथ सम्पर्क से ही होता है। विना भगवान् के संस्पर्श के एक भी अणु-परमाणु तक हिल नहीं सकता। यह त्रिगुणात्मक सृष्टि भगवान् का पुर व नगरी बनती है जिसमें वह वास करता है। इसी कारण वह पुरुष कहलाता है। कार्य की दृष्टि से उस भगवान् के शास्त्रकारों ने अनेक नाम दिये हैं। कादम्बरी के रचयिता महाकवि बाणभट्ट ने त्रिगुण के साथ भगवान् के इस संस्पर्श को निम्न रूप में प्रदर्शित किया है—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

भगवान् जब सृष्टि की रचना करते हैं तब वे प्रमुख रूप से रजोगुण का संस्पर्श करते हैं, तब उन्हें ब्रह्मा कहा जाता है। जब सत्त्व को अपनाते हैं तब उन्हें विष्णु नाम से सम्बोधित किया जाता है और जब वे प्रमुख रूप से तम का स्पर्श करते हैं तब ये रुद्र कहलाते हैं। प्रलयावस्था में ही तम होता है। वह स्वयं अजन्मा है, वह सर्जन, स्थिति तथा नाश का हेतु है, त्रयी रूप तथा त्रिगुणात्मक भगवान् को मेरा नमस्कार है। वेद में कहा है—**तम आसीत् तमसा गूढं०** ऋग् १०।१२९।३ अर्थात्—प्रलयावस्था में सर्वत्र तम ही तम था और जो कुछ था वह सब तम से आच्छादित था। ऋग् १०।८९।१५ में कहा—**अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्** अर्थात् अमित्र लोग अन्धकार वाले तम से सम्पर्क करें, तम उन्हें व्याप्त कर ले।

अधमं गमयातमो यो अस्माँ अभिदासति। अथर्व १।२१।२

जो हमारा विनाश करता है ऐसे उस तम को नीचा कर दो अथवा उस द्वेषी व्यक्ति को नीचे तम में फेंक दो—

मा तमो विदन्। अथर्व ८।१।१६

हम तम को न प्राप्त हों।

निम्न मन्त्र में रज और तम दोनों का परिगणन हुआ है—

यथा— **रजस्तमो मोप गा** अथर्व ८।२।१

अर्थात् रज और तम हमारे समीप न आवें। इस प्रकार वेदों में भी रज और तम का वर्णन आया है। सत्त्वबहुल वाले देवपुरुष रजस् तथा तमस् गुणों वाले प्राणियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होते हैं क्योंकि उनमें प्रकाश है, ज्ञान है, वे प्रकाशित बुद्धि द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन कर कार्य करते हैं। ज्ञान तथा विवेक इनके पथप्रदर्शक होते हैं, अतः ये रुद्रदेव के अधीन नहीं होते। इनका परिगणन रुद्रों में नहीं होता। पर जब ये देव भी काम व क्रोध के अधीन हो कोई कार्य कर बैठते हैं तब उतने समय के लिए रुद्रों में सम्मिलित हो जाते हैं। रजस्तमोमय व्यक्तियों में ज्ञान व विवेक नहीं होता। रजस्तमस् गुणों के उफान होने पर ये विवेक खो बैठते हैं, इनकी बुद्धि कार्य नहीं करती। रजस्तमस् गुणों से संचालित होने के कारण ये रुद्र के गणों में आते हैं। भिन्न-भिन्न शरीरों की दृष्टि से तो अनेकों रुद्र हैं पर उनमें अभिव्याप्त रौद्र शक्ति उसी एक अद्वितीय रुद्र भगवान् की है। वस्तुतः शरीर तो खोल है, आवरण है, शक्ति ही कार्य करती है। अतः रौद्र अवस्था में सब प्राणी रुद्र ही हैं। रुद्र तथा अन्य प्राणियों के परस्पर सम्बन्ध को वेदों व शास्त्रों में कई प्रकार से दर्शाया है। यथा—पिता-पुत्र-सम्बन्ध, व्याप्य-व्यापक-भाव, अद्वैत-वाद (एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे), अंशांशिभाव इत्यादि। श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी ने 'रुद्रदेवता का परिचय' ग्रन्थ में इन सब बातों पर विचार किया है। उनसे हम कहीं सहमत हैं और कहीं असहमत हैं, यह यथावसर आगे दिखाया जायेगा।

पिता-पुत्र-सम्बन्ध

वह परमपिता परमात्मा जीवों को अपने कर्मानुसार फलरूप में दुःख, कष्ट व विपत्ति आदि दिया करता है। उस समय वह रुद्ररूप को धारण करता है। परन्तु वह प्राणियों का पिता भी है। सकलजगत् के प्राणी उसके पुत्र हैं, उनका भरण-पोषण भी वह करता है। इस तथ्य को निम्न मन्त्र में स्पष्ट किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

रुद्रस्य ये मीढुषः सन्ति पुत्रा याँश्चो नु दाधृविर्भरध्यै।
विदे हि माता महो मही षा सेत् पृश्निः सुभ्वे गर्भमाधात्॥

ऋग् ६।६६।३

(मीढुषः रुद्रस्य) सुख की वर्षा करनेवाले भगवान् रुद्र के (ये पुत्राः) जो अनेकों रुद्र पुत्र हैं (यान् च उ नु) जिनको निश्चय से (भरध्यै) भरण-पोषण के लिये (दाधृविः) वह धारण करता है। (महः) इस महान् रुद्र को (सा मही माता विदे) वह महान् प्रकृतिरूपी माता प्राप्त करती है अर्थात् उसके पास पहुँचती है। किस-

लिए (सुम्वे) श्रेष्ठ पुत्रों की उत्पत्ति के लिए (सा पृश्निः) रंगविरंगी अदिति माता ने (इत्) निश्चय से (गर्भं आधात्) गर्भ धारण किया।

उपर्युक्त मन्त्र में रुद्रपुत्रों की उत्पत्ति को दर्शाया गया है। यहाँ उनके धारण-पोषण करनेवाले (दाधृविः) रुद्र का वर्णन आता है। रुद्र तो संहार का देवता है, प्रश्न पैदा होता है कि वह कैसे धारण करता है? इसका उत्तर यह है कि वह मनुष्यों की हिंसा करनेवाले प्राणियों, व्याधियों आदि को नष्ट करके उनका धारण-पोषण करता है। हिंसक-जीव एक-दूसरे का भक्षण करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, यह भी उस रुद्र का धारण-पोषण का तरीका है। यह कर्मफल का भी एक रूप है। कर्मफल देकर वह न्यायकारी होता है। मनुष्यों में से रज और तम का शमन करने में भी मनुष्य को कष्ट ही होता है, उसे रुद्र का कोप मानकर मनुष्य उसे घोर कहते हैं पर वस्तुतः वह भिषक् बनकर हमारा कल्याण ही कर रहा होता है। अतः भिषक् होने से वह शिव है। ऋग् ५।६०।५ में आता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

(अज्येष्ठासः) जिनमें कोई ज्येष्ठ अर्थात् बड़ा नहीं है और (अकनिष्ठासः) जिनमें कोई छोटा नहीं है, ऐसे (एते) ये सब (भ्रातरः) भाई हैं। ये सब (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिए (संवावृधुः) मिलकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इन सबका (युवा पिता) मिश्रणामिश्रण प्रधान पालक युवा पिता (रुद्रः) रुद्र (स्वपा) उत्तम कर्म करनेवाला है। (एषां) इनकी माता (पृश्निः) रंगविरंगी (मरुद्भ्यः) मरुतों के लिए (सुदिना) उत्तम दिनों तक (सुदुघा) उत्तम प्रकार का दूध देनेवाली है।

उपर्युक्त मन्त्र में यह दर्शाया है कि इन मरुतों=रुद्रपुत्रों में कोई भी बड़ा नहीं है और न कोई छोटा है। इसलिये ये सब एकसमान हैं और भाई हैं। इस मन्त्र में श्री पं० सातवलेकर जी ने जो यह परिणाम निकाला है कि "सब जीवों की समानता इस मन्त्र ने बताई है" इससे हम सहमत नहीं हैं। इस मन्त्र में मरुतों की समानता बतायी है, न कि जीवों की।

मरुत् इन्द्र-सम्बन्धी (दिव्य मन=Divine mind) सूक्ष्मतम प्राणशक्तियाँ हैं जिनका स्थान अन्तरिक्ष अर्थात् हृदयप्रदेश है। ये सूक्ष्मतम प्राणशक्तियाँ दिव्य-कोटि की होती हैं। इन शक्तियों में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता और न ही इनकी मृत्यु होती है, पर इन शक्तियों को धारण करनेवाले मनुष्यों में छोटे-बड़े का भाव हो सकता है और इनकी मृत्यु भी होती है। अतः इन्हें मर्त्याः, मर्याः आदि से सम्बोधित किया गया है। इन मारुत शक्तियों को एक सर्वोत्कृष्ट स्तर पर धारण करनेवाले मरुत् नाम से सम्बोधित मनुष्य विशिष्ट कोटि के होते हैं। सम्भव है इनमें छोटे-बड़े का भाव न हो। इनके अतिरिक्त दूसरे सभी प्राणी मर्त्य हैं मर्य हैं, मरणधर्मा सामान्य मनुष्य हैं।

इन मरुत् नामक दिव्य प्राणशक्तियों के लिए भी मर्त्य व मर्य शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से हो सकता है जबकि ये किसी मनुष्य के अन्दर से निकल जायें या आसुरी शक्ति इनको मार भगावे। इन मरुतों के स्वरूप आदि पर हम स्वतन्त्र रूप में पृथक् ही विचार करेंगे। परन्तु यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रुद्र भगवान् तथा मरुत् आदि प्राणियों में परस्पर पिता-पुत्र का भाव त्रिगुण की दृष्टि से है। भगवान् अज है तो जीवात्मा भी अज है, दोनों अजन्मा हैं; जन्म तो त्रिगुण का होता है।

अंशांशिभाव

रुद्र भगवान् तथा अन्य प्राणियों में अंशांशिभाव भी त्रिगुण की दृष्टि से है। भगवान् के त्रैगुण्य का अंश ही जीवात्मा ने अपने अन्दर संग्रह कर रखा है। पुरुष शब्द का वास्तविक प्रयोग भगवान् के लिए ही उपयुक्त है। यह सृष्टि भगवान् का पुर है। आथर्वणी श्रुति स्पष्ट रूप से बता रही है—

ऊर्ध्वो नु सृष्टास्तिर्यङ् नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ अथर्व १०।२।२८

ब्रह्म ने ऊर्ध्व में सर्जन किया, तिर्यक् सृष्टि की। सृष्टि करने के पश्चात् वह सब दिशाओं में अभिव्याप्त हो गया। यह सृष्टि ही उसका पुर है। उसमें अभि-व्याप्त होने के कारण वह पुरुष कहलाता है। उसी भगवान् के शरीररूपी पुर में से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर हम जीवात्माओं का पुर बना जिससे हम भी पुरुष कहलाये। पर हमारे लिए पुरुष शब्द का प्रयोग गौण है, असली पुरुष तो वह भगवान् ही है। क्योंकि उसके पुर से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर हमारा पुर बना है इसलिये वह भगवान् अंशी है और हम उसके अंश हैं। श्री पं० सातवलेकर जी एक रुद्र और अनन्त रुद्रों में व्याप्य-व्यापक-भाव व उपास्य-उपासक-भाव मानते हैं, अंश और अंशीभाव नहीं। वे लिखते हैं एक रुद्र की शक्ति ही अनन्त रुद्रों में कार्य कर रही है ऐसा यदि किसी ने मान लिया तो क्या आपत्ति आ जायेगी इसका अब विचार करेंगे। उक्त प्रकार का अंशांशिभाव का अद्वैत मानने पर निम्न आपत्तियाँ आती हैं—

(तस्कर) चोर (स्तायु) डाकू (मुष्णत्) लुटेरे (वंचक) ठगने वाले (प्रतरण) धोखेबाज आदि सब दुष्ट मनुष्य भी सर्वव्यापक परमात्मा के ही अंश हैं ऐसा मानना पड़ेगा तथा उक्त दुर्गुण ईश-शक्ति के भाव हैं ऐसा मानना पड़ेगा।"

पं० सातवलेकर जी के उक्त विवेचन से हम पूर्णरूप में असहमत हैं "अंशांशी भाव के सम्बन्ध में हम पूर्व में निवेदन कर चुके हैं, केवल इस प्रश्न का समाधान करना शेष है कि क्या तस्करादि दुष्ट-पुरुषों की शक्ति ईश-शक्ति हो सकती है"? हमारे विचार में इस आपत्ति का समाधान निम्न प्रकार हो सकता है, वह यह कि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु अपनी प्रकृति से केवल मात्र सम्पर्क करता है। सर्जनोन्मुखी

शक्ति से प्रकृति को संचालित करता है। आगे प्रकृति ही सब-कुछ करती है। **"स्वभावस्तु प्रवर्तते"** वाली उक्ति यहाँ घटती है। गीता का यह श्लोक भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।   गीता ३।२७

जिस प्रकार अहंकार से विमूढ़ आत्मा प्रकृति द्वारा कृत कर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है और कर्मों को अपने द्वारा किया गया समझता है। यदि जीवात्मा इन कर्मों को अपने ऊपर आरोपित न करे तो उस पर उन कर्मों का लेप नहीं होगा; क्योंकि उस अवस्था में प्रकृति अपने स्वभाव के अनुसार परिवर्तित हो रही होती है। **'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति धारयन्'** गुण गुणों में वरत रहे हैं, यह मन की धारणा रहती है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय, जिसे ईशोपनिषद् कहा जाता है, के प्रथम दो मन्त्र (**ईशावास्यमिदं—कुर्वन्नेवेह कर्माणि०**) इसी उपर्युक्त रहस्य को दर्शाते हैं। यह सब जगत् भगवान् का है, वही उसका संचालन कर रहा है, यही समझकर यदि कोई व्यक्ति कर्म करता है तो उसे कर्मों का कर्ता नहीं माना जायेगा और कर्मों का उस पर लेप नहीं होगा तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि कर्म कौन करता है? उत्तर है—प्रकृति करती है। जिस प्रकार शरीर में निरन्तर रक्तानुधावन (Blood circulation) श्वास-प्रश्वास आदि कर्म प्रकृति के कर्म हैं ये जीवात्मा के अधीन नहीं हैं, उसी प्रकार कर्मों के अनारोपित अवस्था में वे कर्म भी इसी कोटि में आ जाते हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक सतोगुणी होगा और अहंकार के वशीभूत न होकर कर्म करेगा, वह उतना ही अधिक प्रकृति के पाश से स्वतन्त्र होगा। इसके विपरीत रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्ति प्रकृति के पाश में बद्ध हो कर्म करते हैं; वे कर्म भी उनके किये हुए न होकर प्रकृति के होंगे।

रजोगुणी व तमोगुणी व्यक्ति प्रकृति के पाश में बद्ध पशुतुल्य होता है। मानव-चोला धारण किये हुए भी वह भोग-योनि में है। उसके किये कर्म उसके नहीं होते; वे सब कर्म प्रकृति के होते हैं, दूसरे शब्दों में भगवान् द्वारा संचालित प्रकृति के गुण-धर्म हैं। चोर, लुटेरे तथा डाकू आदियों के कर्म इसी कोटि में आते हैं। इसी दृष्टि से निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

रुद्रेषु रुद्रियं रुद्रं हवामहे।   ऋग् १०।६४।८

अर्थात् चोर, लुटेरे आदि रुद्रों में रौद्र भाव=(रुद्रियं) ही रुद्र है, उसका हम आह्वान करते हैं। श्री पं० सातवलेकर जी ने "रुद्रियं" पद का 'प्रशंसा करने योग्य' यह जो अर्थ किया है वह ठीक नहीं है। वह इसलिये भी ठीक नहीं है कि रुद्रों (रुद्रेषु) में वह रुद्र रहता है। रुद्रों का परिगणन यजुर्वेद के १६वें अध्याय में किया गया है जिसमें चोर, लुटेरे, वंचक आदि अनेकों भयंकर रुद्र परगणित हुए हैं। प्रश्न पैदा होता है कि स्तेन, वंचक आदि में वर्तमान रुद्र का आह्वान क्यों किया?

वह इसलिये कि यह रुद्र हमारी हिंसा न करे। उन्हें नियन्त्रण में रक्खे, यही भाव प्राय: रुद्र-सम्बन्धी सभी मन्त्रों में ग्राता है।

ग्रंशांशिभाव में हमें यह बात ग्रच्छी प्रकार से समझ लेनी चाहिये कि ग्रंश से तात्पर्य परमात्मा के शरीररूपी प्रकृति के ग्रंश से है न कि चेतनरूप परमात्मा के ग्रंश से। ग्रौर प्रकृति सत्त्वरजस्तमोमयी है ग्रौर उस सर्वव्यापक चेतन तत्त्व के ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र ग्रादि नाम व विभाजन प्रकृति के ग्राधार पर कल्पित हुए हैं। इसलिए तस्कर (चोर) स्तायु (डाकू) ग्रादि दुष्ट मनुष्य भी सर्वव्यापक परमात्मा के रजस्तमोवहुल प्रकृत्यंश से समुद्भूत हैं। दुष्टों को दमन करने का तात्पर्य उसके रजस्तम गुणों को हटाकर सतोगुण को वढ़ाना ही प्रयोजन होता है। रजस्तम:-सम्पृक्त भागवत शक्ति सब रुद्रों में ग्रोतप्रोत है, ग्रत: इस दृष्टि से सब रुद्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही हैं। वह एकत्व रुद्र का है। ग्रत: वह रुद्र इन दुष्टों का भी पिता है ग्रौर स्वामी भी है। **"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक ग्रासीत्"** सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ रूप में समुद्भूत वह भगवान् भूतमात्र का स्वामी हुग्रा—

देवाश्च वा ग्रसुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्रा ग्रासन्। तां० १८।१।१२

ग्रर्थात् उस प्रजापति के देवता ग्रौर ग्रसुर दोनों पुत्र थे। ग्रत: वह प्रजापति देव ग्रौर ग्रसुर दोनों का पिता भी है ग्रौर स्वामी भी है। श० प० ११।१।८।८ में ग्राता है कि प्रजापति ने ग्रपने ग्रवाङ् प्राण द्वारा ग्रसुरों को उत्पन्न किया। वह समय तमरूप (ग्रन्धकार) ही था (तम इवास) ग्रत: इससे यह स्पष्ट है कि संसार में बुरी-से-बुरी तथा ग्रच्छी-से-ग्रच्छी वस्तुग्रों, व प्राणियों ग्रादि का वही प्रजापति पिता है ग्रौर वही पति है।

रुद्र-लीला

रुद्रों पर विचार करते हुए हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि ये ग्रनन्त प्राणी हैं, जीवात्माएँ हैं, पर रुद्रावस्था में इन प्राणियों की ग्रात्मा मृतप्राय होती है या प्रसुप्त होती है। देह में विद्यमान होने से इतना है कि शारीरिक शक्तियाँ जोकि भागवत शक्तियाँ हैं, वे सक्रिय रहती हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर हमें यजुर्वेद के रुद्राध्याय के महीधर व सायणाचार्य के भाष्यों में रुद्र भगवान् को चोर ग्रादि रूप में दर्शा देने मात्र से कोई विशेष ग्रापत्ति नहीं है। यथा—

"रुद्रो लीलया चौरादिरूपं धत्ते यद्वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वाच्चौरादयो रुद्रा एव ज्ञेयाः। यद्वा स्तेनादिशरीरे जीवेश्वररूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति तत्र जीवरूपं स्तेनादि पदवाच्यं तदीश्वररुद्ररूपं लक्षयति यथा शाखाग्रं चन्द्रस्य लक्षकम्। किं बहुना लक्ष्यार्थविवक्षया मन्त्रेषु लौकिकाः शब्दाः प्रयुक्ताः। [महीधरभाष्य] यजु० १६।२०

रुद्र भगवान् लीला से चोर का रूप धारण करता है अथवा यह रुद्र जगदात्मा होने से चोरादि सब रुद्र ही हैं ऐसा जान लेना चाहिये। अथवा चोरादिकों के शरीर में जीव और ईश्वर रूप से रुद्र दो प्रकार से रहता है। वहाँ चोर आदि जीवरूप स्तेन-पद-वाच्य हैं, वे ईश्वररूप रुद्र के बोधक हैं, जिस प्रकार शाखा के अग्रभाग से चन्द्रमा का ज्ञान कराया जाता है। बहुत क्या, ईश्वर का ज्ञान कराने के निमित्त मन्त्रों में बहुत-से लौकिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

महीधर-भाष्य के उपर्युक्त उद्धरण में 'रुद्रो लीलया चौरादि रूपं धत्ते' ऐसा न कहकर यदि ऐसा हो जाता कि चोरादि दुष्ट प्राणी रुद्र भगवान् की रजोगुणी व तमोगुणी प्रकृति का आश्रय लेते हैं तो यह अधिक उपयुक्त होता। श्रीमद्-भगवद्गीता के १०वें अध्याय में विभूति योग का वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि—**"द्यूतं छलयतामस्मि०"** अर्थात् छल करनेवालों का द्यूत मैं हूँ अर्थात् जुआ हूँ यह वचन भी यजुर्वेद के रुद्राध्याय के तुल्य है। क्योंकि रुद्राध्याय मन्युप्रधान है राजस्तमोबहुल स्थिति का वर्णन करता है। **"अक्षैर्मा दिव्यः कृषि-मित्कृषस्व"** आदर्श स्थिति के सूचक हैं। वहाँ आगे यह भी कहा है कि—

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ गीता १०।४१

जो-जो विभूति (विशिष्टतायुक्त) श्री तथा ऊर्ज से युक्त सत्त्व होगा वह सब मेरे ही तेजरूपी अंश से उत्पन्न हुआ है ऐसा जानो।

इस प्रकार यहाँ भी भगवान् के अंशरूप में सब पदार्थ आदियों का वर्णन हुआ है। अतः अंशांशिभाव का परित्याग कैसे किया जा सकता है? अब तक के कथन का तात्पर्य यही है कि अंशांशिभाव अर्थात् अद्वैतवाद प्रकृति की दृष्टि से है आत्म-तत्त्व की दृष्टि से नहीं। चौर्य, हिंसा, दुष्टता आदि सब बुराइयाँ त्रिगुण के रजस्तमस् से सम्बन्ध रखती हैं।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ऋषि इन अनन्त रुद्रों को एक रुद्र भगवान् के ही अंश मानते प्रतीत होते हैं। श० प० ९।१।१।६ में आता है कि प्रजापति का मन्यु ही रुद्र है। प्रजापति के मन्यु को रुद्र नाम से रूपायित (Personify) किया गया है। उस मन्युरूप रुद्र के रोने से जो आँसू गिरे वे ही सब रुद्र कहलाये। वे सब रुद्र क्योंकि मन्यु के अंश हैं इसलिये वे रुद्र से पृथक् नहीं हैं। वहाँ यह भी कहा कि **"यान्यश्रूणि प्रास्कन्दँस्तान्यस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन्"** जितने आँसू इधर-उधर बिखरे वे सब मन्युरूप रुद्र में ही प्रतिष्ठित रहे। उस रुद्र से वे बाहिर नहीं अर्थात् वे रुद्ररूप ही हैं। इसी कारण उस रुद्र को **"शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधिः"** सैकड़ों सिरों वाला, सहस्रों आँखों वाला, सैकड़ों धनुषबाण व तूणीर वाला कहा है।

प्रजापति सर्वव्यापक है **(प्रजापतेर्नत्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव)**

उसका मन्यु भी उसी प्रकार सर्वत्र विद्यमान है। इसी को शतपथकार निम्न शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—**"सोऽन्तर्विततोऽतिष्ठत्"** वह मन्यु उस प्रजापति के अन्दर वितत=सर्वत्र फैला हुआ था अतः मन्यु भी प्रजापति की तरह सर्वव्यापक है। परन्तु सर्वत्र व्यापक होते हुए भी यह मन्यु वहीं दृष्टिगोचर होता है जहाँ यह भड़क उठता व प्रदीप्त होता है। कहा भी है—**"स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः"** अर्थात् यह मन्युरूप रुद्र जहाँ प्रदीप्त होता है अर्थात् भड़क उठता है वहाँ वह अन्न की इच्छा करता है। जितने भी निकृष्ट प्राणी कुत्ते, बिल्ली, साँप, बिच्छू, व्याघ्र, सिंह आदि हैं उनमें यह मन्यु प्रज्वलित रहता है, ये अन्न की इच्छा से इधर-उधर डोलते रहते हैं। ये सब प्राणी मन्यु की दृष्टि से एक रुद्र ही हैं इसी दृष्टि से शतपथकार **"अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनं शमयामेति"** रुद्र को अन्न देकर इसको शान्त करो। यहाँ **"अस्मै, एनं"** आदि एकवचन का प्रयोग किया है। अन्न प्रदान कर इसे शान्त किया जाता है अतः शतरुद्रिय को शान्त-रुद्रिय भी कहते हैं अर्थात् अन्न देकर रुद्र को शान्त किया। जिस प्रकार साँप, बिच्छू, कुत्ते, व्याघ्र, सिंह आदि अन्न की इच्छा से इधर-उधर मँडराते हैं, उसी प्रकार स्तेन (चोर) तस्कर=डाकू आदि भी अन्न की इच्छा से लूटपाट करते हैं। अतः ये ही रुद्र के रूप हैं। (श्रीमद्भगवद्गीता) **"द्यूतं छलयतामस्मि"** अर्थात् मैं छल करनेवालों का द्यूत हूँ। जिस प्रकार ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओं का भूमण्डल से पूर्णरूप से उच्छेद नहीं होता, कहीं न कहीं ये रहती हैं, पर जब शीत आदि ऋतुओं का आगमन होता है, शीत ऋतु की लहर चलती है तो वह सबको घट-बढ़ रूप में प्रभावित करती है, उसी प्रकार भगवान् का मन्युरूप सदा रहता ही है; पर जब वह प्रजाओं का संहार करना चाहता है तब वह रजस्तमस् गुणों का विशेष रूप में स्पर्श करता है तो प्रजाओं में महामारी, व्याधि, चोर, डाकू आदि हिंसक प्राणियों की भरमार हो जाती है। समग्र प्राणियों के शरीर भिन्न-भिन्न होते हुए भी मन्यु की दृष्टि से सब एक हैं। अतः जिन भाष्यकारों ने स्तेन, स्तायु, वंचक आदि को रुद्र का रूप माना है उन्होंने 'मन्यु' की दृष्टि से माना है।

परमात्मा तथा जीवात्मा अपने शुद्ध रूप में वर्णनातीत है

परब्रह्म परमात्मा निराकार निर्विकार निष्कल आदि है। वह वर्णन का विषय ही नहीं है पर जब वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सम्पर्क करता है, सगुण रूप होता है तब वह वर्णन के क्षेत्र में आता है। उस परब्रह्म की अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि विभिन्न शक्तियाँ जो वेदों में वर्णित हैं वे सब प्रकृति से सम्पर्क करने के कारण ही हैं। इस ब्रह्माण्ड के जितने भी नाम और रूप हैं सब प्रकृति के हैं अतः हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वेदादि सब शास्त्र एक प्रकार से त्रिगुणात्मिका प्रकृति का वर्णन करते हैं। इसी दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता में

भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं **"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"** हे अर्जुन ! वेद त्रैगुण्यविषयक हैं, तू इस त्रैगुण्य से ऊपर उठ। यही तथ्य— **"द्वेविद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च"** में उजागर हुआ है। वहाँ वेदों को अपरा विद्या में दर्शाया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि परमात्मा का कोई नाम और रूप नहीं है। भगवान् के सब नाम-रूप प्रकृति के हैं। इसी भाँति जीवात्मा का भी अपना कोई नाम-रूप नहीं है। वेदों में परमात्मा के शरीर की कल्पना की गई है। यथा—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। अथर्व १०।७।३२,३३,३४

अर्थात् उस ज्येष्ठ ब्रह्म की भूमि पादस्थानीय है, अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक मूर्धा है, सूर्य तथा चन्द्रमा चक्षु हैं, अग्नि मुखस्थानी है। वायु प्राणापान, चक्षु अंगों को रस प्रदान करनेवाले अंगिरा हैं, दिशाएँ श्रोत्रस्थानी होकर प्रकृष्ट ज्ञान के साधन हैं।

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा के शरीर की कल्पना की गई है। इस ज्येष्ठ ब्रह्म के पुर=शरीर में से एक-एक अंश लेकर मानव पुरुष का शरीर बना। इस सम्बन्ध में अथर्व ११।८ सूक्त द्रष्टव्य है। सब देवता जो परब्रह्म परम पुरुष की शक्तियाँ हैं, वे सब अंशरूप में इस मानव-शरीर में विराजमान हैं तो समस्त प्राणी उस भगवान् अंशी के अंश तो हो गये।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते। अथर्व ११।८।३२

मानव तथा अन्य प्राणियों के शरीर पर यदि दृष्टिपात करें तो इस शरीर में जो भी क्रियाकलाप चल रहा है वह सब प्रायः मनुष्य के अपने अधीन नहीं है। उदाहरणरूप में श्वास-प्रश्वास, अन्नपचन, रक्तानुधावन आदि जीवनीय तत्त्वों के क्रियाकलाप जीवात्मा के अधीन नहीं हैं, उस परमपिता परमात्मा के नियमानुसार चल रहा है। मन तथा इन्द्रियों की गतिविधि भी एक प्रकार से मनुष्य के अधीन नहीं है। जो गुण जिसमें प्रमुख होता है तदनुसार इनका कार्य होता है। फिर प्रश्न पैदा होता है कि मनुष्य के अधीन क्या रहा? इसका एक शब्द में उत्तर है—इच्छा व कामना करना, वह भी त्रिगुण की सीमा में रहते हुए ही। भगवान् ने त्रिगुणात्मक प्रकृति से सामग्री लेकर ये शरीररूपी कोठरियाँ बना दी हैं। इनकी सहस्रों श्रेणियाँ हैं पर मुख्य रूप से वे सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन कोटि की हैं, जिनके घट-बढ़-मेल से अनन्त श्रेणियाँ हो गई हैं। जीवात्मा इन कोठरियों को चुनता है। इनमें सात्त्विक जीव अधिक स्वतन्त्र हैं, पर अत्यधिक रजोगुणी व तमोगुणी जीव स्वतन्त्र नहीं होते, अपने गुणों से संचालित होते हैं जो

गुण परम पुरुष द्वारा सक्रिय हैं। एक प्रकार से भगवान् ही त्रिगुण के माध्यम से संचालन कर रहा है, या **"स्वभावस्तु प्रवर्तते"** वाली उक्ति द्वारा कहा जा सकता है। अब प्रश्न पैदा होता है कि यदि चोर, ठग आदि भगवान् के अंश हैं तो इन्हें दण्ड क्यों दिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि भगवान् इनके माध्यम से अन्य मनुष्यों के कर्मों का फल देता है और इनको दण्ड दिलाकर इनके कर्मों का भी फल इन्हें मिलता है दूसरे, ये रजोगुण व तमोगुण का परित्याग कर सत्त्व की ओर अभिमुख हों इसलिये इन्हें दण्ड देना उचित है।

सृष्टि की महान् से महान् व सूक्ष्म से सूक्ष्म निर्मिति में ये तीनों गुण सम्पृक्त हुए सदा कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति व संहार प्रतिक्षण हो रहा है। इसलिये सब वस्तुओं में भगवान् के ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र ये तीनों रूप सदा विद्यमान होते हैं, परन्तु काल व परिस्थिति आदि की दृष्टि से किसी एक गुण व भगवान् के एकरूप की प्रमुखता होती है। प्राणी-अप्राणी, चेतन व अचेतन, प्रत्येक वस्तु को हम भगवान् के इन तीन रूपों में से किसी एक रूप के अधीन कर सकते हैं। कोई ब्रह्मा के पुत्र हैं, तो कोई वैष्णवजन हैं, तो कोई रुद्र के गण हैं। इस दृष्टि से यदि मानव-समाज का विश्लेषण किया जाये तो हम यह पाते हैं कि व्यक्ति की तरह कोई समाज व जाति-निर्माण में रुचि रखती हैं तो कोई वैष्णव यज्ञ की स्थिरता व स्थिति-स्थापकता के गुण वाली हैं तो कोई विनाश व संहार में रुचि रखती हैं। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण समाविष्ट होते हुए भी प्रमुख रूप से वह किसी एक वर्ण में माना जाता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। शरीर की आयु की दृष्टि से भी प्रत्येक व्यक्ति क्रमशः भगवान् की इन त्रिमूर्ति में से प्रत्येक के अधीन उसे आना पड़ता है। इस समय यह सम्पूर्ण भूमण्डल विनाश व संहार की देहली पर खड़ा है। प्रजा में चहुँ ओर विक्षोभ, विप्लव, व संहार के भीषणतम दृश्य दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। इस कारण हम यह कह सकते हैं कि आज का यह भूमण्डल भगवान् रुद्र के शासन में आया हुआ है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् रुद्र से प्रार्थना, उपासना, उसके प्रति नमन व उसका प्रीणन विशेष रूप से करना चाहिये। यजुर्वेद के रुद्राध्याय तथा अन्य वेदों के रुद्र-सूक्तों व मन्त्रों का पठन-पाठन, श्रवण मनन आदि इस घोर कलिकाल में विशेष रूप से होना चाहिये। वेदों में जितना अधिक 'नमः' नमन रुद्र के लिए हुआ है उतना किसी अन्य देवता के लिए नहीं है।

प्रत्यक्ष ब्रह्म

रुद्र-सम्बन्धी अपने मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट व परिपुष्ट करने के लिए वेदों के ब्रह्मसम्बन्धी वर्णन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। ये दो

भाग ब्रह्माण्ड और पिण्ड हैं। इन्हें ही मानव-पुरुष और परम-पुरुष नाम से भी कहा जा सकता है। इन्हीं को समझाने के लिए आचार्यों द्वारा द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत आदि शैलियों का उद्गम व प्रचलन हुआ। मनुष्य चाहे कितना ही महान् बन जाये, ऋषि-महर्षि-कोटि में पहुँचकर भी ब्रह्म-सम्बन्धी सम्पूर्ण विज्ञान को अधिगत कर लेना अति कठिन है। क्योंकि वेदों के ब्रह्म-सम्बन्धी वर्णन दो प्रकार के हैं। एक वर्णन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्म प्रत्यक्ष है; दूसरे वर्णन के आधार पर वह परोक्ष है, सामान्य इन्द्रियों से वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। यथा—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४०।८

वह सर्वत्र अभिव्याप्त है, शुक्र, कायारहित, व्रणरहित, स्नायुशून्य, शुद्ध, पाप-रहित, क्रान्तदर्शी, मनीषी, चहुँ ओर विद्यमान स्वयंसत् वह ब्रह्म शाश्वत काल से याथातथ्य रूप में पदार्थों का निर्माण करता आ रहा है। दूसरा वर्णन है **"तदेवा-ग्निस्तदादित्यः"** (यजु० ३२।१) अर्थात् वह ब्रह्म ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आपस्तत्त्व तथा प्रजापति है। इस आधार पर हम उसे प्रत्यक्ष ब्रह्म कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्म को परोक्ष तथा प्रत्यक्ष दोनों रूपों में माना जा सकता है। ब्रह्म के इन दोनों रूपों को माननेवालों का यह कहना है कि इससे मन्त्रगत वर्णनों का विरोध समाप्त हो जाता है।

उदाहरणार्थ—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ यजु० ४०।५

वह ब्रह्म गति करता है, नहीं भी करता, वह दूर है और वही पास भी है, वह इस सबके अन्दर है और सबके बाहिर भी है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः।
यजु० ३२।४

वह देव सब दिशा-प्रदिशाओं में पहुँचा हुआ है, वह पहले भी पैदा हुआ और भविष्य में भी वही पैदा होगा, प्रत्येक जनन-कार्य में सर्वतोमुख वह विद्यमान होता है।

इसी प्रकार—

"अजायमानो बहुधा वि जायते" यजु० ३१।१९

न पैदा होता हुआ भी वह बहुत प्रकार से पैदा हो रहा है। **रूपं रूपं मघवा बोभवीति"** वह मघवा इन्द्र प्रत्येक रूप को धारण करता है। इसी प्रकार और भी अनेकों मन्त्र दर्शाये जा सकते हैं। ऊपर हमने विरोधी प्रतीत होते हुए मन्त्रों का

स्थूलार्थ प्रदर्शित किया । निराकार सर्वव्यापक परब्रह्म के परिप्रेक्ष्य में इन विरोधाभासों का परिहार करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। परन्तु जो विद्वान् वेदमन्त्रों को मानव-पुरुष तथा परम-पुरुष, प्रत्यक्ष ब्रह्म और परोक्ष ब्रह्म इन दोनों क्षेत्रों में घटाने का प्रयत्न करते हैं उनका यह कहना है कि यह ब्रह्माण्ड उस परम ब्रह्म का पुर है, उसका यह जगत् शरीर है, इस पुर व शरीर में आवास करने के कारण उसे पुरुष कहते हैं। जिस प्रकार जीवात्मा अप्रत्यक्ष है पर शरीर में आने पर देवदत्त व धनञ्जय आदि नामों से व्यवहृत होता है और उसे प्रत्यक्ष करके जानते हैं, इसी प्रकार वह परम ब्रह्म कायारहित, व्रणरहित होता हुआ भी जब ब्रह्माण्डरूपी पुर में वास की दृष्टि से वर्णित करते हैं तो यही अग्नि, इन्द्र, वायु आदि नामों से कहा जाता है। ये अग्नि आदि स्थूल जगत् के घटक उस ब्रह्म के शरीरांग हैं; ये प्रत्यक्ष हैं अतः परम ब्रह्म प्रत्यक्ष है, ऐसा कहा जा सकता है। इस आधार पर **'तदेजति'** यह प्रत्यक्ष ब्रह्म गति कर रहा है क्योंकि जगत् व संसार गति के ही सूचक शब्द हैं और **'तन्नैजति'** वह अकाय, अव्रण, अरूप, निर्विकार, सर्वव्यापक, परोक्ष ब्रह्म गति नहीं करता। इस प्रकार जगत्-रूपी पुर के सहित प्रत्यक्ष ब्रह्म और तद्-रहित रूप में वह निर्विकार सर्वव्यापक प्रभु, दोनों की संगति सुचारु रूप से हो जाती है। इसी प्रकार **"अजायमानो बहुधा विजायते"**—"स एव जातः स जनिष्यमाणः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः" इत्यादि मन्त्रों का विरोधाभास समाप्त हो जाता है। वेदमन्त्रों में पुरुषरूप में प्रत्यक्ष ब्रह्म की दृष्टि से भी उसका वर्णन है, यह मानने पर 'एजति' क्रिया को 'एजयति' णिजन्त में परिवर्तित करना तथा 'स एव जातः' में 'जातः' पद का प्रसिद्ध अर्थ करना प्रत्यक्ष ब्रह्मवादियों की दृष्टि में समीचीन नहीं है। **"जातः जनिष्यमाणः"**—पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः" आदि पदों का सहचार यह दर्शाता है कि 'जातः' पद का उत्पन्न हुआ अर्थ ही ठीक है। यहाँ हम इस विवाद में नहीं जाना चाहते कि कौन-सा अर्थ ठीक है कौन-सा नहीं, पर प्रत्यक्ष ब्रह्मवादियों का मन्तव्य हमने यहाँ प्रदर्शित किया है। इस दृष्टि से मानवपुर तथा ब्रह्मपुर में समानता है; पर कुछ भेद भी है, वह यह कि जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार परमात्मा के नियमाधीन शरीर धारण करने को बाध्य है। प्रारब्ध के अनुसार उसे जैसा शरीर दिया जायेगा वैसा उसे लेना पड़ेगा; वह शरीर में बद्ध है। पर इसके विपरीत परमात्मा का शरीर तो काल्पनिक है। वह शरीर में बद्ध नहीं है। उसकी महिमा का वर्णन करने के ये भिन्न-भिन्न तरीके हैं। मन्त्रों में ब्रह्म के पुर का वर्णन है, पुरुष उसे माना गया है, उसका 'पुर' भी एकपाद में है और त्रिपाद तो वह इस जगत्-रूपी पुर से ऊर्ध्व में है अर्थात् जगत् से बाहिर है। पर हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि त्रिपाद, एकपाद आदि शब्द कल्पना की उड़ान हैं। सीमित मानव-बुद्धि में उसकी महिमा को कैसे बैठावें, इसी के लिए अद्वैत-द्वैत आदि वाद प्रचलित हुए हैं।

शास्त्रकार भी प्रत्यक्ष ब्रह्म मानते हैं

तैत्तिरीयारण्यक १।१।१ के मंगलाचरण में निम्न मन्त्र आता है जो कि इस प्रकार है—**"ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद् वक्तारमवतु, अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ।"** मन्त्र का अर्थ सरल है । यहाँ मन्त्र में वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है । प्रश्न हो सकता है कि अग्नि, इन्द्र आदि को प्रत्यक्ष ब्रह्म क्यों नहीं कहा ? इसका समाधान यह है कि तैत्तिरीयारण्यक यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है । यजुर्वेद का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है । अन्तरिक्ष का अधिष्ठातृदेव वायु है । यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र—**"इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायव स्थ"** में भी वायु को स्मरण किया गया है । इसलिए यजुर्वेद के लिए युवा प्रत्यक्ष ब्रह्म है । इसी प्रकार ऋग्वेदी का अग्नि प्रत्यक्ष ब्रह्म होगा । सामवेदी के लिए अग्निरूप आदित्य प्रत्यक्ष ब्रह्म होगा । इसी दृष्टि से मन्त्र में **'अग्न आयाहि०'** द्युलोकस्थ अग्नि को पार्थिव मनुष्य पृथिवी की ओर आने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं । छान्दोग्योपनिषत् में **"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्"** आदि प्रकरण में अन्न, प्राण आदियों की ब्रह्म संज्ञा प्रत्यक्ष ब्रह्म की कोटि में आती है । कहने को यह कहा जा सकता है कि समग्र वैदिक वाङ्मय प्रत्यक्ष ब्रह्म का ही वर्णन कर रहा है । निराकार ब्रह्म का वर्णन क्या हो सकता है ? प्राकृतिक घटकों में कार्यरत उसकी शक्तियों का ही वर्णन सम्भव है । इसी कारण उपनिषत्कार ने वेदों को अपरा विद्या में गिना है । श्रीमद्भगवद्गीता (२।४५) में भी **"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** द्वारा यही तथ्य उजागर हुआ । अतः प्रत्यक्ष ब्रह्म क्या है यह हमने संक्षेप में प्रदर्शित किया । अग्नि, इन्द्र, सोम आदि प्रत्यक्ष ब्रह्म के ही विविध रूप हैं । इसी प्रकार रुद्र भी उसी प्रत्यक्ष ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है । यही विशिष्टाद्वैत है ।

द्वितीय अध्याय

निरुक्त में रुद्र

निरुक्त शास्त्र के प्रणेता यास्काचार्य ने इस रुद्र देवता का परिगणन मध्य-स्थानीय अर्थात् अन्तरिक्षस्थ देवगणों में किया है। वहाँ आता है—

'रुद्रो रौतीति सतः' रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा' यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्।

निरु० दै० १०।१।१-५

यहाँ निरुक्तकार ने अन्तरिक्ष स्थानीय रुद्र के स्वरूप को दर्शाया है। अन्तरिक्ष-स्थानीय यह रुद्र मेघ व विद्युत् के माध्यम से कार्य करता है इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि **'अयं रुद्रः मेघे वर्तमानः सन् तडिद् रूपेण रौति शब्दयति गर्जनं करोतीति''** अर्थात् मेघ में स्थित हो यह रुद्र विद्युत् रूप में गर्जना करता है। अथवा **'रोरूयमाणो द्रवतीति वा'** गर्जन करता हुआ दौड़ता है। अथवा **'रोदयति'** अत्यधिक वर्षा अर्थात् अतिवृष्टि कर जल-प्रलय लाकर प्रजाजनों को रुलाता है। या दुष्ट पुरुष की विद्युत्-प्रक्षेपण द्वारा हत्या कर सम्बन्धियों को रुलाता है। आगे शाखा-संहिताओं के जो उद्धरण दिये हैं, वे इस प्रकार हैं—

स किल पितरं प्रजापतिमिषुणा विध्यन्तमनुशोचन्नरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्।
अर्थात् वह रुद्र अपने पिता प्रजापति को वाण द्वारा बींधा जाता हुआ देखकर रोने लगा। वह रोदन करना ही रुद्र का रुद्रत्व है। यह काठक का आलंकारिक आख्यान है। इस आख्यान का रहस्य अन्यत्र स्पष्ट किया जायेगा। उपर्युक्त उद्धरणों का तात्पर्य यह हुआ कि रोना और रुलाना दोनों ही रूप रुद्र के हैं। रुलानेवाला मन्यु व क्रोध का प्रकाशन करता है तथा रोनेवाला भी बाह्य प्रत्यक्ष रूप में न सही पर अन्दर प्रच्छन्न रूप में मन्यु व क्रोध से आक्रान्त होता है। मन्यु, क्रोध, रोना, रुलाना आदि रजोगुण-प्रभावित तमोगुण के रूप हैं। मेघ में विद्युत् का गर्जन भी मन्यु के कारण है। सत्त्व गुण में प्रकाश है, ज्ञान है, आनन्द है। यहाँ रोना-रुलाना आदि कुछ नहीं है। रोना-रुलाना आदि रजोगुण व तमोगुण की सन्तति है। वेद की परिभाषा में कहना चाहें तो ये मन्यु के प्रभाव-क्षेत्र में आते हैं।

अन्तरिक्षस्थ रुद्र

अन्तरिक्ष से बाह्य जगत् का ही अन्तरिक्ष नहीं लेना। मनुष्य का हृदय-प्रदेश भी अन्तरिक्ष है। वह जब रोता व किसी को रुलाता है तो वहाँ हृदय ही रोने व रुलाने में कारण बनता है। **शरीरेष्वन्तरक्षयम्**—विनश्वर शरीरों के भीतर जो सूक्ष्म व कारण शरीर है, आत्मतत्त्व-सहित वह सब अन्तरिक्ष शब्द से गृहीत हो जायेगा। अन्तरिक्ष शब्द की एक व्युत्पत्ति यह भी है—**'अन्तराक्षान्तं'** दो के मध्य में विद्यमान। दो वस्तुओं की टक्कर से जो शब्द होता है वह शब्द भी दोनों के मध्य में होने से (अन्तराक्षान्त) अन्तरिक्ष-स्थानीय है। इस दृष्टि से यास्काचार्य ने रुद्र को जो अन्तरिक्षस्थ देवता माना है वह बड़ा व्यापक व गूढ़ रहस्य से भरा हुआ है।

अतः मन्यु, रोना, रुलाना आदि मनुष्य के ही गुण व क्रियाकलाप नहीं, अपितु सृष्टि में भी ये क्रियाएँ होती हैं। सृष्टि-निर्माण के समय जब प्रकृति के अन्दर क्षोभ हुआ तो अणु-परमाणु परस्पर टकराने लगे। उनके परस्पर के संघर्ष से जो शब्द हुआ उसे रोदन के रूप में प्रकट किया जा सकता है। स्तुति में भी रोदन का धर्म विद्यमान होता है। अतः वही स्तुतिकर्ता रुद्र कहा जायेगा जिसके स्तुति करते हुए आँसू निकले।

अब निरुक्त में रुद्रसम्बन्धी जो मन्त्र आते हैं उनको यहाँ दर्शाते हैं—

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाढाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥

ऋग् ७।४६।१

(स्थिरधन्वने) दृढ़ धनुष वाले (क्षिप्रेषवे) शीघ्र प्रहारकारी बाणों वाले (स्वधाव्ने) अन्न वाले (अषाढाय) अन्यों से असह्य (सहमानाय) स्वयं सहन करने में समर्थ (तिग्मायुधाय) तीक्ष्ण शस्त्रों वाले (वेधसे) विधाता (देवाय रुद्राय) देव रुद्र के लिए हे विद्वानो! (इमाः गिरः) इन स्तुतियों को (भरत) सम्पादन करो, जिससे वह (नः शृणोतु) हमारी प्रार्थना को सुन ले।

तिग्म—तिज निशाने, तिज उत्साहार्थात् वा 'युजिरुचितिजां कुश्च मक्'

(उणा० १।१४६)

आयुधम्—आङ् युध योधने "घञर्थे कविधानम्" इति करणे कः प्रत्ययः।

व्याकरण—रु शब्दे, (अदादि) ततः रोदेर्णिलुक् च' (उणा० २।२२) धातोर्-बाहुलकात् रक् प्रत्ययः तुक् रूप् द्रक् प्रत्ययो वा। यद्वा भृशं रोरूयमाणो द्रवति, रु शब्दे, ततोऽन्तर्गत यङर्थात् क्विप् रुत् पूर्वपदात् द्रु गतौ (भ्वा दि०) ततः अन्येष्वपि दृश्यते' अष्टा० ३।२।१०१ इति डः प्रत्ययः। रुद्र द्रः एकस्य दकारस्य लोपः रुद्रः। रोदयति रुदिर् अश्रुविमोचने (अदादि०) ततो णिजन्तात्" रोदेर्णिलुक् च, रक्। अरुदत् लङि० रूपम्, अरोदीत् वा—

उपर्युक्त मन्त्र यास्काचार्य ने अन्तरिक्षस्थ रुद्र अर्थात् मेघस्थ विद्युत् में दर्शाया है। परन्तु यह मन्त्र पार्थिव रुद्र में भी घट सकता है। योद्धा मनुष्य के प्रति भी इसका अर्थ किया जा सकता है। मन्त्र का भाव यह है कि वह दृढ़ धनुषवाला रुद्र जिस पर प्रहार करना चाहता है उस व्यक्ति पर उसके बाण आदि अस्त्र शीघ्र आकर पड़ते हैं और वे बड़े तीक्ष्ण होते हैं। **'शृणोतु नः'** से यह स्पष्ट है कि वह रुद्र स्तुति व प्रार्थना से प्रसन्न होकर बाण प्रहार करना रोक देता है, क्योंकि स्तुति-प्रार्थना में बड़ा बल है।

यास्काचार्य ने इस सम्बन्ध में एक और मन्त्र दिया है। ये लिखते हैं **तस्यैषाऽपरा भवति**—अर्थात् रुद्रसम्बन्धी एक और ऋचा है जो कि इस प्रकार है—

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥

ऋग् ७।४६।३

हे (स्वपिवात-[स्वाप्तवचन—यास्कः]) सम्यक् गर्जनशील! (ते) तेरी (या दिद्युत्) जो देदीप्यमान वज्रतुल्य विद्युत् तूने (दिवस्परि) द्युलोक में मध्यस्थान में (अवसृष्टा) फैंकी (सा) वह (क्ष्मया) पृथिवी के साथ संगत हो अथवा पृथिवी में पहुँच (चरति) प्रहार करती है अथवा [क्ष्मया—विक्ष्मापयन्ती—यास्कः] सबको कम्पाती हुई, ताड़ित करती हुई (चरति) पृथिवी पर विचरती है वह (नः परि-वृणक्तु) हमें छोड़ देवे और (नः तोकेषु तनयेषु) हमारे पुत्र-पौत्रों पर (मा रीरिषः) हिंसा प्रहार न करे किन्तु (ते सहस्रं भेषजा) तेरे सहस्रों भेषज हमें प्राप्त हों।

दिद्युत्—दो अवखण्डने (दिवादि०) क्विप् प्रत्ययोबाहुलकात् 'हुवः श्लुवच्च' उणा० २।६१, इति बाहुलकात् श्लुवत्कार्यम् आकारस्य इकारः, "द्यतिस्यति—मास्थामिति किति" अष्टा० ७।४।४०
अति किति छान्दसः, उक् आगमश्च छान्दसः, ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्० अष्टा० ६।१।६९ यद्वा द्यु अभिगमने (अदादि०) ततः पूर्ववत् क्विप् द्वित्वं च। अथवा द्युत् दीप्तौ(भ्वादि०)पूर्ववत् द्वित्वम्। दिवस्परि—'पंचम्याः परावध्यर्थे अष्टा. ८।३।५१ इति विसर्जनीयस्य सकारः। दिवोऽधि। क्ष्मया–क्ष्मायी विधूनने/स्वपिवातः—सु+ आप्लृ प्राप्तौ, ततः इन् 'सर्वधातुभ्य इन्' उणा० ४।११८ बाहुलकात् उपधाया ह्रस्वत्वम् स्वपिः स्वाप्तः वादो वचनमस्य स्वपिवातः दकारस्य तकारश्छान्दसः। तोकः—तुज् हिंसाबलादाननिकेतनेषु (चुरादि०) ततः संज्ञायां घः यद्वा तुजि-पालने। तनयः—तनु विस्तारे सनादि० ततः वलिपलितनिभ्यः क्यन् उणा० ४।८९

यह उपर्युक्त मन्त्र यास्काचार्य ने मध्यस्थानी रुद्र के प्रति घटाया है। मध्य-स्थानी होने से मेघस्थ विद्युत् रुद्र के प्रभाव से पृथिवी पर आकर विनाश करती है। परन्तु हमारे विचार में यह मन्त्र द्युलोकस्थ रुद्र में भी घट सकता है। इसका प्रमाण 'दिवस्परि'='दिवोऽधि' अर्थात् द्युलोक में—यह पद है। दिद्युत् सूर्य की

ज्योति हो सकती है जो कि पृथिवी पर आकर विचरती है। सूर्यकिरणों के माध्यम से भी ओषधि-वनस्पतियों में विष का संचार हो सकता है।

अग्नि और रुद्र—आगे यास्काचार्य ने अग्नि को रुद्ररूप में वर्णित किया है। यह अग्नि पार्थिव भी हो सकती है और आध्यात्मिक क्षेत्र की भी मानी जा सकती है। जब पार्थिव अग्नि रौद्र रूप धारण कर सबकुछ भस्मसात् करने लगती है तब वह रुद्र नाम से सम्बोधित की जा सकती है। उस समय प्रजापति भगवान् का मन्यु ही सक्रिय होता है। मन्त्र इस प्रकार है—

जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ ऋग् १।२७।१०

जराबोध—जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः तां बोध तथा बोधयितरिति वा।

रे रुद्ररूप अग्ने! तू हमारी स्तुति को जान अथवा हमारी स्तुति से प्रसन्न हो हमें चितानेवाले हो, (विशे विशे) प्रत्येक मनुष्य के (यज्ञियाय) यज्ञार्ह (तत्) उस ऐश्वर्य को तू (विविड्ढि) सम्पादित कर। (रुद्राय) तुझ रुद्ररूप के लिए (दृशीकं स्तोमं) दर्शनीय अर्थात् श्रेष्ठ स्तोम को पढ़ता हूँ।

अध्यात्म-दृष्टि से जराबोध अग्निपिण्ड में विद्यमान अन्तराग्नि, प्राणाग्नि, मानस-अग्नि, हृदयस्थ परमात्मा आदि अग्नियों का क्षेत्रभेद से ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि भौतिकादि अग्नि में रुद्रत्व उसी रुद्ररूप भगवान् का संक्रान्त होकर आया है। अतः अग्नि के माध्यम से स्तुति उसी भगवान् की कीगई है, भौतिक अग्नि की नहीं। जरा पद 'जरतेः स्तुतिकर्मणः' स्तुत्यर्थक जॄ धातु से निष्पन्न किया है। पर जॄष वयोहानौ (दिवादि०) धातु से निष्पन्न जरा—बुढ़ापे का भी ग्रहण किया जा सकता है। वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से जरा पद पर विचार किया जाये तो यह पद जरावस्था-सूचक जॄष धातु स्तुत्यर्थक जॄ धातु दोनों से निष्पन्न किया जा सकता है। जरावस्था में पहुँचकर मनुष्य भगवान् की स्तुति करता है। युवावस्था में तो मनुष्य वासना की आँधी में उड़ा फिरता है। इस अवस्था में भगवान् की स्तुति कोई विरला ही भाग्यशाली कर पाता है। बुढ़ापे में जब वासना की आँधी शान्त हो जाती है; तब मनुष्य के अन्दर से स्वभावतः भगवान् की स्तुति फूट पड़ती है। अतः जराबोध में जरा स्तुति के साथ जरावस्था भी ली जा सकती है।

जरायां बोधः यस्यासौ सम्बुद्धौ जराबोध।
जरा उपपदात् बुध् धातोः, णिजन्ताद्वा कर्मण्यण्। अष्टा० ३।२।१
यद्वा करणवाचकात् (जरया) वा छान्दसोऽण् प्रत्ययः।
सप्तमी वाचकात् जरा उपपदात् वा बहुव्रीहिसमासः।

विविड्ढि—विष्लृ व्याप्तौ (जुहोत्यादि०) लोटि मध्यमैकवचने हुझलभ्यो हेर्धिः अष्टा० ६।४।१०१ "सर्वविधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इत्यनेन "निजां त्रयाणां

गुण: श्लौ" अष्टा० ७।४।७५ इति विहितोऽभ्यासस्य गुणनिषेध:। विश: मनुष्यनाम निघं० २।३। **दृशीकम्**—दृश धातोर्बाहुलकात् ईकन् औणादिक: किच्च। 'अनर्थका हि मन्त्रा:' इस प्रकरण में भी यास्काचार्य ने रुद्रों की ओर संकेत किया है। वहाँ आता है—**अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति "एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय:"** तै० सं० १।८।६।१

"असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्" यजु० १६।५४

अर्थात् वेद में परस्पर-विरोधी कथन है। एक मन्त्र कहता है कि एक ही रुद्र है; दूसरा नहीं है। परन्तु दूसरे मन्त्र में आता है कि पृथिवी पर असंख्य सहस्रों रुद्र हैं। इस प्रकार परस्पर-विरोधी कथनों वाले मन्त्र हैं। इसका समाधान यास्काचार्य निम्न प्रकार करते हैं—

अथो एतद्विप्रतिषिद्धार्था भवन्तीति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथाऽसपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति। अच्छा, आपका यह कहना कि वेदमन्त्र परस्पर-विरोधी कथन करते हैं सो लौकिक व्यवहार में भी यह देखा जाता है। यहाँ कहते हैं कि यह ब्राह्मण असपत्न है और यह राजा अजातशत्रु है जबकि कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसका कोई शत्रु न हो और राजा के शत्रु भी अवश्य होते हैं। जिस प्रकार लौकिक क्षेत्र में 'असपत्न:, अनमित्र:' आदि शब्द सार्थक माने जाते हैं उसी प्रकार वेद में भी सार्थक हो जायेंगे।

कइयों को यहाँ यह शंका हो सकती है कि यास्काचार्य का मन्त्रों को सार्थक सिद्ध करने का यह तरीका शिथिल है, समीचीन नहीं है। इसका समाधान हम यही समझते हैं कि यहाँ यास्काचार्य ने जैसा आक्षेप वैसा ही उत्तर दिया है। वस्तुत: यास्काचार्य का असली समाधान आगे है। यथा **"जानपदीषु विद्यात: पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य: प्रशस्यो भवति।"**

पारावार वेत्ताओं में भूयोविद्य ही प्रशस्य होता है। उपर्युक्त आक्षेप का यह सही समाधान नहीं है। श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी का भी यही आक्षेप है। अत: इसका वास्तविक समाधान शतपथ ब्राह्मण की विचार-सरणि में खोजना चाहिये। वह यह है कि प्रजापति भगवान् का मन्यु ही रुद्र कहा गया है, वह एक ही है। उसी मन्यु का विस्तार त्रिलोकी के जीव-जन्तु आदि हैं। इनकी पृथक् सत्ता नहीं है; उसी मन्युरूप रुद्र से ये संचालित होते हैं। इस दृष्टि से पृथिवी आदि पर असंख्य रुद्रों की सत्ता होते हुए भी वे एक ही महादेवता रुद्र के अंशभूत हैं जिन्हें कि शतपथ ब्राह्मण की आलंकारिक भाषा में 'अश्रु' विप्रुट् (बूँदें) कहा गया है।

श्री पं० सातवलेकर जी की शंका तथा उसका समाधान—

श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी की दृष्टि में "रुद्र देवता का परिचय" ग्रन्थ में निरुक्तकार यास्काचार्य द्वारा उत्थापित शंका तथा लौकिक दृष्टान्त द्वारा

उसका निराकरण ठीक नहीं है। वे लिखते हैं—"परन्तु मेरे विचार में लौकिक दृष्टान्त के आधार से वैदिक मन्त्रों के विधानों का खण्डन या मण्डन करना अच्छा नहीं। लौकिक भाषा में कुछ भी कहते होंगे, उसी प्रकार वेद में भी कहा है अर्थात् लौकिक विधानों की ओर वैदिक मन्त्रों की इस बात में बराबरी ही है, ऐसा नहीं माना जा सकता। लौकिक वचन भ्रान्त लोगों के होते हैं और वैदिक मन्त्र के निर्भ्रान्त वचन हैं। इसलिये यह उक्त समाधान बिलकुल ठीक नहीं प्रतीत होता।" पं० जी के उपर्युक्त कथन में बल है, ऐसा हम कह सकते हैं। एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि "(**तासां महाभाग्यादेकैकस्या०**) स्थान के एकत्व के कारण भिन्न वर्णन होने पर भी एकत्व की कल्पना करने की सूचना निरुक्तकार यास्काचार्य पूर्वोक्त वचन में देते ही हैं। सर्वव्यापक परमात्मा जैसा पृथिवी पर है वैसा ही अन्तरिक्ष में और ऊपर द्युलोक में भी व्यापक होने से उसका स्थान सर्वत्र है। इसलिए सब स्थान के देवताओं के सब शब्द उस एक अद्वितीय महादेवता के वाचक हो सकते हैं। इस तर्कशास्त्र से हम निरुक्तकार का भाव जान सकते हैं। परन्तु अपने सब निरुक्त में उन्होंने किसी स्थान पर यह स्पष्टता से नहीं बताया कि रुद्र शब्द परमात्मपरक भी है।"

इस सम्बन्ध में हम पं० सातवलेकर जी के परिणाम से असहमत हैं। निरुक्तशास्त्र का मुख्य प्रयोजन कर्मकाण्ड में सहायक देवता-ज्ञान कराना है। कहा भी है **"अथापि याज्ञदैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति'** अर्थात् यज्ञकर्म में देवता-ज्ञान द्वारा बहुत-से उपयोग के स्थान, मन्त्रों के विधि-विधान आदि का ज्ञान होता है। और भी कहा, **'याज्ञदैवते पुष्पफले'** अर्थात् इस वेदवाणी का यज्ञ का ज्ञान पुष्प है और देवता-ज्ञान फल है। इस प्रकार यज्ञ और देवता दोनों का साहचर्य इस तथ्य को दर्शाता है कि यास्काचार्यकृत निरुक्त शास्त्र देवता-ज्ञान का उतना ही क्षेत्र लिये हुए है जिससे यज्ञ में उनका उपयोग हो सके। आगे चतुर्दश अध्याय में यास्काचार्य लिखते हैं—

व्याख्यातं दैवतं यज्ञांगं चाथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः।

अर्थात् दैवत काण्ड, यज्ञ और यज्ञांग ये सब १३ अध्यायों में व्याख्यात किया अब इस चौदहवें अध्याय में आत्मा-जीवात्मा की ऊर्ध्वमार्ग-गति अर्थात् देवयान-मार्ग की व्याख्या की जायेगी।

इससे भी स्पष्ट है कि इस निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन मुख्य रूप से यज्ञों में सहायक देवता-ज्ञान कराना था, परमात्मा का ज्ञान कराना इस शास्त्र का प्रयोजन नहीं है; अध्यात्म में भी जीवात्मा की ऊर्ध्वगति किस प्रकार हो, उसमें परमात्मा का ज्ञान कितना उपयुक्त है उतना ही रक्खा। आगे **'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः'** मन्त्र द्वारा उस परमात्मा का संकेतमात्र कर दिया और इस बात की ओर संकेत कर दिया कि इन सब देवताओं के माध्यम से उस अग्निरूप परमात्मा की ही अभि-

व्यक्ति है। इस चौदहवें अध्याय में उन्हीं मन्त्रों का चयन किया गया है जिन्हें यास्काचार्य ऊर्ध्वमार्ग-गति में सहायक समझते हैं। अन्य कोई निरुक्तकार होता, वह अपनी दृष्टि से मन्त्रों का चयन करता। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नि, इन्द्र आदि देवों की तरह रुद्र देवता का भी यास्क ने वही क्षेत्र लिया जिसे वे यज्ञ में सहायक मानते हैं। यज्ञों में त्रिलोकी का ज्ञान तदन्तर्गत देवों व शक्तियों का ज्ञान आवश्यक है। परमात्मा को मध्य में लाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

तृतीय अध्याय

शतरुद्रिय

महाभारत अनुशासन पर्व १४।३।१७ में आता है कि **"सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्"** इसका तात्पर्य यह है कि वेदों में सामवेद तथा यजुर्मंत्रों में शतरुद्रिय सर्वातिशायी है। यह शतरुद्रिय माध्यन्दिन संहिता का १६वाँ अध्याय है। यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि इस १६वें अध्याय को शतरुद्रिय क्यों कहते हैं? इसका समाधान व व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ६।१।१ में की गई है। यह शतरुद्रिय एक याग है जिससे रुद्र को अन्नादि प्रदान द्वारा शान्त किया जाता है। श० प० ६।१।२ में आता है—"देव[1] बोले, अरे यह रुद्र बड़ा भयंकर है। चलो, इसे अन्न प्रदान करें, इससे यह शान्त हो जायेगा। इस प्रकार देवों ने रुद्र को अन्न देकर शान्त किया। रुद्र के शमन करने की इस प्रक्रिया को 'शान्त देवत्य' कहते हैं। यही शान्त देवत्य परोक्ष में शतरुद्रिय कहलाता है।" अब प्रश्न पैदा होता है कि रुद्र क्या है जिसे कि शान्त करना पड़ता है। रुद्र का स्वरूप शतपथ ब्राह्मण के आधार पर निम्न प्रकार है "प्रजापति[2] का जब विस्रंसन, पृथक्करण व विभेदन होने लगा तो सब देवता उसके अन्दर से उत्क्रमण कर बाहिर आ गये, उन देवों में केवल एक रुद्रदेव ही ऐसे थे जिन्होंने प्रजापति का परित्याग नहीं किया और वह उस प्रजापति के अन्दर 'मन्यु' रूप में फैलकर वहीं स्थित रहा। वहाँ प्रजापति में स्थित हुआ-हुआ वह रोने लगा। इससे जो अश्रुधारायें बहीं, वे इस मन्यु में ही प्रतिष्ठित रहीं। इन सहस्रों अश्रुधाराओं के कारण ही इस रुद्र को शतशीर्षा,

---

१. तेऽब्रुवन् अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनं शमयामेति, तस्या एतदन्नं समभरञ्छान्त देवत्यं तेनैनमशमयंस्तद्यदेतं देवेमेतेनाशमयंस्तस्माच्छान्तदेवत्यं शान्तदेवत्यं हवै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्। श० प० ६।१।२

२. प्रजापतेर्विस्रस्ताद्देवता उदक्रामंस्तमेक एव देवो नाजहान्मन्युरेव सोऽस्मिन्नन्तर्विततोऽतिष्ठत् सोऽरोदीत् यस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दंस्तान्यस्मिन्मन्यौ प्रत्यतिष्ठन् स एव शतशीर्षा रुद्रः समभवत् सहस्राक्षः शतेषुधिरथ या अन्याविप्रुषोऽपतंस्ता असंख्याता सहस्राणीमाँल्लोकाननुप्राविशंस्तद् यद् रुदितात् समभवंस्तस्माद् रुद्राः। श० प० ६।१

सहस्राक्ष तथा शतेषुधि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इन अश्रुधाराओं के अतिरिक्त जो और बूंदें पतित हुईं वे असंख्यात सहस्रों रुद्रों के रूप में हो, इन लोकों में प्रविष्ट हो गईं। क्योंकि ये रोदन से उत्पन्न हुईं इस कारण इन्हें रुद्र कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति उस परम ब्रह्म में लीन थी। जब सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो उस परम ब्रह्म परमात्मा को प्रजापति नाम से सम्बोधित किया गया। इस प्रजापति से सब लोक-लोकान्तर, देव, असुर, पितर, मनुष्य तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि असंख्य प्राणी बाहिर निकले। इनमें देव, मनुष्य उच्च योनियाँ उस प्रजापति से उत्पन्न हो सत्त्वबहुल होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखते हैं। अपने बुद्धिबल व विवेक आदि के कारण एक प्रकार से वे प्रजापति के पूर्ण शासन से स्वतन्त्र रहते हैं। परन्तु प्रजापति के तामसप्रधान प्राकृतिक अंश से समुत्पन्न मगरमच्छ, सर्प, बिच्छू, कुत्ता, मक्खी, मच्छर आदि विषैले जन्तु, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी, तथा नाना व्याधिजनक कृमि-कीट आदि में अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा नहीं होती और वे मन्युप्रधान होते हैं, अतः ये सब स्वतन्त्र न होने के कारण प्रजापति के अन्दर ही रहते हुए रुद्र के गण हैं। इन्हें ही आलंकारिक भाषा में मन्यु-रूप रुद्र के अश्रु कह दिया गया है; और दूसरे, ये रोदन में हेतु बनते हैं, रोदन से ही अश्रु की उत्पत्ति होती है अतः यहाँ इन्हें रुद्र के पशु न कहकर अश्रु कह दिया गया है। जहाँ रोदन है, अश्रु निकल रहे हैं, वहाँ मन्यु की सत्ता है। जो रोता है और जो रुलाता, है दोनों में मन्यु है। साँप, अजगर, मगरमच्छ, सिंह, व्याघ्र आदि लम्बे जन्तु अश्रुधारा के तुल्य हैं; मक्खी, मच्छर, तथा कृमिकीट आदि बूंदों (विप्रुषः) के समान हैं। क्योंकि यह रुद्र मन्युरूप में प्रजापति के ही अन्दर रहता है, अतः यह कहा जा सकता है कि यह मन्यु प्रजापति का ही मन्यु है। एक प्रकार से ये साँप, बिच्छू आदि उसी प्रजापति के शासन से विचरते हैं। ये जिसको डसते व मारते हैं, यह कहना उपयुक्त होगा कि प्रजापति ही डस रहा है व मारता है।

इनमें बुद्धि व विवेक न होने से अपनी प्रकृति के अनुसार अन्न की खोज में इधर-उधर मँडराते रहते हैं; क्योंकि भूख में ये उग्र बन जाते हैं अतः कहा कि **"स एषोऽन्नदीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः"** अर्थात् यह रुद्र अन्न की इच्छा से प्रदीप्त अर्थात् उग्र बना रहता है। इस रुद्र की उग्रता के सम्बन्ध में और भी कहा है—

सोऽयं शतशीर्षा रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिरधिज्यधन्वा प्रतिहितायी भीषयमाणोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद् देवा अबिभयुः।—श० प० ६।१।१।६

अर्थात् सैकड़ों सिरों वाला, सहस्रों आँखों वाला, सैकड़ों बाणतूणीर वाला यह रुद्र धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाये प्रतिहिंसा में तत्पर सकल जगत् को भयभीत करता हुआ भूखा यह रुद्र अन्न की इच्छा से इधर-उधर मँडरा रहा है। देवता भयभीत हुए-हुए प्रजापति के पास पहुँचे और बोले, भगवन्! हमें इससे भय लगता है,

कहीं यह हमारी हिंसा न कर दे। प्रजापति ने उन देवों से कहा कि इसे अन्न दो, इसी से यह शान्त होगा। रुद्र को शान्त करने के उपाय को '**शतशीर्ष रुद्र शमनीयं**' कहते हैं, यही 'शतशीर्ष रुद्र शमनीय' शतरुद्रिय कहलाया। देवताओं ने इसे शान्त करने के लिए अन्न प्रदान किया। ये जीव-जन्तु अपनी भूख मिटाने के लिए एक-दूसरे का भक्षण करते हैं, यही इनका अन्न है। महाभारत में एक स्थल पर कहा है **"जीवो जीवस्य जीवनम्"** एक जीव का दूसरा जीव जीवन है अर्थात् जीवन का साधन है। प्रजापति का मन्यु इनको चलानेवाला है, अतः यह मन्यु ही रुद्र है। इसी दृष्टि से यजुर्वेद के १६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही रुद्र को मन्युरूप बताया है, यथा—**"नमस्ते रुद्र मन्यवे"** हे रुद्र ! तुम मन्युरूप के लिए नमस्कार हो। क्योंकि ये सब जीव प्रजापति के मन्युरूप सूक्ष्म तत्त्व में समाविष्ट हैं, अत; ये जीव अनन्त होते हुए भी मन्यु अर्थात् रुद्र की दृष्टि से एक ही रुद्र हैं, इसलिये कहा—**"एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः"** एक ही मन्युरूप रुद्र है, दूसरा नहीं। यहाँ मन्यु की दृष्टि से एकत्व है, अनेकता में एकता है; और जहां आकृति व व्यक्ति की दृष्टि प्रमुख होती है वहाँ **"असंख्यता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्"** पृथिवी में असंख्य व हजारों रुद्र हैं—ऐसे कथन पाये जाते हैं। यही एकत्व का तथ्य **"रूपं रूपं मघवा बोभवीति"** मन्त्रपद में उपलब्ध होता है। इन असंख्य रुद्रों को प्रेरणा प्रजापति में स्थित उसके मन्यु की है। साँप किसी व्यक्ति को डसता है तो वहाँ साँप को प्रेरणा रुद्ररूप भगवान् की है। प्रजापति का क्रोध उस व्यक्ति पर पड़ रहा है। इन असंख्य रुद्रों को एक रुद्र भगवान् के गण कह दो या रुद्र के विभिन्न रूप कह दो, बात एक ही है। देव व मनुष्य आदि बुद्धिप्रधान व्यक्ति भी जब क्रोध के वशीभूत होते हैं तब उनकी भी बुद्धि विलुप्त हो जाती है, विवेक जाता रहता है। उस समय ये भी रुद्र की प्रेरणा में कार्य करते हुए रुद्र ही कहलाते हैं। जिस समय एक सभा व समिति तथा उसका सभापति युद्धमन्त्रणा करते हैं, दूसरे राज्य को हस्तगत करने के लिए गुप्त विचार-विनिमय व षड्यन्त्र रचते हैं, तब वे भी मन्यु के अधीन होकर रुद्ररूप से विभूषित हो जाते हैं। साँप, बिच्छू आदि सामान्य रुद्र की अपेक्षा ये मानव कहीं अधिक भयंकर होते हैं, क्योंकि इनकी मन्त्रणा व आदेश से राज्य के राज्य उखड़ जाते हैं, भीषण नरसंहार होता है। अतः यजुर्वेद के १६वें अध्याय में जिनके आगे-पीछे दोनों ओर नमस्कार है, समझो ये अत्यन्त भयंकर हैं। कहा भी है—**"तेषां वा उभयतो नमस्कारा अन्ये। अन्यतरतो नमस्कारा अन्ये ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा य उभयतो नमस्कारा उभयत एवैनानेतद् यज्ञेन नमस्कारेण शमयति"** श० प० ६।१।१ अर्थात् इस रुद्राध्याय में किन्हीं के एक ओर 'नमः' शब्द का प्रयोग है और कई दूसरे ऐसे भी हैं जिनके आगे-पीछे दोनों ओर 'नमः' का प्रयोग है। जिनके दोनों ओर नमस्कार है वे घोरतर, अशान्ततर होते हैं, उन्हें आते हुए नमस्कार करें और जाते हुए भी नमस्कार करें।

इस १६वें अध्याय में सभा तथा सभापति उभयतो नमस्कारवाले हैं, इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ सभा व सभापति घोरतर हैं, अशान्ततर हैं, क्योंकि ये भयंकर विनाश करने पर उतारू हैं।

यदि कहीं दूसरा पक्ष इनसे भी अधिक भयंकर है, इनसे भी अधिक बलवान् है, तब वह पूर्वपक्ष को आगे से भी नमन करेगा और पीछे से भी नमायेगा। यहाँ 'नमः' का अर्थ नमन ही है। दूसरे को नमाने के लिए जहाँ अन्य उपाय हैं वहाँ दण्ड का प्रयोग भी एक उपाय है। इस दृष्टि से नमः का सीधा अर्थ दण्ड नहीं है; वह केवल नमन का साधन है। इसलिये गौण रूप में 'नमः' का एक अर्थ दण्ड कर दिया जाता है और यदि दूसरा पक्ष हीनवीर्य व निर्बल हो तो वह भी पूर्वपक्ष को उभयतो नमस्कार करेगा। उसके आगे स्वयं नमन होगा और पीछे से भी नम्रता का भाव प्रकट करेगा, और यदि पूर्वपक्ष को अन्न, धन, दौलत की इच्छा है तो वह भी उसे देना होगा। यहाँ 'नमः' का अर्थ नम्र बनना व बनाना ही है, क्योंकि अन्न-प्रदान द्वारा नम्र बनाना होता है। इसलिये शास्त्रकारों ने गौण रूप में 'नमः' का एक अर्थ अन्न भी कर दिया है। नमन करने व नम्र बनने की इस सारी प्रक्रिया को यज्ञ नाम से कहा गया है। इसी दृष्टि से कहा कि **"उभयत एवैना-नेतद् यज्ञेन नमस्कारेण शमयति"** अर्थात् उभय पार्श्व में इस यज्ञरूप नमस्कार से इन सबको शान्त करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि जो भी मन्यु के अधीन होकर कार्य करते हैं अथवा नरसंहार में किसी-न-किसी रूप में सहायक बनते हैं, वे सब रुद्र के गण हैं। इस दृष्टि से युद्ध-सामग्री उत्पन्न करनेवाले, महान् वैज्ञानिक, रथकार, बम-फैक्टरी में निर्माण-कार्य में संलग्न सभी रुद्र की सीमा में आ जाते हैं। इनके लिए शास्त्रकार कहते हैं **"सोऽन्तर्मन्युर्विततोऽतिष्ठत्"** श० प० ९।१।१।१४ ऐसे रुद्र के अन्दर प्रच्छन्न रूप में मन्यु विराजमान रहता है।

रुद्र देवता पर विचार करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इस रुद्र-देव की सीमा में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर सभी प्राणियों का समावेश हो सकता है। चेतन प्राणियों के अतिरिक्त भौतिक जड़ पदार्थों का भी परिगणन किया गया है। एक महानद अपने उफनते प्रवाह द्वारा तट को भंग कर बाढ़रूप में हो महाविनाश का कारण बन जाये, तो भी उसका वह कर्म रुद्र का ही कर्म माना जायेगा। सूर्यकिरणें जब ओषधि-वनस्पतियों में अमृतरस का संचार न कर विष का संचार कर दें तो वे उस अवस्था में रुद्र हैं। इन जड़तत्त्वों के महाविनाश के पीछे चाहे उनमें ओतप्रोत प्रजापति का मन्यु ही क्यों न कारण हो। मकान की छत गिरकर सोते हुओं की मृत्यु का कारण बन जाये, दो रेलगाड़ियों व बसों में टक्कर हो जाये, पहाड़, वृक्ष आदि टूटकर विनाश-लीला कर दें तो यहाँ रुद्र का हाथ है, ऐसा हमें समझना चाहिये।

'नमस्ते रुद्र मन्यवे। यजु० १६।१ की व्याख्या में शतपथकार लिखते हैं कि इस रुद्र के अन्दर जो मन्यु विराजमान है उस मन्यु को नमस्कार है। प्रश्न है कि बाहुओं को क्यों नमस्कार किया ? इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

"उतो त इषवे नमो बाहुभ्यामुतते नमः"
इतीष्द्व वा च हि बाहुभ्यां च भीषयमाणोऽतिष्ठत्

श० प० ६।१।१।१४

अर्थात् रुद्र के मन्यु को नमस्कार करने के उपरान्त बाहुओं को नमस्कार इसलिए किया है कि अपनी बाहुओं से यह रुद्र प्रजाओं को भयभीत करता हुआ खड़ा है। क्षत्रिय अपनी बाहुओं से शत्रु-सेनाओं को भयभीत करता है यह स्पष्ट ही है, पर रुद्र भगवान् की बाहुएँ क्या होंगीं ? यह एक विचारणीय विषय है। सूर्य भगवान् जब रौद्र रूप धारण करते हैं तब सूर्य-रश्मियाँ बाहुएँ मानी जा सकती हैं। कभी किसी दूर प्रदेश से महामारी का प्रकोप चलता है तो रुद्र भगवान् की काल्पनिक बाहुएँ ही होती हैं। यह रुद्र भगवान् का क्षत्ररूप है। कहा भी है—

स एष क्षत्रं देवः। यः स शतशीर्षा समभवद् विशइम इतरे
ये विप्रुड्भ्यः समभवन्···तेनैनं प्रीणाति।

प्रथम मन्त्र से लेकर १४वें मन्त्र तक एक रुद्र का ही वर्णन है(एकदेवत्यो भवति)। इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम चौदह मन्त्रों में भगवान् की रुद्रशक्ति का ही वर्णन है। आगे कहा कि यह प्रजापति अग्नि है, रौद्राग्नि है। इस रौद्राग्नि का जितनी मात्रा में प्रकोप हो उसके शमन के लिए उतनी ही मात्रा में तदनुकूल अन्न देकर उसके प्रकोप का शमन करना चाहिये। आगे कहते हैं **"यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवैन-मेतन्नमस्कारेण नमस्यति तस्मादुह नायज्ञियं ब्रूयान्नमस्त इति"** श० प० ६।१।१।१६ किसी भीषण प्रकोप का शमन करना, उसको नमाना एक यज्ञिय कर्म है। यही नमस्कार है। किसी भी रोग को दूर करने के लिए औषध देना, सफाई रखना, पथ्यापथ्य का विचार करना आदि रोगविनाश के उपायों का अवलम्बन एक यज्ञ है। यही नमस्कार है; परन्तु शास्त्रकार ने **"नायज्ञियं ब्रूयान्नमस्त इति"** अयज्ञिय, यज्ञ के अयोग्य व्यक्ति को नमस्ते न करे यह परिणाम निकालना इस बात की ओर संकेत करता है कि यदि "नमस्ते" करने से दूसरे का क्रोध शान्त हो जाता है तो वहाँ अन्य उपायों का अवलम्बन न करें, पर अयज्ञिय व्यक्ति को शान्त करने के लिए नमस्ते का प्रयोग न करें, अन्य उपायों का अवलम्बन करें। अन्य उपायों के साथ-साथ रुद्र भगवान् को तो नमस्कार करना ही चाहिये।

शास्त्रकार ने प्रथम चौदह मन्त्रों को संवत्सर में घटाया है। यहाँ १३ मास का एक वर्ष (मल मास को मिलाकर), १४वाँ प्रजापति। इसका तात्पर्य यह है कि वर्षभर में जितने प्राणी पैदा हुए या विनाश को प्राप्त हुए वे सब यहाँ ग्रहण करने चाहियें। १४वाँ प्रजापति भगवान् है जोकि रुद्ररूप में इनका अधिपति है।

आगे इस प्रजापति को अग्नि मानकर यह दर्शाया कि जिस-जिस प्राणी में जितनी मात्रा में रौद्राग्नि हो उसको शान्त करने के लिए उसी मात्रा में अन्न प्रदान कर तृप्त करना चाहिये। कुत्ता, बिल्ली, कौए आदि को दिये अन्न को बलिवैश्वदेव यज्ञ कहा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में स्थित अग्नि को शमन करने के लिए प्रदत्त अन्न को अतिथि-यज्ञ के अन्दर परिगणित किया है। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में कहा है—**"प्रजापतिरग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति०"** श० प० ६।१।१।१६

अर्थात् प्रजापति अग्नि है, यह जिस प्राणी में जितनी मात्रा में हो उसे उतनी मात्रा में अन्नप्रदान कर प्रीणन करना चाहिए। एक मजदूर है, बड़ा परिश्रम करता है। अग्नि भी खूब प्रज्वलित है। उसकी अग्नि को प्रीणन करने के लिए यदि केवल एक-दो रोटियाँ ही दी जायँ तो क्या एक-दो रोटी से ही उसकी अग्नि का प्रीणन हो सकेगा ? कभी नहीं, इसके विपरीत वह रौद्राग्नि बन उस मजदूर को ही खा जायेगी।

त्रिलोकी में रुद्रों का प्रवेश—श० प० ६।१।१।११-१३

शतपथकार कहते हैं कि इन तीनों लोकों में जो रुद्र प्रविष्ट हुए हैं उनका सर्वप्रथम प्रीणन स्वाहाकार द्वारा अन्न देकर किया जाता है। यहाँ त्रिलोकी ब्रह्माण्ड और पिण्ड इन दोनों की ग्रहण करनी होती है।

त्रिलोकी

ब्रह्माण्ड	=	**पिण्ड**
(१) पृथिवी	=	नाभि से जानु तक
(२) अन्तरिक्ष	=	मुख से नाभि तक
(३) द्युलोक	=	सिर के ऊपर से मुख तक

सर्वप्रथम रुद्र के प्रकोप से आक्रान्त नाभि से जानु तक के प्रदेश का स्वाहाकार करता है अर्थात् इस प्रदेश में कोई व्याधि है या तत्रस्थ शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है तो व्याधि को दूर कर शक्ति के समुचित उद्बोधन व विकास के लिए अन्नादि प्रदान द्वारा विकास करता है। यही यज्ञ है, यही स्वाहाकार है। ये सब उपाय भैषज्य यज्ञों के अन्तर्गत आ जायेंगे।

"स वै जानुदघ्ने प्रथमं स्वाहा करोति।" अध इव वैतद् यज्जानुदघ्न मध इव तद्यदयं लोकः ॥ श० प० ६।१।१।११

किसी राष्ट्र व जाति को सर्वाङ्ग परिपूर्ण व बलिष्ठ बनाना हो तो सर्वप्रथम राष्ट्र के बच्चों के पैर व उदर पर ध्यान देना चाहिये। 'जानुदघ्ने प्रथमं स्वाहा करोति' का यही रहस्य है।

जानु (घुटना) तक प्रदेश हमारे शरीर में नीचे है और यह पृथिवीलोक भी नीचे

ही है। 'अथ नाभिदघ्ने' मुख से नीचे नाभि तक शरीर का मध्य भाग है, यह अन्तरिक्ष है। 'मध्यमिवान्तरिक्षलोकः' अन्तरिक्ष लोक भी त्रिलोकी का मध्य है। 'अथ मुखदघ्ने'। उपरीव वैतद् यन्मुखदघ्नमुपरीव तद् यदसौ लोकः ।। ऊपर सिर से मुख तक ऊर्ध्वलोक है जिसे कि द्युलोक कहते हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्ड के इन लोकों में जो रुद्र प्रविष्ट हो गये हैं उनका प्रीणन करना होता है। प्रश्न है इनका प्रीणन किससे करें? "स्वाहाकारेणान्नं वै स्वाहाकारोऽन्नेनैवैनानेतत् प्रीणाति" अर्थात् इनका प्रीणन स्वाहाकार से करें। स्वाहाकार क्या है, वह अन्न है अतः अन्न देकर इनका प्रीणन करें। अन्तरिक्ष तथा द्युलोक के रुद्रों का प्रीणन यज्ञाहुति से होता है। ऋतु के अनुसार अग्निहोत्र में ऐसी सामग्री आदि का प्रयोग करें जिससे इन ऊर्ध्व के दोनों लोकों के उपद्रवकारी रुद्रों का शमन हो जाये। रुद्रों के कोप का शमन होना ही उनका प्रीणन होना है; और यज्ञिय आहुति से इस लोक के अनेकों व्याधिजनक रुद्रों का भी शमन हो जाता है; दूसरे कुत्ते, बिल्ली, कौवा, चिउँटी आदि को अन्न देकर शमन किया जा सकता है। प्रीणाति—प्रीणन करना, शमयति—शमन करना, शान्त करना, इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं है—दोनों उपायों से रुद्रसम्बन्धी मन्यु का शमन व निराकरण होता है।

द्वन्द्वात्मक रुद्र और उनके शमन के लिए आहुति देना

यजुर्वेद के १६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र से १६वें मंत्र तक एक ही रुद्र को नमस्कार किया गया है और उससे अपनी तथा पुत्र-पौत्रादि सन्तति की रक्षा की प्रार्थना की गयी है। ये मन्त्र एकरुद्रदेवत्य कहलाते हैं, अर्थात् प्रमुख रूप से रुद्र भगवान् से प्रार्थना है कि तू हमारी हिंसा न करना। आगे १७वें मन्त्र "हिरण्यबाहवे" से द्वन्द्व रूप में दो-दो रुद्रों अथवा द्विविध गुणों व कर्मों के आधार पर दो-दो विशेषणों से युक्त रुद्र की स्तुति व उसको नमस्कार किया गया है। कहा भी है — **अथ द्वन्द्विभ्यो जुहोति। नमोऽमुष्मैचामुष्यै चेति**
तद्यथा वै ब्रूयादसौ त्वं च न एष च मा
हिंसिष्टमित्येवमेतदाह नतरां हि विदित आमन्त्रितो हिनस्ति।

श० प० ९।१।१।१७

अर्थात् द्वन्द्व (युगल) रूप में विद्यमान रुद्रों के लिए आहुति देता है, उन्हें नमस्कार करता है अर्थात् अमुक-अमुक को मेरा नमस्कार है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किन्हीं दो को यह कहे कि तू और वह मुझे मत मारना, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मैं तुम्हारे पैर पड़ता हूँ, इस प्रकार विदित, ज्ञात तथा आमन्त्रित, प्रार्थित होने पर मारनेवाले का क्रोध शान्त हो जाता है और वह नहीं मारता। इसी प्रकार रुद्र भी नमस्कार करने पर कृपा कर देते हैं; कोई विशिष्ट अपराध न हो तो डाकू भी नमस्कार करने व गिड़गिड़ाने पर छोड़ देते हैं।

"नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमः"—इस मन्त्र में हिरण्यबाहु सेनानी तथा दिक्पति ये दो विशेषण एक ही देवता के लिए हैं और वह क्षत्रिय है। पर इसमें इसकी प्रजा (विश) भी समाविष्ट है ऐसा समझना चाहिये। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में कहा कि—**'क्षत्रमेव तद्विश्यपि भागं करोति।'** अतः यह द्वन्द्वात्मक होते हुए भी एकदेवत्य है। एक ही रुद्र देवता को नमस्कार किया गया है। ब्राह्मणकार कहते हैं—

तद्यत् किंचात्रैक देवत्यमेतमेव तेन प्रीणाति।

अर्थात् यहाँ एक ही रुद्र देवता है और यह क्षत्रिय है, इसी का प्रीणन करना है। इसी प्रकार इस त्रिलोकी में असंख्य रुद्र प्रविष्ट हुए हुए हैं और जो रुद्र उत्पन्न हो चुके हैं इनके प्रति नमस्कार द्वारा आहुति देता है जिससे वे यजमान की हिंसा नहीं करें। कहा भी है—**"असंख्याता सहस्राणीमांल्लोकाननुप्राविशन्नेतास्ता देवता याभ्य एतज्जुहोति।"**

आगे आता है—

देवानां वै विधामनु मनुष्यास्तस्माद् हेमानि मनुष्याणां
जातानि यथाजातमेवैनान् एतत् प्रीणाति। श० प० ६।१।१।१६

अर्थात् देवों की विधा के अनुसार मनुष्य चला करते हैं। रुद्र तथा उसके गणों में मन्यु है उसी प्रकार मनुष्यों में भी समय-समय पर मन्यु का प्रादुर्भाव हो जाता है। महान् से महान् विद्वान् सभा, समितियाँ कभी न कभी मन्यु व क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं; तब वे रुद्र द्वारा संचालित होकर हिंसा, युद्ध, प्रजा का विनाश आदि किया करते हैं। इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जबकि निरंकुश शासक व उसकी राजसभा ने प्रजाओं के विनाश व नरसंहार का निर्णय किया। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि जब कोई विद्वान्, ब्राह्मण, राजा, सभापति व सभा आदि मन्यु के अधीन होकर हिंसा आदि करता है तब वह अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से संचालित न होकर भगवान् के रुद्ररूप के अधीन हो कार्य करता है। प्रजाओं में जब चोर, डकैत, बलात्कारी, दुष्ट पुरुषों का प्राबल्य हो जाता है तब यह समझना चाहिये कि हम प्रजाओं व राजा के पाप का परिणाम ये बलात्कारी व डकैत हैं। भगवान् रुद्र के ही ये तमोगुणजन्य रूप हैं।

ये दोनों प्रकार के द्वन्द्वात्मक रुद्र संख्या में २४० हैं, 'नमो हिरण्यबाहवे'। यजु० १६।१७ से लेकर यजु० १६।४७ के 'धनुष्कृद्भ्य' तक २४० रुद्र हो जाते हैं। उव्वटकृत भाष्य में लिखा है—

तिस्रोऽशीतयो रुद्राणां समाप्ताः। एवं चत्वारिंशदधिक शतद्वयमन्त्रैः रुद्रस्य सर्वात्मत्वमुक्तम्। यजु० उव्वट-भाष्य १६।६७

श० प० ६।१।१।२१ में भी आता है—**"स वा अशीत्यांच स्वाहाकरोति प्रथमे चानुवाकेऽथाशीत्यामथाशीत्यां च"**।

इस प्रकार ८०+८०+८०=२४० हो जाते हैं।

जप-सम्बन्धी रुद्र-मन्त्र

आगे शतपथकार निम्न चार यजुर्भागों को जपने का विधान करता है। कहा भी है—"**अथैतानि यजूंषि जपति।**"

अब इन यजुर्मन्त्रों को जपे। वह इस प्रकार है—

नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने किसी प्रिय के पास पहुँचता है वह चाहे पुत्र हो या अभिन्नहृदय मित्र हो, उसी प्रकार जिस देवता से कुछ अनिष्ट की आशंका हो तो वह उस देवता के पास अत्यन्त विनम्र भाव से नमस्कारपूर्वक पहुँचे, तब वह देवता उसकी हिंसा नहीं करेगा। कहा भी है—

यन्वैतस्माद्देवाच्छंकेत तदेताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयादुपहैवैतस्य देवस्य प्रियंधाम गच्छति तथो हैनमेष देवो न हिनस्ति। श० प० ६।१।१।२२

प्रश्न यह है कि देवों का हृदय कौन-सा है? शतपथकार कहते हैं कि अग्नि, वायु और आदित्य ये देवों के हृदय हैं, यथा—'**अग्निर्वायुरादित्यस्तानि ह तानि देवानां हृदयानि**' श० प० ६।१।१।२३।

इससे यह ध्वनित होता है कि अग्नि पार्थिव देवों का हृदय है, वायु अन्तरिक्षस्थ देवों का तथा आदित्य द्युलोकस्थ देवों का हृदय है।

ये व्याहृतियाँ कौन-सी हैं जिनसे देवों के धाम में पहुँचा जा सकता है? वे निम्न प्रकार हैं—

१. नमो वः किरिकेभ्यः	एतेहीदं सर्वं कुर्वन्ति।
२. नमो विचिन्वत्केभ्यः	एतेहीदं सर्वं विचिन्वन्ति।
३. नमो विक्षिणत्केभ्यः	एते वै तं विक्षिणन्ति।
४. नम आनिर्हतेभ्यः	इत्येते ह्येभ्यो लोकेभ्योऽनिर्हताः।

१. ये देव सब कुछ करते हैं।

२. सबको संग्रह करते हैं।

३. जिनको नष्ट करना चाहते हैं उसे नष्ट कर देते हैं।

४. ये लोक इनका पराजय नहीं कर सकते।

उपर्युक्त विवेचन यजु० १६।४६ मन्त्र के आधार पर किया। अब अगले यजुर्मन्त्रों के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं "**अथोत्तराणि जपति**" अर्थात् अब अगले मन्त्रों को जपता है। मन्त्र है—

द्रापेऽन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित। आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किं चनाममत्॥ यजु० १६।४७

व्याख्या में ब्राह्मणकार लिखते—हैं—**द्रापि**—एष वै द्रापि रेष वैतं द्रापयति यं दिद्रापयिषति—यह रुद्र जिस व्यक्ति की कुत्सित गति, कुटिलगति, दुष्ट चाल-चलन से रक्षा करना चाहता है उसकी वह रक्षा करता है।

द्रा कुत्सायां गतौ पाति रक्षतीति तत् सम्बुद्धौ।

अन्धसस्पते—सोमस्य पत इत्येतत्। अर्थात् यह रुद्र सोम का स्वामी है। अन्धस् सोम को कहते हैं। ओषधि-वनस्पतियों के स्वामी सोम का यह रुद्र स्वामी है। सोम में अनेकों गुण हैं। शान्ति देना, आधिव्याधि का शमन करना, चेतना व ज्ञान-विज्ञान का साधन होना इत्यादि अनेकों गुण सोम में हैं। रुद्र देवता जहाँ आधि-व्याधि का जनक है वहाँ इनका शमन भी करता है, क्योंकि रुद्र के शिव और घोर दोनों रूप हैं।

दरिद्र—नीललोहित—याज्ञवल्क्य ऋषि लिखते हैं—

"इति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च नामग्राहमेवैनमेतत् प्रीणाति। अर्थात् दरिद्र और नीललोहित ये रुद्र के नाम हैं और ये ही रुद्र के रूप हैं। केवल इन नामों के लेने मात्र से ही रुद्र देवता प्रसन्न हो जाते हैं। इनका जप करने मात्र का परिणाम यह है—**"आसां प्रजानामेषां पशूनां०"** अर्थात् जप करने वाले यजमान के बन्धु-बान्धव व सन्तति तथा गौ आदि पशुओं को कोई भय नहीं रहता और न कोई रोग सताता है। ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रथम अनुवाक एक रुद्र देवता का था तो यह **"द्रापेऽन्धसस्पते"** से प्रारम्भ होने वाला अनुवाक भी एकदैवत्य है। एक ही रुद्र से सम्बन्ध रखता है और वह भगवान् रुद्र है।

कहा भी है—तस्मादप्येष एकदेवत्यो भवति रौद्र एवैतं ह्येवैतेन प्रीणाति श० प० ९।१।१।२५ इस प्रकार यजु० १६।४७ मन्त्र से लेकर ५३वें मन्त्र तक ये सात यजु० एकदेवत्य अर्थात् एक रुद्र देवता के सम्बन्ध में हैं। एक प्रकार से ये सात अग्नियाँ हैं। जप द्वारा शरीरान्तर्गत इन सात अग्नियों का चयन किया जाता है। इसका विस्तार इस प्रकार हो सकता है—रस, रक्त, मांस आदि सात धातुएँ, इनमें प्रत्येक में विद्यमान अपनी-अपनी अग्नि, इस प्रकार सात अग्नियाँ और ये सप्तधातु जितने-जितने काल में बनीं वे सात काल सात ऋतुएँ हो गईं। इस प्रकार ये २१ हो जाती हैं। तानि उभयानि $\left[\frac{\text{७ धातु}}{\text{१}} + \frac{\text{७ अग्नियाँ}}{\text{२}} + \frac{\text{७ ऋतुएं}}{\text{३}}\right]$ एक विंशतिः सम्पद्यन्ते।

ये सातों अग्नियाँ सुचारु रूप से प्रज्वलित हों तथा रस, रक्तादि ठीक प्रकार से निर्मित हों तो किसी प्रकार का रोग मनुष्य में न होगा। यह अग्नि जिस रूप की होगी और जितनी मात्रा में होगी उतनी ही सफलता होगी। उसी मात्रा में अन्न देना होगा।

टिप्पणी—"सप्तैतानि यजूंषि भवन्ति । सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति" श० प० ९।१।१।२६

अवतान-मन्त्र

आगे ऋषि याज्ञवल्क्य अवतानों के सम्बन्ध में लिखते हैं। इस सम्बन्ध में हम पूर्व में लिख चुके हैं, यहाँ संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा। ये अवतान-सम्बन्धी मन्त्र ५४ से लेकर ६३ तक हैं। इनकी अवतान संज्ञा इसलिये पड़ी, क्योंकि इन सभी मन्त्रों के अन्त में **"तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि"** यह मन्त्रभाग आता है, यहाँ 'अवतन्मसि' क्रिया के कारण इन मन्त्रों का अवतान नाम पड़ा। वहां आता है कि 'अवतान' रूपी अन्न से प्रसन्न कर इन भूमि आदि लोकों में विद्यमान रुद्रों के विषैले दन्त आदि धनुषों को नीचा कर दिया। जो धनुष सदा तने रहते थे वे शिथिल हो गये। श० प० ९।१।१।२७

एतैरवतानैर्धनूंषि अवतनोति नह्यवतानेन धनुषा केचनहिनस्ति।
जब धनुष की प्रत्यंचा ही उतार दी गई तब हिंसा किसकी?

''सहस्रयोजन' के सम्बन्ध में ऋषि याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

एतद्ध परमं दूरं यत् सहस्रयोजनं तद्यदेव परमं दूरं तदेवैषामेतद्धनूंष्यवतनोति।

अर्थात् सहस्रयोजन परम दूर को कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ पृथिवी पर स्थित व्यक्ति अपने मन्त्रजाप के प्रभाव से द्युलोक व उससे भी परे विद्यमान रुद्र के अपने ऊपर आते हुए बाणों को शान्त कर सकता है। रुद्रदेव के तने हुए धनुष को उतरवा सकता है। दूसरे, अग्नि में डाली हुई आहुति दूर जाकर रुद्रों के धनुषों को शान्त कर देती है। कहा भी है—**"अयमग्निः सहस्रयोजनं न ह्येतस्माददतिनेत्यन्यत् परमस्ति तद् यदग्नौ जुहोति तदेवैषां सहस्रयोजने धनूंष्यवतनोति"** श० प० ९।१।१।२९ अर्थात् यह अग्नि सहस्रों योजनों तक जा सकती है; इसका अतिक्रमण करने वाला कोई नहीं है। आहुति से समिद्ध हो यह अग्नि सहस्र योजन से भी परे दूर से दूर के रुद्र-सम्बन्धी धनुषों को उतरवा देती है। प्रहार करने के लिए उद्यत शस्त्रों को बेकार कर सकती है। ये दस मन्त्र (श० प० ९।१।१।३१) अवतान-सम्बन्धी हैं। ये ही दशाक्षरा विराट् के प्रतीक हैं। विराट् अग्नि है यह दसों दिशाओं में अभिव्याप्त है। इसलिये १० दिशाएँ भी इससे गृहीत होती हैं। पिण्ड में ये दश प्राण हैं, प्राण भी अग्निरूप हैं। परन्तु इन सब बातों पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिये कि यह अग्नि जैसी और जितनी मात्रा में प्रदीप्त होगी उतनी ही मात्रा में रुद्रों के धनुषों को उतारने में सक्षम होगी। महर्षि दयानन्द की अति प्रदीप्त अग्नि ने भारतवर्ष

ही नहीं अन्य देशों तथा सभी धर्मों के सिद्धान्तों की कायापलट कर दी। आगे ६४ मन्त्र से ६६ तक के इन तीन मन्त्रों को 'प्रत्यवरोह' कहते हैं। इनका प्रत्यवरोह नाम इसलिये है कि इस पृथिवी से द्युलोक तक ऊर्ध्व आरोह करना होता है। फिर ऊर्ध्व से अर्थात् द्युलोक से नीचे पृथिवी की ओर अवरोहण होता है। इन तीन मन्त्रों में प्रथम मन्त्र (६४) द्युलोक से सम्बन्ध रखता है। दूसरा (६५वाँ) अन्तरिक्ष से तथा तीसरा (६६वाँ) इस पृथिवी से सम्बन्ध रखता है। अतः द्युलोक से नीचे पृथिवी की ओर आने के कारण इसे प्रत्यवरोह कहते हैं। यह पृथिवी प्रतिष्ठा है क्योंकि इसी पृथिवी पर हम सब मानव व अन्य प्राणी प्रतिष्ठित हैं, इसलिये सर्वप्रथम ऊर्ध्व में पहुँच वहाँ द्युलोक के रुद्रों का प्रीणन करते हैं फिर नीचे अन्तरिक्ष में अवतरण कर तत्रस्थ रुद्रों का प्रीणन करना होता है। तदनन्तर पार्थिव रुद्रों को शान्त करना होता है। द्युलोक के रुद्रों के बाण वर्षा रूप हैं अतः वे जिसकी हिंसा करना चाहते हैं अतिवृष्टि व अनावृष्टि द्वारा करते हैं। अन्तरिक्ष के रुद्रों के बाण वायु रूप हैं और पार्थिव रुद्रों के बाण अन्न है।
(येषां वर्षमिषवः, येषां वात इषवः येषामन्नमिषवः)

आगे कहते हैं—**यद्वेवाह दश दशेति। दशवा अंजलेरंगुलयो दिशि दिश्येवैभ्य एतदंजलिं करोति तस्मादु हैतद् भीतोऽञ्जलिं करोति तेभ्यो नमोऽस्त्विति।**
श० प० ६।१।१।३६

भयभीत हुआ व्यक्ति यह करे कि अपने हाथ की दसों अंगुलियों की अंजलि बाँध प्रत्येक दिशा में नमस्कार करता जाये और मन्त्र बोलता जाये। सर्वप्रथम द्युलोकस्थ रुद्रों को नमस्कार करे, तत्पश्चात् अन्तरिक्ष के और पृथिवी के रुद्रों को नमस्कार करे। यह प्रक्रिया तीन बार करे। कहा भी है—"**त्रिष्कृत्वः प्रत्यवरोहति। त्रिर्हिकृत्व ऊर्ध्वो रोहति**" अर्थात् तीन बार प्रत्यवरोहण करे और तीन बार ऊर्ध्वारोहण करे। इस प्रकार मिलकर ये ६ संख्या हो जाती है। "**तद्यावत् कृत्व ऊर्ध्वोरोहति तावत् कृत्वः प्रत्यवरोहति**" श० प० ६।१।१।४१ अर्थात् जितनी बार ऊर्ध्वारोहण करे उतनी बार प्रत्यवरोहण भी करे। यह इस प्रकार हो सकता है प्रथम द्युलोक-सम्बन्धी मन्त्र बोले, फिर अन्तरिक्ष-सम्बन्धी, तत्पश्चात् पृथिवी-सम्बन्धी मन्त्र बोले। यह प्रत्यवरोहण हो गया। ऊर्ध्वारोहण में प्रथम पृथिवी-सम्बन्धी मन्त्र बोले, फिर अन्तरिक्ष-सम्बन्धी, तत्पश्चात् द्यु-सम्बन्धी मन्त्र बोले और दश प्राची, दश दक्षिणा दश प्रतीची, दशोदीची—इस क्रम से अंजलि बाँध घूमता जाये।

याजुष शाखाओं में शतरुद्रिय

शतरुद्रिय मै० सं० ३।३।४, तै० सं० ५।४।३, काठ० २१।६

यजुर्वेद की शाखा संहिताओं में शतरुद्रिय का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध

होता है। तीनों संहिताओं का तत्सम्बन्धी विवेचन प्रायः एकसमान है, परन्तु कुछ शब्दों के हेर-फेर तथा पूर्वापर-क्रम-भेद से जो भिन्नता प्रतीत होती है वह शब्दों के अप्रचलित प्रयोग व वर्णन की अस्पष्टता को समझने में सहायक ही है। इसलिये हम तीनों शाखाओं के वर्णनों के आधार पर शतरुद्रिय होमविधि को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

रुद्र अग्नि है। कहा भी है—**"रुद्रो वा एष यदग्निः"** तै० सं० ५।४।३।१ यह अग्नि जब सीमातीत रूप में प्रवृद्ध हो रौद्र रूप धारण कर लेती है तब इस अग्नि को रुद्र कहने लगते हैं। शतरुद्रिय प्रकरण में यह प्रवृद्ध अग्नि ही रुद्र है। इसे दूसरे शब्दों में प्रजापति का मन्यु भी कहा है। इसी तथ्य को मै० सं० में निम्न शब्दों में कहा है—

"तद् य एवं वेद वेदाह वा एनं प्रजापतिर्नैनमेष देवो हिनस्ति"

अर्थात् जो इस रहस्य को जानता है कि यह शतरुद्रिय प्रजापति-सम्बन्धी है। प्रजापति ने देवों के निमित्त रुद्र का शमन किया था अतः रुद्र के शमन के लिये प्रजापति के पास पहुँचना चाहिये; तब प्रजापति उसकी अपने इस रुद्ररूप मन्यु द्वारा हिंसा नहीं करता, क्योंकि शतरुद्रिय द्वारा प्रजापति के मन्यु का शमन किया जाता है। इस प्रकरण को हम पिण्ड में घटाते हैं। देवों (इन्द्रियों) ने रुद्र को इस शरीरयज्ञ से पृथक् कर दिया। तब उस रुद्राग्नि ने उन सब देवों (इन्द्रियों) को चारों ओर से जा घेरा। तब भयभीत हो वे देव प्रजापति के पास पहुँचे। उसने शतरुद्रिय से उसका शमन किया। इसका तात्पर्य यह है कि शतरुद्रिय द्वारा जो रुद्राग्नि का शमन किया जाता है वह प्रमुख रूप से उदराग्नि तथा शिश्न-सम्बन्धी अग्नि है। उदराग्नि का शमन तो अन्न देकर हो जाता है, पर शिश्न की अग्नि का शमन कैसे हो? क्या सम्भोग द्वारा? सम्भोग द्वारा भी शमन हो तो जाता है पर वह क्षणिक होता है, वह अग्नि फिर प्रवृद्ध हो जाती है। यह अग्नि जब भयंकर रूप में प्रवृद्ध हो तभी दुःखदायी है। इसके शमन का एक उपाय यह बताया कि गवेधु या गवेधुका के सत्तु खावे या जर्तिल का सेवन करे, ये दोनों ऋषि-अन्न माने गये हैं। अमरकोष की टीका में कहा है **"ऋषीणामन्नविशेषस्य"** अर्थात् ये ऋषियों के अन्न हैं (विष्णुदत्त दाधिमथ टीका)। सायणाचार्य गवेधुका को अरण्यगोधूम कहते हैं; ये जंगल में पैदा होने वाले गेहूँ के सदृश होते हैं। मदन-पाल निघण्टु में 'तृणधान्यों' में १६ धान्य गिनाये गये हैं उनमें 'गवेधुका' भी है। उसके गुण इस प्रकार लिखे हैं "यह हल्का, मीठा और पाक में कड़ुआ है, लेखन, रूखा और गरम है। मलमूत्र को बाँधता है और वात-पित्त को कुपित करता है।" इसी प्रकार 'जर्तिल' भी ऋषियों का अन्न है। इस सम्बन्ध में मदनपाल निघण्टु में—'तिलवन्यतिल' शीर्षक के अन्दर वन्य तिलों में जातिल नाम से इसके गुण-दोषों के सम्बन्ध में लिखा है—'यह कसैला मीठा और तीखा है। रस में कड़ुआ है,

मल को बाँधता है; भारी, स्वादिष्ट और चिकना है। रक्त, कफ, पित्त और बल पैदा करता है। बालों को बढ़ाता है। स्पर्श में ठंडा है। बिगड़ी खाल को सुधारता है और घावों को अच्छा करता है। वन्यतिल अल्पमूत्रकारी, धातुनाशी है, मन्दाग्नि को जगाता है और बुद्धि को बढ़ाता है। [मदनपाल निघण्टु—भाषानुवाद पं० श्री सुकुल शक्तिधर शर्मा, नवलकिशोर प्रेस]

इस प्रकार गवेधुका तथा र्जतिल (जातिल) के गुणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वनस्थ ऋषि-मुनि इन तृणधान्यों का सेवन इसलिये करते थे कि जिससे कामाग्नि पर विजय प्राप्त की जाये। इन दोनों धान्यों के सेवन से उदराग्नि तथा शिश्नाग्नि की वृद्धि नहीं हो पाती। ऋषि-मुनियों को इन दोनों अग्नियों को शमन करना होता है।

प्रश्न हो सकता है कि सर्वप्रथम उदराग्नि तथा शिश्न व योनि की अग्निरूप रुद्र को क्यों शमन किया ? इसका प्रमाण यह है। शास्त्रकार स्वयं कहते हैं कि यथा—

"जानुदघ्ने प्रथमं जुहोत्यस्या एवैनं तेन शमयति
नाभिदघ्ने द्वितीयमन्तरिक्षात्तेन छुबुकदघ्ने तृतीयं
दिवस्तेन त्रिर्जुहोति त्रयो वा इमे लोका एभ्यो वा
एतं लोकेभ्यो रुद्रं शमयति"

मै० सं० ३।३।४; काठ० २१।६; तै० सं० ५।४।६

अर्थात् सर्वप्रथम नाभि से नीचे घुटने तक के प्रदेश में से आहुति-प्रदान द्वारा रुद्र का शमन करता है, पिण्ड में यह पृथिवी-लोक है। दूसरी आहुति, ठोड़ी (छुबुक) से नीचे नाभि तक के प्रदेश में स्थित रुद्र का शमन करता है, यह अन्तरिक्ष लोक है और तीसरी आहुति से ठोड़ी से ऊपर विद्यमान रुद्र का शमन किया जाता है, वह द्युलोक है। सर्वप्रथम जानु तक के प्रदेश में से रुद्र का शमन किया जाता है वस्तुतः रुद्र का प्रमुख स्थान यहीं है। इस प्रदेश के शमन होने पर ऊर्ध्व के प्रदेश में से रुद्र का शमन करना आसान होता है। तै० सं० में गवैधुका तथा र्जतिल धान्यों के अतिरिक्त अजाक्षीर, काठ सं० में कुसुमसर्पि तथा मृगक्षीर की आहुति का भी वर्णन है। कुसुमसर्पि क्या है यह विचारणीय है। बाह्य यज्ञ में भी इनकी आहुति देने से वातावरण में फैल ये रुद्रों को शान्त करते हैं। अर्कपर्ण (आके के पत्तों) की भी आहुति देने के लिये लिखा है। अर्क का प्रयोग निम्न व्याधियों में प्रयुक्त होता है—

'शंख वात, कोढ़, खुजली, फोड़े, विष, पिल्ही, गोला, बवासीर, कलेजे की सूजन, कफ, उदररोग और क्रिमि रोग। मदनपाल निघण्टु'।

अजाक्षीर के सम्बन्ध में लिखा है—बकरी का दूध गाय के दूध के समान गुण-कारी है परन्तु विशेषकर मल को बाँधता है, अग्नि को बढ़ाता है और हल्का है।

क्षय, बवासीर, अतिसार, प्रदर-रक्त, भ्रम और ज्वर को विनाशता है। बकरी का शरीर छोटा होने से कड़वा, तीखा आदि खाने से, थोड़ा पानी पीने से और बहुत घूमने से बकरियों का दूध सब रोगों को हरता है। काठक संहिता में मृगक्षीर भी लिखा है। सम्भवतः ऋषि-मुनि वनों में रहते थे, मृगों को पाला करते थे अतः मृगी के दूध का उपयोग होना स्वाभाविक है। अजाक्षीर के सम्बन्ध में तैं० सं० में लिखा है—**"आग्नेयी वा एषा यदजाऽऽहुत्यैवजुहोति"** अर्थात् यह अजा अग्नि-प्रधान होती है इसी कारण मदनपाल निघण्टु में बकरी के दूध का एक गुण अग्नि-वर्धक बताया है। पिण्ड में अर्क इन्द्रियों की आग्नेय ज्योतियाँ हैं जो गोलकों से बाहिर की ओर प्रसृत होती हुई ब्रह्मवर्चस् तेज को प्रकट करती हैं। आन्तरिक अर्क तथा बाह्य अर्क ओषधि में क्या समानता है यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। मै० सं० में आता है **"अंगिरसो वै स्वर्यन्तोऽजायां धर्मंप्रासिंचन्त्सा शोचन्ती पर्णं परामृशत् सोऽर्कोऽभवत्"** अर्थात् अंगिरा जब स्वर्लोक (मस्तिष्क की ओर) को गये तो अजा में धर्म का सिंचन कर दिया। अजा ने शोक करते हुए पर्ण का स्पर्श किया तो वह अर्क हो गया। इसका रहस्य यह है कि जब मनुष्य ऊर्ध्वरेता बनता है तो अंगिरस अर्थात् अंगों के रसों की गति ऊर्ध्व की ओर (स्वर्यन्तः) मस्तिष्क की ओर हो जाती है और वे मस्तिष्क में पहुँच अजा=सप्त इन्द्रिय द्वारों में विकीर्ण होने वाली वाक् में धर्म=गरमी को पैदा कर देते हैं। वह धर्म अर्थात् तेज इन्द्रिय-द्वारों से बाहिर की ओर को जब प्रवाहित होता है तब उन्हें अर्क कहते हैं। 'अर्क' ब्रह्मवर्चस् तेज से युक्त इन्द्रिय-रश्मियाँ हैं. यह विषय लेखक की 'वैदिक अध्यात्म विद्या' पुस्तक में देखें। बाह्य प्रकृति में जब गरमी अधिक होती है तब पृथिवी में से अर्क (आका) के पौदे के रूप में वह प्रकट होती है। यह अर्कपर्ण बहुत गरम होता है। फोड़े, फुन्सियों, कुष्ठ आदि को जला देता है। कुष्ठ, खुजली व फोड़े, फुन्सियों के कृमि रुद्र के ही गण हैं।

"तै० सं० में आता है **"अर्को वाऽग्निरर्केणैवैनमर्कादधि निरवयजते"** अर्क स्वयं विष है, अग्निरूप इस अर्कविष से कुष्ठ, खुजली आदि विषों का विनाश करता है। इसी तथ्य को उपर्युक्त उद्धरण में दर्शाया गया है।

जो अर्क इन्द्रिय-तेज के रूप में परिणत हो गया है वह शिश्न व योनि में विद्यमान रुद्राग्नि के शमन में कारण बनता है, क्योंकि शिश्न की तथा वाक् की अग्नि एक ही होती है, प्राजापत्याहुति के समय अर्थात् गर्भाधान के समय मौन रहने का विधान किया है वह इसलिए कि वाक् अग्नि प्रजनन के समय शिश्न में पहुँची हुई होती है। सम्भोग के समय अग्नि का शिश्न में रहना आवश्यक है। शिश्न में विद्यमान अग्नि जब अत्यधिक प्रवृद्ध हो जाये तो यह रुद्राग्नि का रूप धारण कर लेती है। इसी रुद्राग्नि को शान्त करने के लिए स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है। परन्तु स्विष्टकृत् आहुति एक ही दी जाती है। उसका असली रहस्य तो यह है कि

जीवन में एक बार ही सम्भोग करना चाहिये। यह मोक्ष व भगवत्प्राप्ति में सर्वोच्च स्थिति है। शिश्न की अग्नि को अर्क द्वारा अर्थात् इन्द्रियों में तेज उत्पन्न कर शान्त कर दिया जाता है। इसी प्रकार छुबुक (ठोड़ी) से लेकर नाभि तक प्रदेश अन्तरिक्ष कहलाता है। यहाँ अन्तरिक्ष में यदि कोई रुद्र हो तो उसको भी शमन किया जाता है। इसी प्रकार छुबुक (ठोड़ी) से ऊपर के हिस्से में यदि कोई रुद्र हो तो उसको शान्त किया जाता है। इस प्रकार तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी आदि याजुष शाखाओं का यह शतरुद्रिय विवेचन संक्षेप में दर्शाया। तै० सं० में ५।७।३ में शतरुद्रीय होम करने का जो प्रयोजन बताया गया है वहाँ वसोर्धारा होम करने का भी आदेश हुआ है। रुद्र की जो दो तनू हैं, दो शरीर हैं, एक घोर तथा दूसरी शिव। इनमें 'वसोर्धारा' होम से शिव तनू का प्रीणन होता है। कहा भी है "वसोर्धारां जुहोति। यैवास्य शिवा तनू एतां तेन प्रीणाति"। 'वसोर्धारा' होम विष्णु तथा अग्नि इन दो देवताओं से सम्बन्ध रखता है। रुद्र अग्नि का ही एक रूप है इसलिये रुद्र से भी इसका सम्बन्ध है। रुद्र की शिव तनू का इससे प्रीणन होता है। सायणाचार्य 'वसोर्धारा' की निम्न व्युत्पत्ति करते हैं—"वासयतीति व्युत्पत्त्या वसुरग्निस्तस्येयमाज्यधारा 'वसोर्धारा' व्युत्पत्ति के आधार पर वसु अग्नि है जो कि बसाती है, मनुष्य में सब शक्तियों के वास का कारण बनती है। यह वसु अग्नि है, इसमें घी की धारा आहुतिरूप में डालनी चाहिये। जिस कामना को लेकर यह घी की धारा अग्नि में डाली जायेगी वह कामना पूरी होगी। इसमें 'वाजश्च मे प्रसवश्च मे' तै० सं० ४।७।१।११ इत्यादि मन्त्र वसोर्धारा-सम्बन्धी मन्त्र हैं। आगे संहिता में यह भी निर्देश हुआ है कि वसोर्धारा होम की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। वसोर्धारा होम की प्रतिष्ठा अर्थात् उसकी सफलता तभी होगी जब निम्न कार्य भी सम्पन्न किये जावें। वे इस प्रकार हैं—

होम से अवशिष्ट घी में ब्रह्मौदन पकाकर चार ब्राह्मणों को भोजन करावे, क्योंकि ब्राह्मण वैश्वानर अग्नि के तुल्य होते हैं। कहा भी है "एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद्ब्राह्मणः"। सूत्रकार का यह कथन है कि, "यदाज्यमुच्छिष्येत तस्मिन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा चतुरो ब्राह्मणान्भोजयेत् चतुः शरावमौदनं पक्त्वा तद्व्यञ्जनं भोजयेत् प्राशितवद्भ्य श्चतस्रो धेनूर्दद्यात्" अर्थात् अवशिष्ट घी में ब्रह्मौदन पकाकर उसमें चार कटोरे चावल पकावे और चार ब्राह्मणों को भोजन करावे और जब वे भोजन कर चुकें तब चार गौएँ दान में दे। इसमें 'वसोर्धारा' होम की प्रतिष्ठा अर्थात् सफलता होती है और इस होम को करनेवाले को रुद्र का प्रकोप नहीं सहना पड़ता।

शतरुद्रिय के कुछ कठिन शब्दों का सायणाचार्यकृत अर्थ

सायणाचार्य के मत में भक्त के प्रति रुद्र के इषु, धनुष तथा अन्यान्य आयुधों के शान्त होने का तात्पर्य यह है **"भक्तेषु प्रवृत्त्यभावात्तेषां शान्तत्वम्"** अर्थात् भक्तों

के प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं है इसलिये वे शान्त कहे गये हैं। **अघोरा**—अस्मास्वनुग्रहकारिण्यत एवाघोरा⋯अघोरत्वमेव स्पष्टी क्रियते—**अपापकाशिनी**—पापं हि सारूपमनिष्टं काशयतीति पापकाशिनी तादृशी न भवति अर्थात् जो हम पाप करते हैं उन्हें यह छिपाये रखती है। किसी-किसी व्यक्ति के पाप जीवनपर्यन्त पता नहीं चलते। सायणाचार्य कहते हैं कि यह सब रुद्र की तनु का प्रभाव है। यह व्याख्या विचारणीय है ?

गिरिश, गिरिशन्त-गिरित्र—गिरौ कैलासे शेते तिष्ठतीति गिरौ कैलासे स्थित्वा नित्यं प्राणिभ्यो यः शं सुखं तनोतीति, कैलासाख्यं गिरिं त्रायते पालयतीति। कैलासादिवर्ति रुद्रस्य रूपं तु वेदशास्त्राभिज्ञैरेव दृश्यते नान्यैः। यह भी विचार-कोटि में है।

भिषक्—ध्यानमात्रेण सर्वरोगोपशमनादयं चिकित्सकः। भिषक् का यह अर्थ भी ऐकान्तिक है। क्योंकि ओषधियों तथा जलादि द्वारा भी यह रोगों का शमन करता है अतः यह रुद्र वैद्य है।

ताम्रः, अरुणः, बभ्रुः—मण्डलस्थादित्यरूपः। केचिदस्य सत्त्वानो भृत्यरूपाः। कुछ प्राणी रुद्र के नौकर हैं।

सायणाचार्य 'हिरण्यबाहवे' मन्त्र से आगे आठ अनुवाकों में दर्शाये रूपों को रुद्र के लीलाविग्रह मानता है।

हिरण्यबाहवे—हिरण्यनिर्मितान्याभरणानि बाह्वोर्यस्यासौ हिरण्यबाहुः स च संग्रामेषु सेनां नयतीति—यह अर्थ सेना तथा सेनापति के प्रसंग में संगत है।

सष्पिञ्जराय—'सष्पि' शब्दो बालतृणवाची पीतरक्तसंकीर्णवाची पिंजरः बालतृणवत् पिंजरः।

पथीनां पतिः—शास्त्रोक्त दक्षिणोत्तरतृतीयमार्गाणां पतिः। जीवों के पितृयाण, देवयान तथा तृतीय मार्ग का स्वामी।

हरिकेशाय—नीलमूर्धजाय पलितरहितायोपवीतिने मंगलार्थं यज्ञोपवीतधारिणे। हमारे मत में हरित वर्ण की ओषधियाँ-वनस्पतियाँ उसके केश हैं।

भुवन्ति—भुवं तनोतीति। वरिवस्कृत्-वरिवो धनं तस्य कर्ता।

रुद्रो हि लीलया नट इव तत्तद्वेषं धत्ते। यद्वा तस्य सर्वजगदात्मकत्वाद्ये यत्र यथा वर्तन्ते तत्र तथा रूपेण रुद्रो वर्तत इति रुद्रस्य सार्वात्म्यमनुसन्धातुं मन्त्रैरेवमुच्यते। स्तेनादिशरीरेषु रुद्रो द्वेधा वर्तते जीवरूपेणेश्वररूपेण च। तत्र च यज्जीवरूपं तत्स्तेनादि शब्दानां वाच्योऽर्थः स एव शास्त्रेषु निन्द्यः। यत्त्वीश्वररूपं तत्स्तेनादिशब्दैरुपलक्ष्यते⋯उपलक्षकवाच्यार्थद्वारेण लक्ष्यार्थो मुग्धैरपि सहसा सम्यग्बोद्धुं शक्यते। वञ्चते—स्वामिन आप्तो भूत्वा तदीय क्रयविक्रयादिव्यवहारेषु क्वापि यत्किंचित्तद्द्रव्यापह्नवो वंचनम्। स्वामी का विश्वासपात्र बन व्यवहारादि करते हुए धन बचा लेना, छिपा लेना वंचन

कहलाता है। परिवंचक वंचक से अधिक बड़ा।

स्तेनाः—गुप्तचौराः। रात्रि में चोरी करने वाले या अज्ञान में चोरी करने वाले।

स्तायुः—आत्मीय बन रात या दिन में द्रव्य हरने वाले।

निचेरुः—स्वामिगृहे···नित्यं चरणशीलो निचेरुः परित आपणवीथी प्रवाटिकादावपहारबुद्ध्या चरणशीलः परिचरः।

सृकाविनः—सृक शब्दो वज्रवाची तेन स्वशरीरमवन्ति रक्षन्तीति।

कुलुंचाः—कुंभूमिगृहक्षेत्रादिरूपां लुञ्चन्त्यपहरन्ति।

आयच्छन्तः—ज्याकर्षणं कुर्वन्तः।

आव्याधिन्यः—आ समन्ताद्वेद्धुं शक्ताः स्त्रीमूर्त्तयः। स्त्रियाँ भी चोर-डकैत हो सकती हैं।

उगणाः—उत्कृष्ट गणरूपाः सप्तमातृकाद्याः स्त्रियः दुर्गाद्याः।

गृत्साः—गर्धनशीला गृत्सा विषयलम्पटाः।

पुञ्जिष्ठाः—पक्षिपुञ्जानां घातकाः। श्वनयः—शुनां गलेषु बद्धानां पाशानां धारकाः।

भवः—भवन्ति प्राणिनोऽस्मात्। रुद्रः—रुद् रोदनहेतुभूतं दुःखं द्रावयतीति। शर्वः—शृणाति हिनस्ति पापमिति। पशुपतिः—पशुसमानानज्ञानिनः पुरुषान् पालयति।

शिपिविष्टः—विष्णु मूर्तिधारी। वामनः अंगुल्याद्यवयवसंकोचाद वामनत्वम्।

शीभ्यः—शीभ शब्द उदकप्रवाहवाची तत्रावस्थितः।

पूर्वजः—पूर्वजगदादौ हिरण्यगर्भरूपेणोत्पन्नः। अपरजः—अपरस्मिन् जगदावसानकाले संहर्तुं कालाग्न्यादिरूपेणोत्पन्नः। मध्यमः—मध्यकाले देवतिर्यगादि रूपेणोत्पन्नः। अपगल्भो प्रकटेन्द्रियो बालः। जघन्यः—जघने गवादीनां पश्चाद् भागेवत्सादिरूपेण भवः। प्रतिसर्यः—प्रतिसरो विवाहादौ हस्ते धार्यमाणो रक्षाबन्धस्तमर्हति। याम्यः—यमलोके पापिशिक्षकरूपेणोत्पन्नः। खेल्यः—धान्यविवेचनदेशस्तमर्हति मेढ्यादिरूपेणेति। अवसान्यः—अवसानं वेदान्तस्तत्प्रतिपाद्यत्वेन तत्र भवः। कक्ष्यः—कक्षे लतादिरूपेण भवः।

बिल्मी—बिल्मं बिलोपेतं युद्धे शिरोरक्षकं तदस्यास्तीति। प्रमृशः—परसैन्यवृत्तान्तपरामर्षकः। स्रुत्यः—पदसंचारमात्रयोग्यः क्षुद्रमार्गस्तमर्हति। काट्यः—कुत्सितमटति जलमत्रेति काटोऽल्पप्रवाहयोग्यः कुल्याप्रदेशः तत्र जलरूपेण भवः। नीप्यः—यस्मिन् प्रदेशे पर्वताग्राज्जलं न्यग्भावेन पतति स प्रदेशोनीपः तत्र भवः। सूद्यः—कर्दमप्रदेशस्तत्रत्य जलरूपः। अवट्यः—अवटस्थ जलरूपोऽवट्यः। ईध्रियः—ईध्रं निर्मलत्वेन दीप्यमानं शरदभ्रं तत्र भवः। रेष्मः—रिष्यन्ति विनश्यन्ति भूतान्यत्रेति रेष्मः प्रलयकालस्तत्र भवः। रेष्मिपः—शर्करापाषाणादि सहितो वृष्टिजलविशेषः। सोमः—उमया सहितः। शंगुः—शं सुखं गमयतीति।

तार:—प्रणवप्रतिपाद्यः शंकर:—लौकिक सुखं करोतीति। मयस्कर:—मोक्षसुखं करोतीति। पार्यः—संसारसमुद्रस्य परतीरे मुमुक्षुभिर्ध्येयत्वेनावतिष्ठते। प्रतरण: —प्रकृष्टेन मन्त्रजपादिरूपेण पापतरणहेतुः। उत्तरणः—तत्त्वज्ञानरूपेण कृत्स्न-संसारोत्तरणहेतुः। आतार्यः—काम्यकर्मानुष्ठानेन संसारे पुनरागमनमातारः तमर्हतीति। आलाद्यः—अलं सम्पूर्णं यथा भवति तथा कर्मफलमतीत्यलादो जीवः तस्य प्रेरकत्वेन तत् सम्बन्धित्वादालाद्यः। इरिण्यः—इरिणमूषरं तत्र भवः। किंशिलः—कुत्सिताः क्षुद्राः शिला यत्र प्रदेशे तादृशः शार्वरिस्तः प्रदेशः। पुलस्तिः—भक्तानां पुरतः तिष्ठति। काट्यः—कुत्सितमटति कण्टकलतादिपूर्णतया दुष्प्रदेशत्वं प्राप्नोतीति दुर्गमोऽरण्यविशेषः। निवेष्यंनीहारजलं तत्र भवो निवेष्प्यः। लोप्यः—लुप्यते तृणादिकमस्मिन्निति लोपः कठिनप्रदेशस्तत्र भवः। उलप्यः—उलपा-बल्वजतृणादयस्तत्र भवः। अपगुरमाण उद्यतायुधः। किरन्ति भक्तेभ्यो धनानीति किरिका उदारा रुद्रावताराः, ते च देवानां हृदयभूताः। क्षीणकेभ्यो विपरीता विक्षीणकाः। विचिन्वत्काः—विचिन्वन्त्यपेक्षितमर्थं सम्पादयन्तीति। अनिर्हताः—आ समन्तात् निःशेषेण हतं पापं यैस्ते। आमीवत्काः—आ समन्तान्मीवन्ति स्थूली-भावं प्राप्नुवन्ति। द्रापे—द्रापयति कुत्सितां गतिं प्रापयतीति द्रापिः। पापिनो नरकप्रदानेन क्लेशयतीत्यर्थः। अन्धसस्पते—अन्धोऽन्नं तस्य पतिः पालकः भक्ताना-मन्नं पालयतीत्यर्थः। दरिद्रोऽकिंचनः स्वयं विरक्तः केवल इत्यर्थः। क्षयद्वीराय—क्षपितास्मदीयपापाय, यद्वा क्षीयमाण प्रतिपक्षपुरुषाय। गर्तसदं—हृदयपुण्डरीके सर्वदा तिष्ठन्तम्। विकिरिद्रः—कीर्यन्ते भक्तानां सन्निधौ बहुधा प्रक्षिप्यन्ते इति किरवो धनानि तानि ददातीति किरिदः विशेषेण किरिदो विकिरिद्रः। भूताना-मधिपतयः—भूतशब्देनान्तर्हितशरीराः सन्तो मनुष्योपद्रवकारिणो गणविशेषा उच्यन्ते। भूत नाना व्याधियों के वायरस कृमि-कीट हो सकते हैं। ऐलवृदाः—इराऽन्नं तस्य समूह ऐरम्। ऐरमेवैलं तद्बिभ्रतीत्यैलभृतः। ऐलभृत एवैलवृदा अन्नप्रदानेन पोषकाः। यव्युधः—यौति मिश्री भवति विरोधं करोतीति युः शत्रुः। युभिः शत्रुभिः सह युध्यन्तीति यव्युधः।

इस प्रकार तैत्तिरीय संहितान्तर्गत शतरुद्रीय प्रकरण के कुछ कठिन शब्दों का सायणाचार्यकृत अर्थ प्रदर्शित किया। आगे शतरुद्रीय होम-द्रव्यों के सम्बन्ध में शास्त्रकारों के विभिन्न मतों का उल्लेख आता है, संक्षेप में उसे भी हम यहाँ दर्शाते हैं।

तै० सं० ५।४।३ में आता है कि "यह रुद्र अग्नि है; जब यह रुद्राग्नि पैदा हो जाती है तो जिस प्रकार सद्योजात बछड़ा स्तन्यपान करना चाहता है उसी प्रकार यह रुद्र भी उत्पन्न होते ही अपना भाग चाहता है। यदि इस रुद्र को अपना भाग न मिला तो यह यजमान तथा अध्वर्यु दोनों का विनाश कर देगा। अतः रुद्र को अन्न देना चाहिये। प्रश्न है कि क्या दें? शास्त्रकार कहते हैं कि ग्राम्य पशु गौ

आदि की रक्षा के निमित्त उनके दूध की आहुति दें और आरण्य पशुओं की रक्षा के लिए जर्तिल (जर्तिला आरण्यतिलाः) अथवा गवीधुक (गवीधुका गोधूमाः) की आहुति दें।" इस सम्बन्ध में दूसरे कई विद्वानों का यह मत है कि **"यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः"** अर्थात् जो अन्न मनुष्य खाता है वही अन्न उसके देवता भी खाते हैं। जर्तिल तथा गवीधुक मनुष्य खाते नहीं है इसलिये रुद्र देवता को इनकी आहुति नहीं देनी चाहिये; तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि किसकी आहुति दें? इस सम्बन्ध में उन विद्वानों का यह कहना है कि अजाक्षीर अर्थात् बकरी के दूध की आहुति देवे, क्योंकि बकरी तथा अग्नि दोनों प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुए हैं। अग्नि तो प्रजापति के मुख से उत्पन्न हुई है, बकरी कैसे, यह अलंकार-गर्भित रहस्य है अथवा प्राकृतिक घटकों की उत्पत्ति-सम्बन्धी शास्त्रों की एक निराली शैली है। अजा के प्रायः तीन अर्थ हैं : प्रकृति, वाक् तथा बकरी। पिण्ड में मुख के अन्दर वाक् तथा अग्नि दोनों की उत्पत्ति प्रजापति से कही जा सकती है। आगे कहा कि उत्तर की दिशा में खड़ा होकर आहुति डाले क्योंकि उत्तर की दिशा रुद्र की दिशा है। आहुति से रुद्र को निकाल बाहिर करता है। आगे पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु इन तीन लोकों में विद्यमान रुद्रों के शमन के लिए कहा—**"यदनु-परिक्रामं जुहुयादन्तरवचारिणं रुद्रं कुर्यादधो खल्वाहुः कस्यां वा ह दिशि रुद्रः कस्यां वेत्यनुपरिक्राममेव होतव्यम्०"** तै० सं० ५।४।३

अर्थात् चारों ओर परिक्रमा करते हुए आहुति देवे, चारों दिशाओं में परिक्रमा इसलिए करनी है कि रुद्र किस दिशा में है, इसे कौन जान सकता है। आगे कुछ अभिचार-सम्बन्धी कथन भी हुआ है, वह यह कि अर्कपत्र से भी आहुति देने का विधान है। जिस व्यक्ति से शत्रुता हो उस व्यक्ति के पशुओं की हिंसा के लिए उस अर्कपत्र को शत्रु के पशुओं के संचरण-स्थान में डाल देवें, इससे शत्रु का जो प्रथम पशु वहाँ बैठेगा वह बीमार हो जायेगा या मर जायेगा।

शतरुद्रिय सायण-भाष्य—श०प० ६।१।१

तत्रादौ तावत् शतरुद्रिय होमं विद्यते। विहितोऽयं होमो रुद्ररूपतापन्न-स्याग्नेरुपशमनार्थः। शान्तदेवत्यं शान्तदेवतार्थं देवताशान्त्यर्थम्। जर्तिला आरण्य-तिलाः। चितीः परितो निक्षिप्ताः क्षुद्रपाषाणाः परिश्रितः। गवेधुका आरण्या गोधूमाः तेषां विष्टैः। सा प्रजापति रूपा देवता। आशयो हृदयदेशः लोमसु विषसंस्पृष्टेष्वपि बाधाभावात्। अत एतदुत्तरार्धहोमेन स्वस्यामेव दिशि एनं रुद्रं प्रीणाति स्वस्यामेव तमवयजते, पृथक् करोति। (१०) स वा अशीत्यां च स्वाहाकरोतीत्यादिना तिसृष्वशीतिषु स्वाहाकारः क्रियते। तत्र कस्मिन् प्रदेशे स्वाहाकार इति तत्राह जानुदघ्न इति जानुप्रमाण प्रदेशे सोऽध्वर्युः प्रथमं स्वाहा-करोति॥ उद्धारं भागम्। (१५) प्रथमानुवाके षोडशमन्त्राः तत्र चतुर्दशमन्त्रा-

नवयुत्य स्तौति (१६) नमो हिरण्यबाहवे—इत्यादिषु मन्त्रेषु प्रतिपाद्या देवता द्वन्द्विनः तत्र द्वयोर्द्वयो देवतयोः प्रतिपादनात् । दिशां च पतये नम इत्येतद्धिरण्यबाहवे सेनान्य इत्येतयोर्विशेषणम् । (१८) एतत् मन्त्रचतुष्टयम् (२२) एतानि देवानां हृदयानि यथा हृदयं प्रधानं तद्वदेतेऽपि प्रधानानि विचिन्वन्ति अभ्यवहारार्थमतस्तत् परिहाराय तेभ्यो नम इत्याह (२२) दिद्रापयिषति कुत्सितं कर्तुमिच्छति । (२४) अधिमासापेक्षया संवत्सरे सप्तर्तवोभवन्ति यैषा संख्यासम्पत्तिस्तामभिलक्ष्य भवति तथा विधा संख्यासम्पत्तिरत्र सम्पादिता भवति (२६) एतस्मिन् काले खलु एतेन होमेन इमान् पृथिव्यादिलोकानित ऊर्ध्वो भूत्वा रोहति स यजमानः (३२) तमेषां जम्भे दध्म इत्यत्र तमित्यस्य स्थाने अमुमिति प्रयुंज्यादिति कस्यचिन्मतं पूर्वपक्षयितुमाह अमुमेषामिति । अमुमिति तन्नामनिर्देशः । नामधेयग्रहणं तन्निर्देशसिद्ध्यर्थं भवति स च निर्देशो यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषामित्यभिधानादेव सिद्ध इति तथा न कुर्यात् जान्वादिमुखान्तेषु त्रिषु प्रमाणेषु होमकरणादित ऊर्ध्वं त्रिः कृत्वो रोहत्विति पुनश्च त्रिः प्रत्यवरोहति तथा सति षट्संख्या सम्पद्यते ।

एतच्छतरुद्रियं षष्ट्युत्तराणि त्रीणिशतानि यजूंषि पश्चात् त्रिशत्ततः पंचत्रिंशत् । अथावशिष्टानि यानि पंचत्रिंशद्विद्यन्ते तानि त्रयोदशो मासः सचाधिको मासः संवत्सरस्यात्मा मध्यभागः द्वे यजुषी पादौ प्रतिष्ठाशब्देन पादावुच्येते पुनर्द्वे यजुषी प्राणा इन्द्रियाणि यद्यपि ते प्राणा बहवः तथापि याभिः पंचत्रिंशद्दिनाधिकमासवत् संवत्सरान्तः पातित्वमभिदधत् तन्मासात्मकेन पंचत्रिंशता संवत्सरः त्ररणावरणादिविशिष्ट पुरुषाकारतया प्रदर्श्यते । शाण्डिलदृष्टेऽस्मिन्नग्नौ मध्यतो मध्यप्रदेशे एतावत्यः षष्ट्युत्तर शतत्रयसंख्याका इष्टका मन्त्रवत्य उपधीयन्ते । (४३)

चतुर्थ अध्याय

अथर्ववेद में रुद्र (भव और शर्व)

अथर्व ८।८।१२ में आता है कि साध्य, वसु, रुद्र तथा आदित्य आदि अपने-अपने जालदण्ड को उठाकर संसार में सर्वत्र विचरते हैं और कर्मानुसार जीवों को जालरूपी दण्ड से दण्डित करते हैं। जाल यह प्राणि-शरीर है। कर्मानुसार इन शरीरों में उन्हें फाँसते हैं। साध्यों का एक प्रकार का जालदण्ड है; वसु, रुद्र और आदित्यों का भी अपना-अपना जालदण्ड है। साध्य, वसु, रुद्रादि भिन्न-भिन्न प्राण हैं। मनुष्य में ये प्राण प्रवृद्ध होकर मानव-शत्रुओं, रोगाणुओं, कुविचारों आदि को विनष्ट करते हैं। इसी प्रकार ११वें मन्त्र में आता है—**"परः सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य"** हजारों मानव-शत्रु विनष्ट हो जायें और भव नामक रुद्र का (मत्यं) स्तम्भनकारी जाल इन शत्रुओं को बाँधकर पीस डाले।

मत्यं—मन स्तम्भे (दिवादि), तृणेड्ढु—तृह् हिंसायाम्।

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम्॥ अथर्व ८।८।१७

(अग्निना) यज्ञाग्नि द्वारा (समिद्धः) अत्यन्त प्रदीप्त व प्रचण्ड (घर्मः) ताप-युक्त (अयं होमः) यह यज्ञ (सहस्रहः) सहस्रों रोगाणुओं को हनन करने वाला है (च) और (पृश्निबाहुः) नाना वर्ण वाले पशु-रूपी बाहुओं वाला (भवः) भव नामक रुद्र तथा (शर्व) दुष्टों को नाश करने वाले हे शर्व! तुम दोनों (अमूं सेनां) दुष्टों व रोग-कृमियों की सेना को (हतम्) विनष्ट कर दो।

सहस्रहः—सहस्र+हन् डः।

पृश्निबाहुः—पृश्नयः विचित्रवर्णाः पशवः बाहुरूपा यस्य सः।

भव और शर्व ये रुद्र के दोनों रूप जहाँ प्राणियों के उत्पादक व संहारक हैं वहाँ ये रोगाणुओं, कृमि-कीटों आदि के नाशक भी हैं। इस मन्त्र से यह भी स्पष्ट है कि यज्ञाग्नि प्रदीप्त होकर रोगाणुओं आदि को विनष्ट करती है। अगले मन्त्र में शर्व के साथ इन्द्र का सहचार है—वहाँ आता है—

इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम्। अथर्व ८।८।१८

इन्द्र और शर्व ये दोनों अक्षुः व्याप्तुं शीलः—[स्वामी दयानन्द] अर्थात् व्यापने वाला फन्दा तथा जाल इन दोनों से शत्रुओं की सेना को मारें यह आदेश हुआ है। इन्द्र से पिण्ड में दिव्य मन, बाह्य क्षेत्र में विद्युत् आदि का ग्रहण हो सकता है।

अथर्व ८।८।२४ में आता है कि—**"नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि"**

(अमून्) उन रोगाणुओं व विषों को नीले तथा लाल वर्ण वाले विष से शरीर में विद्यमान उनके तनाव, फैलाव व उग्रता को समाप्त करता हूँ।

'नीललोहित' रुद्र का नाम है। उसका यह नाम रज और तम के अतिरिक्त विष-धारण करने के कारण भी पड़ा है। 'नीललोहित' विष ही है, इससे स्पष्ट है कि विष, विष को मारता है।

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ अथर्व ११।६।६

(भवाशर्वौ) मन्युप्रधान प्राणियों को उत्पन्न करने वाले भव तथा संहार करने वाले शर्व को (रुद्रं) रुद्र को (यः) जो (पशुपतिः) पशुओं का स्वामी महादेव है इन सबको (इदं) यह स्तवन (ब्रूमः) बोलते हैं, करते हैं और (याः) जो (एषां) इन देवों के (इषूः) अपने-अपने संहारक बाण हैं—जिन्हें हम (संविद्म) सम्यक् प्रकार से पहिचानते हैं (ताः) वे (नः) हमारे लिये (सदा) सर्वदा (शिवाः सन्तु) कल्याणकारी हों।

रुद्र के शस्त्र से बचने का उपाय

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निरवक्षद् दुरितादवद्यात्।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ अथर्व १२।२।४७

हे मनुष्यो ! (वह्निं) सबको वहन करने वाले (पप्रिं) सबके पालक (इमं) इस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशाली परमात्मा के (अन्वारभध्वम्) अनुकूल रहते हुए उद्योग करो (स) वह इन्द्र (वः) तुम्हें (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरितात्) दुष्टाचरण व कष्ट से (निरवक्षत्) निकालेगा, दूर रक्खेगा। (तेन) उस इन्द्र के साहाय्य से (शरुं) हिंसक वज्र को (अपहत) विनष्ट कर दो (तेन) उसी इन्द्र के बल से (रुद्रस्य) रुद्र के (अस्तां) फेंके हुए बाण को (परिपात) परे कर अपनी रक्षा करो।

पप्रिम्—प्रा पूरणे किन् आदृगमहन० पा० ३।२।७१।

निरवक्षत्— निर्+वहते लेंटि सिप्।

परिपात—परि पृथग्भावे पात—रक्षत।

अस्ताम्—असु प्रक्षेपणे—प्रक्षिप्ताम्।

सर्वसंहारक रुद्र के प्रहार से बचने का उपाय यह है कि समग्र ऐश्वर्य-सम्पन्न भगवान् का सहारा लिया जाये। और बुरे मार्ग से बचा जाये।

अथर्व १९।९।१०-११ में आता है **"शं रुद्रास्तिग्मतेजसः" "शं रुद्राः"**

अर्थात् तीक्ष्ण तेज वाले रुद्र शान्त हों और हमारा कल्याण करें।

यहाँ 'तिग्मतेजसः' पद से तीक्ष्ण तथा रौद्र रूप बनी हुई सूर्यकिरणों का ग्रहण किया जा सकता है।

अथर्व १६।१०।६ में **"शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः"** यह समुत्पन्न प्रजाओं की अभिलाषा वाला रुद्र भगवान् अपने अन्य अनुचर रुद्रों के साथ हमारा कल्याण करे।

भगवान् की रुद्र-शक्ति माता वागम्भृणी अर्थात् सर्वदेवमयी सर्वरूपा वाक् की अनुचरी है। यह मातृशक्ति स्वयं कहती है कि **"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि।"** अथर्व ४।३०।१ मैं रुद्रों, वसुओं तथा आदित्यों के साथ विचरती हूँ, ये मेरे अनुचर हैं। और जब पृथिवी पर ब्रह्म के द्वेषी असुरों का प्राबल्य हो जाता है तब **"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ"** अथर्व ४।३०।५ में रुद्र के हाथ में धनुष थमा देती हूँ और उसे आदेश देती हूँ कि 'शरु' ब्रह्मशक्ति के विनाशक, ब्रह्म के शत्रु नास्तिकों तथा असुरों का संहार कर दे। यह मातृशक्ति रुद्र आदि सब देवों की जननी है।

सर्वव्यापक रुद्राग्नि

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये।। अथर्व ७।६२।१

(यः) जो (रुद्रः) रुद्र-शक्ति (अग्नौ) अग्नि में (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के अन्दर (यः) जो (ओषधीः) ओषधियों में तथा (वीरुध आविवेश) विरोहणशील लता-वनस्पतियों आदि में प्रविष्ट है। (यः) जो (इमा विश्वा भुवनानि) इन सम्पूर्ण भुवनों को (चाक्लृपे) सामर्थ्यवान् बना रहा है (तस्मै रुद्राय अग्नये) उस रुद्र अग्नि को (नमः अस्तु) हमारा नमस्कार हो।

इस मन्त्र में रुद्र को अग्नि कहा गया है जो कि एक दूसरी अग्नि में प्रविष्ट है; इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह रुद्राग्नि सूक्ष्म है जो कि स्थूल अग्नि में प्रविष्ट है। इस दृष्टि से रुद्र रूप अग्नि को वे ही व्यक्ति देख पाते हैं जिनकी सूक्ष्म दृष्टि उद्घाटित हो चुकी है।

अपश्चादग्धान्नस्य भूयासम्। अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये।
सभ्यः सभां मे पाहि। ये च सभ्याः सभासदः। अथर्व १६।५५।५

(दग्धान्नस्य) अन्न जिसने दग्ध अर्थात् परिपक्व कर दिया है ऐसी उदराग्नि अर्थात् रुद्राग्नि के (अपश्चा) समक्ष (भूयासम्) होऊँ। (अन्नादाय) अन्न का भक्षण करने वाली (अन्नपतये) अन्न के स्वामी (रुद्राय अग्नये) रुद्र नामक उदराग्नि के लिए (नमः) नमस्कार है। (सभ्यः) हे सभ्याग्नि! (मे सभां) मेरी भोजनशाला की तू (पाहि) रक्षा कर (ये च) और जो (सभ्याः सभासदः) सभा में विद्यमान सभ्याग्नि वाले सभासद् विद्यमान हैं वे भी रक्षा करें।

अपश्चा—न+पश्चा अपश्चा—पश्चपश्चा च च्छन्दसि पा० ५।३।३३
नञ् समास। न पश्चाद्गामी प्रत्युत अग्रगामी

यहाँ रुद्र को अग्नि माना है; यह अग्नि उदराग्नि है। यह उदराग्नि जब भक्षित अन्न को दग्ध करके अर्थात् पूर्णरूप से पचा दे, तभी उस उदराग्नि के समक्ष जाना चाहिये। प्रायः मनुष्य रात-दिन अनेक बार खाते हैं, अध्यशन करते हैं, इसी कारण बीमार रहते हैं। अध्यशन व विपरीत अन्न-भक्षण से यह उदराग्नि विकृत हो रुद्राग्नि बन जाती है।

सभ्यः—यहाँ मन्त्र में 'सभ्यः' पद से पंचाग्नियों में एक सभ्य नामक अग्नि का ग्रहण किया गया है।

इसका विवेचन मनुस्मृति ३/१००,१८५ इन दो श्लोकों में तथा कुल्लूक भट्ट की व्याख्या में किया गया है। वहाँ हारीत का श्लोक दिया है—

"पवनः पावनस्त्रेता यस्य पंचाग्नयो गृहे। सायं प्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पंक्तिपावनः॥" पवन आवसथ्याग्निः, पावनः सभ्योऽग्निः शीतापनोदाद्यर्थं बहुषु देशेष्वपि विधीयते।

मोनियर विलियम लिखते हैं—**सभा**=An eating house.

अथर्व १९।१७।३ में आता है—**"सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु"** अर्थात् सोम रुद्रों के द्वारा मेरी दक्षिण दिशा से रक्षा करें।

सोमरस-परिपूर्ण ओषधियाँ उत्तर दिशा में होती हैं और रुद्रों की दिशा भी उत्तर दिशा मानी गई है। उत्तर दिशा से रुद्रशक्ति दक्षिण की ओर चलकर व्याधि-कृमि-कीटों के उपद्रव को शान्त करती है तो सोमरस तत्स्थान को रसादि से परिपूर्ण करता है।

गौओं पर रुद्र का प्रहार न हो—

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥

अथर्व ४।२१।७

(सूयवसे) उत्तम यवादि=(जौ) घास वाले प्रदेश में (रुशन्तीः) सुशोभित व सुन्दर डीलडौल वाली (सुप्रपाणे) उत्तम जलस्थान में (शुद्धाः अपः) शुद्ध जल (पिवन्तीः) पीती हुई (प्रजावतीः) श्रेष्ठ सन्तान वाली (वः) तुम गौओं को (स्तेनः) चोर (मा ईशत) अपने काबू में न करे और (अघशंसः) पाप-प्रशंसक भी तुम पर स्वामित्व न कर सके (रुद्रस्य हेतिः) रुद्र भगवान् का प्रहार (वः) तुम्हें (परिवृणक्तु) चहुँ ओर से वर्जे अर्थात् तुम पर रुद्र का प्रहार न हो।

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः॥ अथर्व ६।५९।३

मैं (विश्वरूपां) अनेक रूपों वाली (जीवलां) जीवन देने वाली (सुभगां) सौभाग्य प्रदान करने वाली अरुन्धती ओषधि को (अच्छा वदामि) अच्छा व श्रेष्ठ बताता हूँ (सा) वह ओषधि (रुद्रस्य) सर्वसंहारक रुद्र के (अस्तां) फैंके हुए (हेतिं)

आयुध व शस्त्र को (गोभ्यः) गौओं से (दूरं नयतु) दूर कर दे।

उपर्युक्त मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि यह अरुन्धती ओषधि है। इससे पूर्व के मन्त्र में अरुन्धती शब्द के साथ 'सहदेवी' पद आने से 'ह्विटनी' अरुन्धती को 'सहदेई' मानता है। यह सहदेई ओषधि अनेकों बीमारियाँ दूर करने में काम आती है। सर्पविष भी इससे दूर होता है। यहाँ इस मन्त्र में गौओं की बीमारियाँ दूर करने का विधान हुआ है।

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या।। अथर्व १२।४।५२

(ये) जो (गोपतिं) वशा गौ के स्वामी को (पराणीय) दूर एकान्त में ले जाकर (अथ) बाद में (आहुः) कहते हैं कि तू (मा ददा इति) वशा गौ को मत दे। इस प्रकार दान का वचन देकर तोड़ते हैं (ते) वे (अचित्त्या) अज्ञान से (रुद्रस्य) रुद्रदेव के (अस्तां) फैंके गये (हेतिं) आयुध के (परियन्ति) शिकार बन जाते हैं।

'वशा' पर 'बृहस्पति देवता' पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। 'वशा' वश में करने वाली शक्ति है जो कि चराचर प्राणियों व पदार्थों आदि में घट-बढ़ रूप में रहती है। इसके अनेकों रूप हैं। क्षेत्र-भेद से यह भिन्न-भिन्न रूप की हो सकती हैं।

वात-रोगों की औषध विषाणका

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः। विषाणका नाम वा असि
पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनीः। अथर्व ६।४४।३

हे विषाणके! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) रुद्राग्नि का मूत्र है अर्थात् ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गरमी के पश्चात् उत्पन्न वृष्टिजल से तू उत्पन्न हुई है, (अमृतस्य नाभिः) रोग-विनाश के कारण अमृत का केन्द्र है। (विषाणका नाम वा असि) तेरा नाम विषाणका है (पितॄणां मूलादुत्थिता) ऊष्म प्रदेश से उत्पन्न हुई तू (वातीकृतनाशनीः) वायु-रोगों को नष्ट करने वाली है।

यहाँ विषाणका ओषधि को रुद्र का मूत्र बताया गया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वायु-रोगों को नष्ट करने वाली ओषधियाँ गरम होती हैं। ग्रीष्म ऋतु में पार्थिव अग्नि प्रचण्ड होकर जब रुद्ररूप धारण कर मेघ बरसाती है उससे यह ओषधि उत्पन्न होती है और पृथिवी के ऊष्म भाग में यह होती है। पितरों को ऊष्म भाग भी कहते हैं—

"ऊष्म भागा हि पितरः" तै० ब्रा० १।३।१०।६

अर्थात् जो प्रदेश अत्यन्त ऊष्मा वाले होते हैं वे पितर कहलाते हैं। वहाँ यह ओषधि उगती है।

जल द्वारा रुद्र-सम्बन्धी व्रण की चिकित्सा—

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ।। अथर्व ६।५७।१

(इदं इत्) यह जल ही (वा उ) निश्चय से वह (भेषजं) औषध है। (इदं रुद्रस्य भेषजं) यह रुद्र [वैद्य] से उपदिष्ट औषध है अथवा रुद्राग्नि द्वारा उत्पन्न व्रण की औषध है (येन) जिस जल द्वारा (एकतेजनां) एक काण्ड वाले तथा (शतशल्यां) सैकड़ों शल्यरूपी मुखों वाले (इषुं) नासूररूपी बाण को (अपब्रवत्) बाहिर कर दिया जाता है।

यहाँ 'एकतेजना' तथा शत शल्यों वाला रुद्र का बाण अनेकों मुखों वाला भयंकर व्रण=नासूर है, इसकी औषध जल है, यह वेद बताता है।

एकतेजनाम्—एक+तिज निशाने पालने च ल्युः तेजनो वंशः।

शतशल्याम्—शतानि बहूनि शल्यानि शल्यात्मकानि मुखानि यस्याम् ताम्।

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ।। अथर्व ६।५७।२

उस नासूर को (जालाषेणाभि सिंचत) जल द्वारा चहुँ ओर से सींचो, (जालाषेण उपसिंचत) जलद्वारा या जलद्वारा निर्मित औषध द्वारा पास से सींचो। यह (जालाषं) जल (उग्रं भेषजं) उग्र औषध है। हे भगवन्! (तेन) उस जलरूपी औषध से (जीवसे) दीर्घ जीवन के लिए (नः मृड) हमें सुखी कर।

जालाषम्-जलाषमुदकनाम। निघं० १।१२ तेन निर्वृतं अण्।

शं च नो मयश्च नो मा च नः किंचनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ।। अ० ६।५७।३

(नः शं) हमें शान्ति प्राप्त हो (मयः च नः) और हमें सुख तृप्ति व प्रीणन प्राप्त हो, (नः) हमारा यह शरीर (किंचन) कुछ भी (मा अममत्) व्याधि से पीड़ित न हो। (नः विश्वं रपः क्षमा अस्तु) हमारा सकल पाप क्षमा हो अथवा हम सब पाप के फल को सह सकें ऐसी सामर्थ्य प्राप्त हो, यद्वा (विश्वं भेषजं) सब औषध हमारे पाप दूर करने में समर्थ हों, (सर्वं नो अस्तु भेषजम्) सब औषधें हमें सरलता से प्राप्त हों।

व्रात्य रुद्र

अथर्ववेद का १५वाँ काण्ड व्रात्य काण्ड कहलाता है। इस व्रात्य काण्ड पर हमें कोई प्राचीन भाष्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। चारों वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने भी इस काण्ड की व्याख्या नहीं की; भूमिकारूप में कुछ संकेत ही किया है, यथा—

"अत्र काण्डे व्रात्यमहिमा प्रपंच्यते। व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्काररहीनः

पुरुषः सोऽर्थाद् वेदविहिता यज्ञादिक्रियाः कर्तुं नाधिकारी। न च व्यवहारयोग्यश्चेत्यादि जनमतं मनसिकृत्य व्रात्योऽधिकारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलम्। किं बहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते

अर्थात् इस १५वें काण्ड में व्रात्य की महिमा का बखान किया गया है—"उपनयनादि संस्कारों से हीन मनुष्य व्रात्य कहा जाता है। ऐसा मनुष्य वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्य रूप से पतित माना जाता है। परन्तु यदि कोई व्रात्य महानुभाव देवों का प्रिय ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-तेज का मूल कारण हो तो वह व्रात्य यज्ञादि क्रिया का अधिकारी है और सर्वपूज्य देवाधिदेव भगवान् के तुल्य होता है।" इसी प्रकार आगे भी कुछ शब्दों द्वारा सायणाचार्य ने कुछ संक्षिप्त-सी टिप्पणी दी है जो कि इस गम्भीर व उच्चकोटि के विषय को स्पष्ट नहीं करती है। व्रात्य प्रायः संस्कारविहीन व्यक्ति को कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने **'व्रात्यम् असंस्कृतं'** यजु० ३०।८ ऐसा लिखा है।

किसी व्यक्ति को सुसंस्कृत उसी अवस्था में कह सकते हैं जबकि संस्कारों द्वारा उसकी शारीरिक, प्राणिक, मानसिक आदि शक्तियाँ सुघड़ बन जायें। वैदिक परम्परा के अनुसार जब एक बालक का गुरु-गर्भ के पश्चात् द्वितीय जन्म होता था, तभी उसे सुसंस्कृत व द्विज कहते थे। अतः संस्कारहीन व्यक्ति व्रात्य है और वह हेय है। परन्तु इस १५वें काण्ड में जिस व्रात्य का चित्रण किया गया है वह परमपिता परमात्मा तथा सर्वप्रकार के कर्तव्य-कर्मों से ऊपर उठे निर्लिप्त एक परम योगी का है। अतः मनुष्य की दृष्टि से दो प्रकार के मनुष्य व्रात्य हैं: एक तो अत्यन्त अघड़, अज्ञानी, महामूर्ख, संस्कारविहीन तथा सब दोषों से परिपूर्ण को व्रात्य कह सकते हैं। यह व्रात्य तो अत्यन्त अवांछनीय व हेय है। दूसरे व्रात्य सर्वोच्च कोटि के व्यक्ति होते हैं जो विद्वान्, ज्ञानी, महान् योगी होते हुए अत्यन्त विरक्त हो संसार से अलिप्त रहते हैं। वे किसी भी व्रत, नियम व यज्ञादि कर्मकाण्डों से ऊपर उठे होते हैं, ऐसे ये व्रात्य सदा भगवान् में तल्लीन रहते हैं। वे सामाजिक, राष्ट्रीय, नैतिक आदि किसी भी व्रत व नियम से बँधे नहीं होते। ऐसे ही व्रात्यों की महिमा का इस काण्ड में वर्णन हुआ है। प्रश्न यह है कि परम पिता परमात्मा को व्रात्य क्यों कहा गया है? इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि प्रलयोपरान्त इस संसार का जब तक निर्माण-कार्य चलता है, संसार का पूर्ण निर्माण नहीं हो जाता, तब तक ब्रह्माण्डरूपी पुर में स्थित उस परम पुरुष को व्रात्य कहा जा सकता है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड उसका शरीर है। उसका जब पूर्ण निर्माण ही नहीं हुआ तो संस्कार की तो बात ही दूसरी है। अथवा यहाँ यह व्रात्य शब्द त्रिगुणातीत तथा दिक्-काल से अनवच्छिन्न परमब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। पैप्पलाद संहिता में **"व्रात्यो वा इदमग्र आसीद्"** अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में यह परमब्रह्म व्रात्य था। अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड का प्रारम्भ भी इन्हीं शब्दों से हुआ है। वहाँ

आता है **"व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्"** अथर्व १५।१।१ वह व्रात्य गतिमान हुआ तो उसने अपने प्रजापति-रूप को प्रेरित किया। उस परब्रह्म का प्रजापति-रूप वह है जो प्रजनन करता है, सृष्टि का निर्माण करता है। अगला मन्त्र है—**"स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्।"** १५।१।२

उस प्रजापति ने अपने अन्दर सुवर्ण को अन्तर्निहित देखा तब उसे उसने प्रकट किया। इस प्रजापति ने अपने अन्दर प्रच्छन्न रूप में निहित सुवर्ण को उत्पन्न किया तो यह प्रजापति हिरण्यगर्भ कहलाया। **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे॰** अथर्व ४।२।७ मन्त्र में सुवर्णीय आभामण्डलवाले प्रजापति की हिरण्यगर्भ संज्ञा हो जाती है। अगला पदविन्यास इस प्रकार हुआ—

"तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत।" १५।१।३

उस परम ब्रह्म में हिरण्यरूप में जो तत्त्व प्रसृत था वह एक हुआ अर्थात् एकत्रित हुआ। एकत्रित होने पर उसका एक रूप निखर आया क्योंकि हिरण्यमय तत्त्व संगठित होकर एक सुवर्णीय चमकीले देदीप्यमान रूप में उभरा। अतः वह देखने में बड़ा सुन्दर मोहक (ललाम) लग रहा था। इसे ही सांख्य परिभाषा में महद् ब्रह्म कहा है, यही आदि बुद्धितत्त्व है। यही सृष्टि के घटकों में ज्येष्ठ है। क्योंकि यह आगे सृष्टि का उत्पादक बनता है अतः इसकी संज्ञा ब्रह्मा है। यह तपता है, इससे सत्य सत्ता (मैटर) का आविर्भाव होता है। **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत"** ऋग् १०।१९०।१ मन्त्र में तप से ऋत और सत्य इन दो की जो उत्पत्ति दर्शायी है और यहाँ उपर्युक्त मन्त्र में केवल एक सत्य ही का परिगणन किया है, इस विरोध का परिहार कई विद्वान् ऋत और सत्य में अविनाभाव सम्बन्ध मानकर ऋत का भी ग्रहण करते हैं, पर हमारे विचार में सृष्टिक्रम की इस अवस्था में दोनों की सत्ता होते हुए भी यहाँ किसी विशेष प्रयोजन से सत्य का ही ग्रहण किया गया है क्योंकि यहाँ परमात्मा को 'व्रात्य' कहा है। व्रात्य में व्रत व नियमों का अभाव है क्योंकि ये व्रत-नियम आदि, प्रकृति-घटक शरीर-घटकों से सम्बन्ध रखते हैं। शारीरिक घटक सब प्रकृति=मैटर की उपज हैं। इसलिए यहाँ सत्य, (स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणं त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मकमव्यक्तम् स्वामी दयानन्द), ग्रहण किया है। व्रत-नियमों द्वारा इन्हीं घटकों को सुघड़ व संस्कृत किया जाता है। सृष्टिरूपी वृक्ष की अनन्त प्रशाखायें हैं, सभी का दिग्दर्शन कराना यहाँ अभीष्ट नहीं है। आगे मन्त्र में कहा—

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत्। १५।१।४

दश संस्काररहितः। षोडश वर्षादूर्ध्वं अकृतव्रतबन्धो भ्रष्टगायत्रीको वा इति भरतः।

वह बढ़ा, वह महान् हुआ; इसे ही महादेव कहा गया। यहाँ कुछ प्रश्न पैदा होते हैं—कौन बढ़ा और बढ़ने का क्या तात्पर्य है और वह सृष्टिक्रम में किस स्थिति का सूचक है? इत्यादि सभी प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर यह है कि जिस प्रकार एक पक्षी का अण्डा सेने से वृद्धि को प्राप्त करता है उसी प्रकार यह हिरण्यमय महदण्ड बढ़ता है और वृद्धि की एक विशेष स्थिति में आकर वह अण्डा फूटता है जिससे सूर्य, चन्द्रमा आदि लोक-लोकान्तरों के रूप में वह छितरा जाता है। यह महादेव सृष्टिक्रम में फूला हुआ, बढ़ा हुआ, छितरा जाने के लिए उद्यत अण्डा ही है। अण्डे की यह अवस्था महादेव की है जिसमें अन्य देव अभी पैदा नहीं हुए हैं। अब अगली उत्पत्ति अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि की होती हैं। कहा है—

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् । १५।१।५

वह अग्नि, इन्द्र आदि देवों का ईश हुआ जिससे वह ईशान कहा गया। यह अवस्था भी अण्डे की है। अभी यह अण्डा फूटा नहीं है परन्तु इन्द्रादि सब देवों की सत्ता या उस एकव्रात्य परमपिता के अंगों के रूप में इन्द्रादि देवों की निर्मिति इस अण्डे में हो चुकी है जिसका वह व्रात्य ईशान बना है। आगे कहा कि—

"स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः । १५।१।६

वह अद्वितीय व्रात्य हुआ क्योंकि सृष्टिक्रम में अगली उत्पत्ति में अन्य अनेक व्रात्यों की सत्ता हो जायेगी। इसी दृष्टि से यहाँ मन्त्र में उस परमात्मा को 'एक-व्रात्य' कहा है। उस एकव्रात्य ने धनुष उठाया, यही इन्द्र-धनुष नाम से प्रख्यात हुआ। धनुष शक्ति-बल व वज्र का प्रतीक है। क्यों धनुष हाथ में लिया? वह इसलिए कि इसके प्रहार से यह अण्डा फूटेगा और सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदि लोक-लोकान्तर इस अण्डे से पृथक् होते चले जायेंगे। इन्द्र बल का प्रतीक है 'इरांदृणाति' 'इरा' यह अण्डा ही है जिसका वह विदीर्ण करता है। अन्य सब देवों की शक्तियाँ इसी में समाविष्ट हैं। ऋग्वेद के वागम्भृणी सूक्त में वाक् कहती है **"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।"** ब्रह्म के द्वेषी के विनाश के लिए मैं ही रुद्र को धनुष प्रदान करती हूँ। अतः रुद्र का धनु इन्द्र अर्थात् बल व ओज का शस्त्र है। महदण्ड इस धनुष के प्रभाव से फूट चुका है। इस ब्रह्माण्ड में जो रजस्तमोमयी सृष्टि है उसी का अगले मन्त्र में दिग्दर्शन कराया गया है अगला मन्त्र है—

नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् । १५।१।७

उस रुद्र का उदर नीला और पीठ लाल है।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र को 'नीललोहित' कहा गया है, उसका ही यह मन्त्र व्याख्यान है। यहाँ मन्त्र में रुद्र को मानवीय रूप देकर समझाया गया है। नील तमोगुण का वाचक है और लाल रजोगुण का। रुद्र-संहार का देवता है, अतः उसमें संहारकारक तम और रज का प्राधान्य है।

विष्णु सृष्टि-स्थिति का कारण है, यज्ञ-रूप है। यज्ञ-रूप सृष्टि की स्थिति

सत्त्व से ही सम्भव है। इसलिये विष्णु को सत्त्वरूप माना गया है। यहाँ मन्त्र में रुद्र को मानवरूप (Personify) में कल्पना कर तम को उसका उदर इस दृष्टि से बताया गया है कि मनुष्य जब अन्न खाता है तब तम की प्रधानता होती जाती है। अतः भोजन के बाद निद्रा मनुष्य को आ घेरती है। निद्रा ही तम की परिचायिका है। लोहित अर्थात् लाल रंग रज का द्योतक है। रजोगुण में क्रिया है। अतः रुद्र क्या है? रज और तम का सम्मिलित रूप। अगला मन्त्र है—

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन।
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति॥ १५।१।८

ब्रह्मवादियों का कहना है कि वह रुद्र नील अर्थात् तमोगुण से अप्रिय शत्रु को ढक देता है और लोहित अर्थात् रजोगुण से द्वेष करनेवाले को बेध देता है। जो पापी दुष्कर्मा व्यक्ति होते हैं उनकी बुद्धि को तम से आच्छादित कर देता है। यह तम का प्रभाव मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी, सरीसृप आदि प्राणियों में तारतम्य-रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह एक प्रकार से कर्मफल का विधान है। दूसरे कई दुष्कर्मा व्यक्ति होते हैं जिनमें रजोगुण अधिक सक्रिय है, वे एक-दूसरे की हिंसा करते हैं। एक प्रकार से रजोगुण रजोगुण को ही काट रहा होता है और यदि वे रजोगुणी किसी सात्त्विक पुरुष को पीड़ित करते हैं या उसकी हिंसा करते हैं तो यह उसके किसी विगत जन्म का कर्मफल है, ऐसा हमें समझना चाहिये। परन्तु मनुष्य को चाहिये कि वह सत्त्वप्रधान रजोगुण द्वारा रज और तम तथा उनके सम्मिलित रूप को विनष्ट करता रहे। इसी में जीवात्मा की स्वतन्त्रता है। वह अपने ऊपर आते हुए रज और तम के प्रहारों को परे फैंकता रहे। परमात्मा का न कोई मित्र है और न कोई शत्रु है; **"गुणा गुणेषु वर्तन्ते"** की स्थिति है, और गुण सक्रिय है परमात्मा के स्पर्श से व विधि-विधान से। अतः दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वही सब-कुछ कर सकता है और वही सब-कुछ कर रहा है।

इस प्रकार १५वें काण्ड के इस प्रथम सूक्त में रुद्र के व्रात्यरूप का उद्घाटन हुआ है। परम ब्रह्म की विष्णु, इन्द्र आदि अनन्त शाखाओं में रुद्र भी उसकी एक शाखा है जो कि रजस्तमोमयी है। इसमें किसी प्रकार का व्रत, नियम आदि नहीं चलता। इसी भाँति रज-तमोबहुल व्यक्तियों में भी कोई व्रत, नियम व संस्कार आदि की सत्ता होती नहीं। पर त्रिगुणातीत भगवान् तथा त्रिगुणातीत योगियों में भी किसी भी प्रकार के व्रत, नियम व संस्कारों की आवश्यकता ही नहीं होती; इस कारण वे भी व्रात्य कहलाते हैं। दोनों कोटियों में व्रात्य नाम की समता है पर उनके हेतु, प्रेरणा व मूल में भिन्नता है। आगे सब दिशाओं में सृष्टिगत प्राणों का उत्थान तथा उनका सक्रिय होना दर्शाया गया है, यह सब व्रात्य रुद्र की महिमा है। इस व्रात्य रुद्र के सर्वांग परिचय के लिए उनका विवेचन भी आवश्यक है।

पर इस ग्रन्थ का कलेवर अति विशाल हो जायेगा जिसका प्रकाशन हमारी शक्ति से बाहिर है इसलिये हम यहाँ रुद्रदेव के भव, ईशान आदि रूपों को जोकि दिशाओं व अन्तर्दिशाओं के रक्षक नियुक्त हुए हैं, संक्षेप में दर्शाकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आता है कि **"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिरिति"** अर्थात् एक ही आदिरुद्र है, उसके अतिरिक्त दूसरा नहीं है जो अपनी भव, ईशान आदि शक्तियों द्वारा इन लोकों का रक्षक व शासक बना हुआ है। मन्त्रों में शर्व, पशुपति आदि रुद्र-रूपों को इष्वास अर्थात् धनुर्धर बनाकर अनुष्ठाता व रक्षक बनाया है।

सर्वप्रथम इन भवादि अनुष्ठाताओं को तालिका में निम्न प्रकार दर्शाते हैं—

दिशा	अनुष्ठाता (इष्वास)
१. प्राची	भव
२. दक्षिणा	शर्व
३. प्रतीची	पशुपति
४. उदीची	उग्र
५. ध्रुवा	रुद्र
६. ऊर्ध्वा	महादेव
७. सर्व अन्तर्देश	ईशान

साँप-बिच्छू-कृमि-कीटादि प्राणि-जगत् का उद्भवकर्ता भव है। पूर्व दिशा, तत्संलग्न अवान्तर दिशा में रुद्र की भव-शक्ति से ये प्राणि-समूह उत्पन्न होते हैं। ये साँप-बिच्छू आदि प्राणी जहाँ संहारक हैं वहाँ ये रक्षक भी हैं। पृथिवी के विष को ग्रहण कर पृथिवी को निर्विष करते हैं जिससे ओषधि-वनस्पतियाँ सुस्वादु बनती हैं। इस दृष्टि से ये रक्षक भी हैं। पर्वा हवा चलती है, वर्षा के साथ इन जीव-जन्तुओं की भरमार हो जाती है। इन प्राणियों द्वारा जब मनुष्यादि प्राणियों की मृत्यु में वह रुद्र कारण बनता है तथा प्रलय के समय जब वह लोक-लोकान्तरों का विनाश करता है तब यह शर्व कहलाता है। यह दक्षिण दिशा है जिसका अधिपति यमराज माना गया है। पश्चिम दिशा का सम्बन्ध पशुपति से है। पशुओं का पालन-पोषण अन्न पर निर्भर है। अन्नों का परिपाक पच्छवा हवा पर निर्भर है। इसी कारण 'प्रतीची दिग्वरुणो०' मन्त्र में अन्न को पश्चिम दिशा का इषु बताया है। उत्तर दिशा में रुद्र का उग्ररूप होता है, क्योंकि उत्तर दिशा रुद्र की अपनी दिशा है। परन्तु यहाँ व्रात्य प्रकरण में नीचे की ध्रुव दिशा में रुद्र को स्थान दिया गया है। रुद्र का रौद्रभाव रोने-रुलाने में है। शरीर के नीचे के अंग ही प्रमुख रूप से मनुष्य को रुलाते हैं। दूसरी ओर ये अंग मनुष्य के रक्षक भी हैं। ऊर्ध्व दिशा में महादेव है और सब अन्तर्देशों में ईशान धनुर्धारी बनकर खड़ा है। जिस क्रम से

दिशाओं का परिगणन किया गया है उससे प्रतीत होता है कि क्रमश: ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य और वायव्य अन्तर्दिशाएँ ली गई हैं।

अथर्ववेद का यह १५वाँ काण्ड व्रात्य काण्ड कहलाता है। इसमें परमात्मा का रुद्र-सम्बन्धी व्रात्य रूप प्रमुख रूप से उजागर किया गया है, तदनुसार महान् योगी को भी व्रात्य कहा गया है। इस सम्बन्ध में श्री सम्पूर्णानन्द जी ने इस १५वें काण्ड की भूमिका में सामान्य व्रात्य के सम्बन्ध में जो लिखा है वह निम्न प्रकार है—"साधारणत: उस मनुष्य को व्रात्य कहते हैं जिसका जन्म द्विजकुल में हुआ हो पर जिसका उपनयनादि संस्कार न हुआ हो। इस भाष्य में भी वही अर्थ मान लिया गया है। परन्तु इस शब्द के और भी कई अर्थ थे, और हैं। अति प्राचीनकाल में आर्यों की कुछ अर्द्धसभ्य शाखायें थीं जो बस्तियों के बाहर रहती थीं। क्रमश: वे हमारे समाज में मिल गईं, परन्तु उस आदिमकाल में उनका रहन-सहन अन्य लोगों से भिन्न था और वे वैदिक संस्कारों को नहीं मानते थे। उनको व्रात्य कहते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण में उनका इस प्रकार का वर्णन मिलता है—"जो व्रात्य प्रवास करते हैं, न वे ब्राह्मणोचित आचार का पालन करते हैं, न कृषि या वाणिज्य करते हैं। यह विष रचनेवाले (व्रात्य) ब्राह्मणों के खाने के लिए रक्खा हुआ जनपद में उत्पन्न अन्न खा जाते हैं। सीधी बात को दुरुक्त कहते हैं, निरपराध को मारते हैं, अदीक्षित होते हुए सभी दीक्षितों जैसा बोलते हैं। पगड़ी पहनते हैं, हाथ में चाबुक रखते हैं, रथ पर चलते हैं, काले-श्वेत ऊन को धारण करते हैं, चाँदी के गहने पहिनते हैं। यही व्रात्य का धन है। कुछ विद्वान् इस शब्द का एक और अर्थ सूचित करते हैं। उनके मत से प्राचीनकाल में योगियों के कई संघ थे जो व्रात्य कहलाते थे। ये लोग भी वैदिक संस्कारों को नहीं मानते थे। पगड़ी आदि अनागरिक वेषभूषा को धारण किये हुए ये लोग इधर-उधर परिव्रजन किया करते थे। रुद्र इनके उपास्य थे। उपासक और उपास्य के तादात्म्य को ध्यान में रखकर रुद्र को भी व्रात्य कहा जाता है और रुद्र के लिए उष्णीषी कपर्दी जैसे नाम वेद में भी आये हैं। इस अध्याय में भी परमात्मा के लिए रुद्र, भव, शर्व, ईशान जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। व्रात्य की पगड़ी, रथ, वस्त्र आदि की भी चर्चा है। आजकल भी साधु-संन्यासी साधारण लोगों से भिन्न वेष-भूषा धारण करते हैं और शास्त्रोक्त संस्कारों से दूर रहते हैं।"

वेद में वर्णित व्रात्य का जैसा स्वरूप है उससे स्पष्ट है कि यह महान् योगी है पर अपने रहन-सहन, वेष-भूषा तथा व्यवहार आदि से बहुत ही निकृष्ट-सा प्रतीत होता है। वेद कहता है कि ऐसे व्रात्य की निन्दा नहीं करनी चाहिये, और घर में आने पर उसका सुचारु रूप से आतिथ्य-सत्कार करना चाहिये। यदि राजा व गृहस्थी उसकी निन्दा करेगा और आतिथ्य-सत्कार आदि नहीं करेगा तो उसका लोक व परलोक दोनों नष्ट हो जायेंगे। और यहाँ तक कहा कि **"अथ यस्य व्रात्यो व्रात्य-**

ब्रुवो नाम बिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत्" अर्थात् "नामधारी अपने को व्रात्य कहनेवाला पर वस्तुतः जो ब्रह्मवेत्ता व्रात्य नहीं है, अतिथि बन घर में आ जाये क्या उसे निकाल देवे ? नहीं, निकाले नहीं, उसका भी आतिथ्य-सत्कार करे, यह वेद का आदेश है। व्रात्य यदि आतिथ्य-सत्कार से प्रसन्न हो जाये तो वह यजमान के लिए जो मुँह से निकाल देगा वह हो जायेगा।" **"यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनावरुन्धे"**। व्रात्य-सम्बन्धी अन्य वर्णनों से यह भी ज्ञात होता है कि यह महान् योगी व्रात्य जिस-जिस प्रदेश में व जिस-जिस दिशा में जाता है, उस-उस प्रदेश व दिशा का सर्व प्रकार का कल्याण होता जाता है।

सच्चा व्रात्य बनना आसान नहीं है। सामान्य जन को तो व्रत, नियम व संस्कारों में आबद्ध होना ही चाहिये। व्रात्य के सम्बन्ध में लिखने को तो बहुत-कुछ है पर हम यहीं समाप्त करते हैं। **"नमो व्रात्याय०"** यजु० १६।३९

व्रात्य का पूर्ण विवेचन एक प्रकार से समग्र ब्रह्माण्ड में प्रसृत भागवत शक्तियों का ही विवेचन है। इन सबका विस्तार से आकलन अति दुष्कर है। हम यहाँ केवल व्रात्य के गोप्ता अर्थात् रक्षक तथा अनुष्ठाताओं को तालिका में दर्शा देते हैं—

दिशा	**गोप्ता**	**अनुष्ठाता**
प्राची	वसन्त ऋतु के दो मास	बृहत्—रथन्तर (साम)
दक्षिणा	ग्रीष्म के दो मास	यज्ञायज्ञिय—वामदेव्य (साम)
प्रतीची	वर्षा के दो मास	वैरूप—वैराज (साम)
उदीची	शरद् के दो मास	श्यैत—नोधस (साम)
ध्रुवा	हेमन्त के दो मास	भूमि—अग्नि (साम)
ऊर्ध्वा	शिशिर के दो मास	द्यौ—आदित्य (साम)

ये प्राची आदि दिशाओं के गोप्ता तथा अनुष्ठाता, सम्पादक व कार्य-निर्वाहक तालिका में दर्शाये हैं। अब प्राची आदि दिशाओं के अन्तःप्रदेशों के अनुष्ठाताओं को भी तालिका में इस प्रकार रख सकते हैं—

अन्तर्देश	**अनुष्ठाता**
प्राची का	भव
दक्षिणा का	शर्व
प्रतीची का	पशुपति
उदीची का	उग्र
ध्रुवा का	रुद्र
ऊर्ध्वा का	महादेव
सब अन्तर्देशों का	ईशान

ऊपर की तालिका में प्राची आदि दिशाओं के गोप्ता ऋतुएँ हैं। प्रत्येक ऋतु दो-दो मासों की है। उन मासों में या उस-उस ऋतु में जो अनुष्ठाता अर्थात्

व्रात्य-सम्बन्धी कार्य के निर्वाहक हैं वे भिन्न-भिन्न साम हैं, अर्थात् प्राण-शक्तियाँ हैं। वे प्राण-शक्तियाँ उन-उन मासों में उत्पन्न हो सकल जगत् के कार्यों का निर्वाह करती हैं। उदाहरण रूप में एक दिशा को यहाँ दर्शाते हैं—भगवान् व्रात्य को मनुष्य-रूप में कल्पना कर उसकी प्राची दिशा सामने की दिशा है, प्रारम्भ की दिशा, आगे बढ़ने की दिशा है। उसमें सर्वप्रथम वसन्त ऋतु आती है। इस वसन्त ऋतु में बृहत् और रथन्तर ये दो साम सक्रिय होते हैं। बृहत् साम द्युलोक का साम है और रथन्तर साम पृथिवी का साम है। वसन्त ऋतु में ओषधियाँ, वनस्पतियाँ खिलती हैं, फूलती-फलती हैं। द्युलोक का बृहत् साम—प्राणतत्त्व पृथिवी की ओर आता है और यहाँ पृथिवी का रथन्तर साम उस प्राण-तत्त्व को ग्रहण कर ओषधि-वनस्पति आदि को नाना रसों में परिणत कर देता है। इसी दृष्टि से रथन्तर की ऋषियों ने 'रसन्तमं' यह निरुक्ति भी दी है, अर्थात् इस रथन्तर साम द्वारा पृथिवी पर रसों की भरमार हो जाती है। इसी भाँति अन्य दक्षिणा आदि दिशाओं की व्याख्या की जा सकती है। आगे यह दर्शाया गया है कि प्राची आदि दिशाओं के अन्तर्देशों में देवताओं ने रुद्र के भव, शर्व आदि रूपों को धनुर्धारी रूप में अनुष्ठाता नियुक्त किया। इसका परिणाम यह निकला कि इस रहस्य को जो व्यक्ति जान जाता है तो उसकी भव, शर्व आदि हिंसा नहीं करते। न केवल उस व्यक्ति की, प्रत्युत उसके सम्बन्धी तथा पशुओं आदि की भी ये हिंसा नहीं करते। साँप, बिच्छू, कृमि-कीटादि प्राणिजगत् का उद्भवकर्ता भव है। इसी भव को शतपथ ब्राह्मण में पर्जन्य कहा है। पर्जन्य 'परो जनयिता' प्राणियों को उत्पन्न करनेवाला है। ये साँप-बिच्छू आदि प्राणी जहाँ संहारक हैं, वहाँ ये रक्षक भी हैं। पृथिवी के विष को ग्रहण कर पृथिवी को निर्विष करते हैं जिससे ओषधि-वनस्पतियाँ सुस्वादु बनती हैं। इस दृष्टि से ये रक्षक भी हैं। अतः प्राची दिशा अर्थात् प्रारम्भकाल में ऊर्ध्व के बृहत् साम से सांप-बिच्छू आदि प्राणिजगत् तथा ओषधि-वनस्पति आदि अन्नों, फूल-फलों का बीज वपन हो जाता है। आगे आती है गरमी। इस ग्रीष्म ऋतु में प्राणियों तथा अन्नों आदि का सब रस वह शर्वरूप रुद्र खींच लेता है। यह एक प्रकार की हिंसा ही है। यह रुद्राग्नि जब अत्यधिक बढ़ जाती है तथा सीमा को लाँघ जाती है तब यह शर्व कहलाता है। प्रलय के समय तो यह लोक-लोकान्तरों को दग्ध कर ही देता है। वर्षा ऋतु का अनुष्ठाता पशुओं का अधिपति पशुपति है। वर्षा ऋतु में घास व अन्नादि की भरमार हो जाती है इससे यह रुद्राग्नि पशुओं के पालन-पोषण में सहायक होने से पशुपति कहलाती है। उत्तर दिशा में रुद्र का उग्ररूप है। यहाँ व्रात्य-प्रकरण में नीचे की ध्रुव दिशा के अन्तर्देश में रुद्र को धनुर्धारी बनाकर खड़ा किया है। नीचे पृथिवी पर ओषधियों व अन्न की उत्पत्ति होती है। वह व्रात्य जब **'स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्'** ध्रुव दिशा में चलता है तो उसके पीछे-पीछे भूमि उसकी ओषधि-वनस्पति वानस्पत्य, तथा

लता आदि वीरुध भी चल पड़ते हैं। अतः ध्रुवा दिशा में ये सब होते हैं। पशु इन ओषधि-वनस्पति आदि अन्नों का भक्षण करते हैं तो रुद्र इन पशुओं में अनुगत होकर पशुओं के माध्यम से इनका भक्षण कर रहा होता है। कहा भी है—

स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा। ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमति य एवं वेद। अथर्व १५।१४।११।१२

वह व्रात्य जब पशुओं की ओर गया तो रुद्र बनकर गया, ओषधि-अन्नादि को अपना भक्ष्य बनाकर। इस रहस्य को जो जानता है वह अन्नादि रूप में विद्यमान ओषधियों के माध्यम से अन्न खाया करता है। इसी भाँति ऊर्ध्व दिशा का महादेव है। ऊर्ध्व दिशा में द्युलोक तथा आदित्य है। अथर्व १५।४।१७ और व्रात्य के चलने पर ऋत, सत्य, सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्र भी चल पड़ते हैं १५।६ इस दृष्टि से महादेव के स्वरूप का विस्तार किया जा सकता है। इसी भाँति शर्व तथा उग्र आदि रुद्र-रूपों का स्वरूप उद्घाटित होता है। अतः देवता जिस व्यक्ति की रक्षा करना चाहते हैं उसकी पूर्वादि दिशाओं में रुद्र के भव, शर्व, उग्र व महादेव आदि रूपों की नियुक्ति कर देते हैं। किस ऋतु में किस अवान्तर प्रदेश में दो मासों के अन्तराल में किस-किस की नियुक्ति होती है, यह सब इस व्रात्य-सूक्त में दे रखा है। वे रुद्ररूप नियुक्त होकर रक्षा करते हैं। प्रतिदिन दुर्घटनाएँ हो रही हैं, पृथिवी पर युद्ध-स्थितियाँ बनी हैं; उनमें कुछ बच जाते हैं, कुछ मारे जाते हैं, यह क्यों ? यह इसलिये कि कुछ सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जोकि अमुक व्यक्ति की सभी दिशाओं से रक्षा कर रही हैं; ये रुद्र के ही विभिन्न रूप हैं। इसलिये हे भक्तो ! उठो, सोने का समय नहीं है, रणभूमि में बिगुल बज चुका है, रणभेरी का नाद दूर आकाश से श्रवणगोचर हो रहा है। इससे पूर्व कि वह वज्रपात तुम पर आकर पड़े, उस धनुर्धारी रुद्र को अपनी रक्षा का कवच बना लो।

मन्यु (रुद्र) द्वारा ब्रह्मपुर का निर्माण

यजुर्वेद के १६वें अध्याय तथा शतपथ ब्राह्मण के ९वें काण्ड के शतरुद्रिय प्रकरण में हम दर्शा चुके हैं कि प्रजापति का मन्यु ही रुद्र है। अब अथर्व ११।८ सूक्त के आधार पर यह दर्शाते हैं कि मन्यु अर्थात् रुद्र अपनी जाया आकूति से मिथुनभाव को प्राप्त हो क्रमशः देवों का तथा ब्रह्मपुर का निर्माण करता है। मन्यु प्रजापति की वह आन्तरिक आग्नेय शक्ति है जिससे सृष्टि-निर्माण के समय प्रकृति की साम्यावस्था वैषम्य को प्राप्त होने लगती है। मन्यु के कारण ही सत्त्व, रज और तम इन त्रिगुणों में परस्पर क्षोभ, संघर्ष व टकराव पैदा हो जाता है। परन्तु यह मन्यु उसी अवस्था में सक्रिय होता है जब प्रजापति सृष्टि-निर्माण का संकल्प कर लेता है। शास्त्र का यह वचन है कि **"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"** प्रजापति का ईक्षण ही संकल्प है। अथर्व ११।८।१ में आता है कि **"यन्मन्युर्जायामवहत्**

संकल्पस्य गृहादधि'' अर्थात् मन्यु ने संकल्प के घर से जाया का वहन किया। संकल्प का घर प्रजापति है, सभी देवों का घर प्रजापति है। अब प्रश्न पैदा होता है कि मन्यु की जाया कौन है? वह आकूति है। प्रायः विद्वान् आकूति का अर्थ संकल्प करते हैं, परन्तु यह अधूरा अर्थ है। आकूति का अर्थ है संकल्प से उत्पन्न सोत्साह क्रिया। संकल्प तो कर लिया, पर तदनुसार उद्यम व क्रिया नहीं की तो उससे कुछ भी नहीं पैदा होगा। अतः संकल्प के घर से आने वाली कन्या आकूति सोत्साह क्रिया है। इस आकूति से जब मन्यु का सम्पर्क होता है तो प्रकृति में तोड़-फोड़ व संघर्ष होकर सर्वप्रथम भगवान् की आद्य शक्तिरूप या बीजरूप में निम्न दस देवता उत्पन्न होते हैं—

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ अथर्व ११।८।४

अर्थात् प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक् तथा मन, ये दस देवता सर्वप्रथम उत्पन्न होते हैं और ये भी आकूति से युक्त होते हैं, क्योंकि ये प्राण-अपान आदि सृष्टि का निर्माण करते हैं। ये दस देवता अग्नि-इन्द्रादि देवों से पहिले पैदा होते हैं। अथर्व ११।८।३ में कहा भी है **''दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा''**। मन्यु का जब आकूति से सम्पर्क होता है तो सत्त्व, रजस्, तमस् आदि त्रिगुण में क्षोभ उत्पन्न होकर महान् अर्णव उत्पन्न होता है। मनुस्मृति के आधार पर यही सुवर्णीय महदण्ड है, यही हिरण्यगर्भ है। इसी हिरण्यगर्भ में प्राणापानादि बीजरूप में निहित हैं। आगे सृष्टि-निर्माण का कर्म तथा तप यह चल ही रहा है। अतः इस महदण्ड में सर्वप्रथम तप तथा कर्म इन दो की सत्ता होती है। अथर्व ११।८।२ में कहा भी है **''तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे''**। यह तप ही प्रजापति का अभीद्ध तप है जो **'लोकादिमग्निं०** कठ० उप० लोकों की आदिभूत अग्नि है, यही सर्वप्रथम मैटर को ऋत और सत्य में विभाजित करती है। त्रिगुणात्मक महदण्ड अभीद्ध अग्नि के कारण हिरण्यमय हो जाता है और यह संवत्सर-पर्यन्त परिप्लवन करता हुआ अहोरात्र अर्थात् ज्योतिर्मय तथा अन्धकारा-कृत तत्त्वों को पृथक्-पृथक् करता जाता है जिनसे सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्ड तथा भूलोकादि अन्धकारावच्छिन्न लोकों का निर्माण होता है।

इस महार्णव में दूसरा कर्म है जो कि मन्यु व आकूति के सम्पर्क से सत्त्वादि त्रिगुणों में प्रथम क्षोभ तत्पश्चात् अन्य निर्माणरूप में दृष्टिगोचर होता है। आगे मन्त्र में यह पूछा गया है कि जिस समय न ऋतुएँ थीं और धाता, बृहस्पति, इन्द्राग्नी, अश्विनौ आदि देवता भी नहीं पैदा हुए थे तो सबमें ज्येष्ठ किसे माना जाये? इसका उत्तर मन्त्र में इस प्रकार दिया है—

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत॥ अथर्व ११।८।६

इस महान् अर्णव में प्रारम्भ में तप और कर्म ही थे और इन दोनों में भी तप कर्म से उत्पन्न हुआ है अतः सबसे ज्येष्ठ कर्म ही है। यहाँ तप वह अग्नि है जो त्रिगुणों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुई है। त्रिगुणों का परस्पर टकराना ही कर्म है। अथवा आकूति उत्साह-युक्त क्रिया है। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में उत्साह-युक्त क्रिया को आकूति माना है, और यह आकूति प्रजापति के संकल्प के साथ ही सत्ता में आती है। अतः कर्म की सत्ता अग्नि-इन्द्र आदि देवों से पूर्व ही होती है। इन्द्र आदि देवों से पूर्व प्राण-अपान आदि ये दस देव पैदा होते हैं और महार्णव में अपने-अपने क्षेत्रों को सम्भालते हैं। इन प्राणादियों से इन्द्रादि देवों के सूक्ष्म रूप उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् इन इन्द्रादि देवों से इनके स्थूल रूपों की उत्पत्ति होती है। इसी तथ्य को प्रश्नोत्तर रूप में अथर्व ११।८,९ इन दो मन्त्रों में दर्शाया गया है। ९वाँ मन्त्र इस प्रकार है :—

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत।।

सूक्ष्म इन्द्र से स्थूल इन्द्र, सोम से सोम, अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार त्वष्टा तथा धाता की उत्पत्ति होती है। ये देवशक्तियाँ परमपुरुष के पुर में कार्यरत हैं। आगे के मन्त्रों में मानवपुर अर्थात् मनुष्य-देह की उत्पत्ति का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। मनुष्य-देह में केश, अस्थि, स्नायु, मांस, मज्जा, अंग व पर्व आदियों को उत्पन्न करने वाले जो देव हैं उन्हें मन्त्र में संसिच कहा है। शरीर में त्वचा तथा त्वचा में वर्ण उत्पन्न करने वाले देवता का भी निर्देश हुआ है। अथर्व ११।८।११–१८ तक मन्त्र इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं। इन देवों को संसिच नाम इसलिये दिया गया है कि ये शरीर में केश-अस्थि आदि का सम्भरण व सिंचन करते रहते हैं। अथर्व ११।८।१३ में कहा भी है—**"संसिचो नाम ते देवा ये सम्भारान्त्सम्भरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्"।** आगे कहा कि सूक्ष्मरूप त्वष्टा से जो अगला त्वष्टा पैदा हुआ था उसने मानव-देह में देव-शक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न निवास-गृह बनाये। तदनन्तर जब उनके अपने घरों का निर्माण हो गया तब **"गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्"** देवता मनुष्य को अपना घर समझकर उसमें प्रविष्ट हो गये। आगे मन्त्रों में जिन देवताओं का परिगणन हुआ है वे अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के हैं। उन्हें हम देव और असुर इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, पर यहाँ इस सूक्त में उन्हें देवता ही कहा है। अतः देवता विषय (subject matter) है। उनका हम यहाँ केवल नाम-निर्देश ही कर देते हैं—

"स्वप्न, तन्द्री, निर्ऋति, जरा, खालत्य, पालित्य, स्तेय, दुष्कृत, वृजिन, सत्य, यज्ञ, यश, बृहत् बल, क्षत्र, ओज, भूति, अभूति, राति, अराति, क्षुधा, तृष्णाएँ, निन्दा, अनिन्दा, हन्ता, आदि ये सब शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इसी प्रकार

श्रद्धा, दक्षिणा श्रद्धा, विद्या, अविद्या, ऋक्, यजुः, साम, आनन्द, मोद, प्रमोद, अभीमोद, मुद आदि। हँसना, नाचना, गाना, आलाप, प्रलाप, अभिलाप आदि। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाक्, मन, आशिष, प्रशिष, संशिष, विशिष, चित्त, संकल्प, आस्तेयी, वास्तेयी, त्वरणा, क्रपणा आदि ये सब मानव-शरीर में प्रविष्ट हुए। किस माध्यम से कहा कि **रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्।"**

अर्थात् मनुष्य के रेतस् के माध्यम से ये पुरुष में प्रवेश करते हैं। यह रेतस् ही शरीर-यज्ञ में घी का काम करता है। यह रेतस् बनता है अन्न से। इसलिये जिन गुण, धर्म व शक्ति वाला अन्न खाया जायेगा वही शक्ति, गुण व स्वभाव मनुष्य में प्रादुर्भूत होंगे। इनके अतिरिक्त इस शरीर में ब्रह्म भी प्रवेश करता है और अधिपति प्रजापति बनता है क्योंकि शरीर में सदा प्रजनन चलता रहता है। ब्रह्म के साथ विराट् आपस्तत्त्व तथा सब देव प्रवेश करते हैं। सूर्य चक्षुरूप में, वायु प्राणरूप में तथा अग्नि के माध्यम से अन्य सब देव प्रवेश करते हैं। कहा भी है—

या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥

अथर्व ११।८।३०-३१

अन्त में कहा कि—

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ अथर्व ११।८।३२

क्योंकि सब देवता इस पुरुष में गौशाला में गौवों की तरह विराजमान हैं, इसलिये ज्ञानी पुरुष इस मानव को ब्रह्म ही मानते हैं। फिर परमब्रह्म और मानवब्रह्म में भेद ही क्या रहा? यदि जीवात्मा इस शरीर में रहता हुआ अपने को उदासीन बनाले या परमब्रह्म को पूर्णरूप से समर्पित हो जाये तो इस मानव-देह को वह परमब्रह्म ही तो चलायेगा। इस शरीररूपी रथ में सारथि, रथी, सभी कुछ वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस सूक्त में कई बातें विचारणीय हैं, इनमें जो विशेष तौर पर विचारणीय है वह यह कि जरा, खालत्य, पालित्य अनेकों बातें मनुष्य में बाहिर से प्रवेश करती हैं; जैसे ये प्रवेश करती हैं वैसे इन्हें बाहिर भी निकाला जा सकता है। अतः इन बुरी बातों को कैसे बाहिर निकालें, इस सम्बन्ध में सुधीजन को विचार कर तदनुसार साधना का अवलम्बन करना चाहिये। हमारे विचार में खान-पान की आदतों में अन्न-धनादि के संग्रह में परिवर्तन करना चाहिये, क्योंकि मन्त्र कहता है कि रेतस् (आज्य=घृत) का आश्रय कर ये सब देवता मनुष्य में प्रविष्ट हुए हैं, इस रेतस् में परिवर्तन करना चाहिये। यह अन्न-भक्षण की आदतों

में परिवर्तन लाकर ही हो सकता है। किसी व्यक्ति में ये सब बुरी बातें प्रवेश करती हैं और किसी में इनमें से कुछ ही प्रवेश कर पाती हैं। कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा होता है जिसमें सब अच्छी-अच्छी बातें ही हों बुरी बातें न हों। इसी प्रकार इनकी मात्रा व घनता में भी भेद होता है यह सब कर्मफल का चक्कर है। अतः हम स्वतन्त्र कहां ? अन्त में यही कहना पड़ता है कि **"भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया।"** अर्थात् वह भगवान् सबको यन्त्रारूढ़ की तरह घुमा रहा है। इस प्रकार मन्यु जोकि रुद्र का ही नाम है वह सृष्टि तथा मानव-देह का निर्माण करता है।

ओंकार रुद्र देवता

गोपथ ब्राह्मण १।१।२५ में ओंकार को रुद्र देवता बताया गया है यथा "रुद्रो देवता ओंकारो वेदानाम्" सब वेदों का ओ३म् रुद्र देवता है। अर्थात् यह ओ३म् नाम रुद्र देवता का है जिससे कि सब वेद प्रकट हुए हैं। वेदों में भिन्न-भिन्न सूक्तों के अग्नि, इन्द्र, सोम, मित्रावरुणौ आदि देवता हैं पर इन सब देवताओं का भी देवता यह रुद्र है, ऐसा ब्राह्मणकार का अभिमत है। यहाँ रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति 'रुत् ज्ञानं राति ददातीति रुद्रः' ऐसी की जा सकती है।

शिव का तप गो० ब्रा० १।२।८

गोपथ ब्राह्मण में आता है—**"ब्राह्माणि अष्टाचत्वारिंशतं वर्षसहस्राणि सलिलस्य पृष्ठे शिवोऽभ्यतपत् तस्मात् तप्तात् तपसो भूय एवाभ्यतपत्। तदप्येता ऋचोऽभिवदन्ति प्राणापानौ जनयन्निति ब्राह्मणम्"** गो० ब्रा० १।२।८ ब्रह्मा के अड़तालीस सहस्र वर्ष जल के पृष्ठ पर शिव ने खूब तप किया, उस तप से भी और अधिक खूब तपा। इसी तथ्य को **"प्राणापानौ जनयन्०"** अथर्व ११।५।२४ आदि ऋचाएँ दर्शा रही हैं।

इस सम्बन्ध में कई बातें विचारणीय हैं, एक तो यह कि इस कण्डिका में कई ऋषियों के नाम आते हैं जिन्होंने सहस्रों वर्ष तप किया। यथा—वसिष्ठपुत्र, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, गुंगु, अगस्त्य, अत्रि, स्वयम्भू कश्यप, तथा शिव आदि। इन्होंने जहाँ तप किया उन आश्रमों का भी वर्णन है। अब प्रश्न पैदा होता है कि क्या ये ऐतिहासिक ऋषि हैं ? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में ये सृष्टि के आदि प्राण हैं। सृष्टि को प्राणियों के आवास के योग्य बनाने में लाखों वर्ष लगे, अतः इन प्राणों के सृष्टि-निर्माण के कार्य-व्यापार को तप कहा गया है। मानव-पिण्ड में इन्द्रियाँ (प्राण) हैं जो अपने-अपने आवास स्थानों—आश्रमों में स्थित रह जन्म-जन्मान्तरों से तप करती चली आ रही हैं। शरीर-त्याग के समय में ये आत्मा को छोड़ती नहीं, देहान्तर प्राप्त

होने पर आत्मा के साथ आ पहुँचती हैं। ये ऐतिहासिक ऋषि भी हो सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में समुत्पन्न वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि आदि ऋषियों का नामकरण स्वयं भगवान् करता है। कहा भी है—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥ महाभारत

और इन ऋषियों के ये नाम वह अजन्मा भगवान् वेद से ही लेकर रखता है। कहा भी है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १।२१

ऐसे साक्षात्कृद्धर्मा महान् ऋषि कई सृष्टि-प्रलयों में होने वाले अपने कई पूर्वजन्मों को जानते हैं। इन ऋषिओं की मृत्यु नहीं होती, ये स्वेच्छा से उत्क्रमण करते हैं, देहान्तर-प्राप्ति इनकी स्वप्नवत् होती है। ये जातिस्मर सुप्त-प्रबुद्ध कोटि के होते हैं। अतः एक ही स्थान पर सहस्रों वर्षों का तप इनके लिये असम्भव नहीं है चाहे जन्म कई लेने पड़ें। इसी भाँति भगवान् शिव ने भी तप किया जिससे सृष्टि के अन्दर प्राणापान, व्यान आदि सक्रिय हुए और प्राणियों का जन्म हुआ।

इस प्रकार ऋषिओं को ऐतिहासिक मानने वालों का यह कथन है कि एक ब्रह्मचारी के लिए ये आदर्श दृष्टान्त रूप में सामने रक्खे गये हैं।

पञ्चम अध्याय

त्र्यम्बक महादेव

वेदों में त्र्यम्बक नाम महादेव के लिये प्रयुक्त हुआ है। रुद्र, शिव, महादेव तथा त्र्यम्बक आदि सभी नाम परम पिता परमात्मा के ही वाचक हैं। रुद्र व महादेव को त्र्यम्बक क्यों कहा जाता है इसी पर हम यहाँ विचार करते हैं। त्र्यम्बक के स्वरूप-निर्धारण के लिये सर्वप्रथम यजु० ३।६० मन्त्र पर विचार करते हैं।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।।

इस मन्त्र पर प्रथम दृष्टिपात होते ही सहसा एक शंका उत्पन्न होती है कि उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में इतना साम्य है कि पुनरुक्त प्रतीत होते हैं। अर्थ की दृष्टि से भी जो बात पूर्वार्ध में कही गई है वही बात दो-एक शब्दों के परिवर्तन से उत्तरार्ध में कह दी गई है। महर्षि दयानन्द का भाष्य देखने पर यह शंका और दृढ़ मूल हो जाती है। महर्षि दयानन्द का भाष्य निम्न प्रकार है—

"(त्र्यम्बकं) उक्तार्थं रुद्रं जगदीश्वरं (यजामहे) नित्यं पूजयेमहि (सुगन्धिं) शोभनः शुद्धो गन्धो यस्मात् तम्। "अत्र गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" अ० ५।४।१३५ इति सूत्रेण समासान्त इकारादेशः। (पुष्टिवर्धनं) पुष्टेः शरीरात्मसमाजबलस्य वर्धनस्तम् अत्र नन्द्यादित्वाल्ल्युः प्रत्ययः। (उर्वारुकमिव) यथोर्वारुकफलं पक्वं भूत्वाऽमृतात्मकं भवति (बन्धनात्) लता-सम्बन्धात् (मृत्योः) प्राणशरीरात्म-वियोगात् (मुक्षीय) मुक्तो भूयासम्। (मा) निषेधे (अमृतात्) मोक्षसुखात् (त्र्यम्बकं) सर्वाध्यक्षं (यजामहे) सत्कुर्वीमहि (सुगन्धिं) सुष्ठुगन्धोयस्मिँस्तम् (पतिवेदनं) पाति रक्षति स पतिः पतेर्वेदनं प्रापणं ज्ञानं वा यस्मात् तम् (उर्वा-रुकमिव) उक्तोऽर्थः (बन्धनात्) उक्तोर्थः (इतः) अस्माच्छरीरान्मर्त्यलोकाद् वा (मुक्षीय) पृथग्भूयासम् (मा) निषेधे (अमुतः) मोक्षाख्यात् परलोकात् परजन्मसुख-फलाद् धर्माद् वा।

यह महर्षि दयानन्द कृत अर्थ प्रदर्शित किया। इसमें पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों

का प्रायः एक ही अर्थ है और जो भेद है भी वह नगण्य है। इससे हमारी पुनरुक्ति सम्बन्धी शंका का निराकरण नहीं होता। हमारा अन्य विद्वानों से निवेदन है कि वे इसे स्पष्ट कर पुनरुक्ति-दोष का निराकरण करें। इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण में मन्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों का क्षेत्र-भेद करके अर्थ किया है। इससे पुनरुक्ति-दोष का निराकरण हो जाता है। मन्त्र का पूर्वार्द्ध जो कि पश्चात्भावी काल में 'महामृत्युंजय' नाम से प्रख्यात हुआ तत्प्रयोक्ता यजमान के लिये है, और मन्त्र का उत्तरार्द्ध पति की कामना करने वाली तथा पतिगृह से कभी भी विच्छेद न चाहने वाली कन्याओं के लिये है। वहाँ आता है—

"मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतादित्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशासते तदु ह्येव शमिव यो मृत्योर्मुच्यातै नामृतात् तस्मादाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति। तदु हापि कुमार्यः परीयुः………तासामुतासां मन्त्रोऽस्ति। त्र्यम्बकं यजामहे०………सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाह पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामुत इति। श०प० २।६।२।१२-१४

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि मन्त्र का पूर्वार्द्ध मृत्यु से छूटकर अमृत की प्राप्ति के लिये है। उत्तरार्द्ध कुमारी कन्याएँ जो पति-प्राप्ति की इच्छा वाली तथा पतिगृह में सदा सुख से रहने की इच्छा वाली हैं—के लिये हैं।

ये त्र्यम्बक भगवान् का भजन इसलिये भी करती हैं कि माता-पिता आदि सम्बन्धियों के घर से हमारा छुटकारा आसानी से हो जाये पर पतिगृह से कभी विच्छेद न हो। यह वैदिक गृहस्थ का सर्वोत्तम आदर्श है। वैदिक गृहस्थ में तलाक व सम्बन्ध-विच्छेद का स्थान एक प्रकार से नहीं है।

अब हम अपनी भाषा में मन्त्र का सामान्य अर्थ प्रदर्शित करते हैं—"हम भक्तजन शुद्ध व उत्तम गन्ध वाले, शरीर व आत्मा आदि को परिपुष्ट करने वाले त्र्यम्बक भगवान् का भजन करते हैं। जैसे ककड़ी आदि का फल परिपक्व होकर अपने डंठल से स्वयमेव मुक्त हो जाता है वैसे ही हम भी शरीर के बन्धन से मुक्त हो जायें और अमृत पद से कभी मुक्त न हों।

शतपथ ब्राह्मण के आधार पर मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ इस प्रकार है—

सुगन्धियुक्त तथा पति-प्राप्ति कराने वाले त्र्यम्बक का हम कन्याएँ यजन करती हैं जैसे ककड़ी आदि फल पककर अपने बन्धन से स्वयमेव अलग हो जाते हैं वैसे ही हम कन्याएँ अपने पितृकुल से आसानी से मुक्त हो जायें, पतिकुल से कभी मुक्त न हों।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध-सम्बन्धी दोनों अर्थों में कोई विशेष विप्रतिपत्ति व वक्तव्य नहीं है। त्र्यम्बक के सम्बन्ध में ही विद्वानों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। त्र्यम्बक के जो अर्थ किये जाते हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. नेत्रत्रयोपेतम्—अर्थात् तीन नेत्रों वाले। **महीधर** आदि

२. त्रयाणां ब्रह्म-विष्णु-रुद्राणामम्बकं पितरम्—**सायणाचार्य।**

३. क. अम्बति येन ज्ञानेन तदम्बम्, त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्य।

ख. त्रिषु कालेषु रक्षणं यस्य रुद्रस्य परमेश्वरस्य।

ग. त्रयाणां जीवकारणकार्याणां रक्षकम्—**स्वामी दयानन्द।**

४. त्रीणि स्थूलसूक्ष्मकारणानि शरीराणि अम्बकानि सम्भाजकानि यस्य त्रिषु स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरेषु वर्तमानं मुख्यं प्राणं...**स्वामी ब्रह्ममुनि** (निरुक्तसम्मर्श)।

महाभारत द्रोणपर्व अध्याय २०२।१३० में आता है—

तिस्रो देवीर्यदा चैव भजते भुवनेश्वरः।
त्रिपुरघ्नं त्रिनयनं त्रिलोकेशं महौजसम्।।
द्यामपः पृथिवीं चैव त्र्यम्बकश्च तत् स्मृतः। महा भा० ४८।२७

अर्थात् भुवनों के स्वामी रुद्र भगवान् द्युलोक, अन्तरिक्ष (अपः—जल से भरा है) और पृथिवी इन तीन अम्बा—मातृरूपा देवियों को भजते हैं, सेवन करते हैं, अतः वे त्र्यम्बक कहाते हैं। यहाँ त्र्यम्बक को त्रिपुरघ्न, त्रिनयन आदि विशेषणों से स्मरण किया है।

शिवपुराण रुद्रसंहिता अध्याय ३८ में त्र्यम्बक का विस्तार निम्न प्रकार हुआ है "तीनों लोकों के पिता, सूर्य, सोम और अग्नि इन तीन लोकाधिपतियों के भी पिता; सत्त्व, रज, और तम इन त्रिगुणों के अधीश्वर, आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व तथा शिवतत्त्व के, तथा आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों के तथा पृथिवी, जल एवं तेज इन तीन भूतों के, त्रिदिव, त्रिभुज तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिधा भूत देवों के ये त्र्यम्बक महादेव स्वामी हैं।

इसी भाँति अन्य कई विद्वानों ने भी त्र्यम्बक के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। हम यहाँ केवल उपर्युक्त अर्थों पर ही विचार करते हैं। इन अर्थों में त्र्यम्बक त्रिनेत्रधारी महादेव हैं यह अर्थ भी हमें मान्य है। सर्वप्रथम हम इस पर ही विचार करते हैं।

त्रिनेत्रधारी महादेव

त्रिनेत्रधारी महादेव अर्थ में त्र्यम्बक की व्युत्पत्ति यह हो सकती है—त्रीणि अम्बकानि चक्षूंषि मातृरूपाणि यस्य (अम्बा शब्द से बहुव्रीहि समास में कप् प्रत्यय होकर 'आपोऽन्यतरस्याम्' अष्ट० ७।४।१५ से ह्रस्व होकर अम्बक शब्द बन जाता है (यु० मी०) अर्थात् तीन आँखें ही रुद्र की उत्पत्ति में मातृरूप हैं। अम्बक शब्द, आप्टे, मोनियर विलियम आदि कोषों में [An eye ; Śiva's eye] शिव की आँख माना है। शब्दकल्पद्रुम में आता है—"अम्बति नक्षत्रपर्यन्तं गच्छति अम्ब+ण्वुल्, यद्वा अम्बति भूगर्भे प्राप्यते, अम्ब कर्मणि घञ् स्वार्थे कन् नेत्रम् इति हेमचन्द्रः।")

इस प्रकार विभिन्न कोषों के ग्राधार पर ग्रम्बक शब्द नेत्र के ग्रर्थ में भी ग्राता है। तीन नेत्रों से त्र्यम्बक महादेव की किस प्रकार उत्पत्ति होती है, वह क्या पद्धति व प्रक्रिया है यह इस महामृत्युंजय मन्त्र में ही प्रच्छन्न रूप में निहित है, यह हम पिण्ड में इस मन्त्र की चरितार्थता को दर्शायेंगे। इससे पूर्व हम ग्रन्य विद्वानों की तत्सम्बन्धी निरुक्तियों को दर्शाते हैं—

त्रीणि चन्द्रसूर्याग्निरूपाणि ग्रम्बकानि नेत्राणि यस्य। —**ग्रमरकोष**

त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामम्बकः, पिता। —**सायणाचार्य**

एकादशरुद्राणामन्यतमः यथा—
ग्रजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकीचापराजितः।।

मत्स्यपुराण ५।२६-३०

महर्षि दयानन्द ने त्र्यम्बक पद की उपपत्ति इस प्रकार की है—

१. ग्रमति येन ज्ञानेन तदम्बं त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्य तम्—ग्रत्र ग्रम गत्यादिष्वस्माद्बाहुलकेन करणकारके बः प्रत्ययस्ततः शेषाद् विभाषा ग्र० ५।४।५४ इति समासान्तः कप् प्रत्ययः।
२. ग्रम्ब गतौ त्रीन् लोकान् ग्रम्बति गच्छति व्याप्नोति जानाति वा त्र्यम्बकः।

महर्षि दयानन्द की त्र्यम्बक पद की व्युत्पत्तियों में ग्रम्बा माता का कोई स्थान नहीं है।

ग्रब हम पिण्ड में त्र्यम्बक के सम्बन्ध में ग्रपना मत व्यक्त करते हैं। महाभारत के ग्राधार पर त्र्यम्बक की उत्पत्ति निम्न प्रकार होगी—

पृथिवी—पार्थिव चेतना=उदर चेतना
ग्रपः—ग्रन्तरिक्ष चेतना=हृदय चेतना
द्याम्—द्युलोक चेतना=मस्तिष्क चेतना

इन तीनों चेतनाग्रों को भालपट्ट में भ्रुवों के मध्य में केन्द्रित करना, मिलाना, यह त्र्यम्बक की उत्पत्ति में कारण बनती है। यजामहे—यजन करना, मिलाना, संगतिकरण यह ग्रर्थ यहाँ ग्रभीष्ट है।

दोनों नेत्रों के ग्राधार पर हम कह सकते हैं कि नेत्रों को भ्रू-मध्य में विद्यमान तृतीय ग्राग्नेय नेत्र के साथ संयुक्त करना। यह इस प्रकार किया जा सकता है कि एक दर्पण सामने रख लिया ग्रौर दोनों ग्राँखों से भ्रू-मध्य को एकटक देखा। कालान्तर में भ्रू-मध्य में एक गति प्रारम्भ होगी, एक तनाव होगा, शनैः-शनैः यह त्र्यम्बक की उत्पत्ति में कारण बन जायेगा। यह पद्धति त्राटक है। त्राटक= त्रि+टक तीन नेत्रों का टक होना। ग्रमरकोष में चन्द्र, सूर्य ग्रौर ग्रग्नि इन तीनों को त्र्यम्बक के नेत्र दर्शाया है; पिण्ड में इस प्रकार कहा जा सकता है। मनुष्य की

दाहिनी आँख सूर्य है, वाम आँख चन्द्र है और भालपट्ट में भ्रू-मध्य में अग्नि है **'अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्।'** वेद में ललाट में अग्नि की सत्ता मानी है। इन तीनों के यजन अर्थात् मेल से एक शक्ति पैदा होती है जो त्र्यम्बक कही जा सकती है। वह शक्ति क्या करती है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—एक आकर्षणशक्ति शरीर में सुगन्धि पैदा करने वाली तथा पुष्टि अर्थात् सब प्रकार की व्याधियों को दूर कर मनुष्य को स्वस्थ व चिरायु बनाने वाली। व्याधि आदि से छुटकारा पाना ही मृत्यु-बन्धन से छुटकारा पाना है। यह भृकुटि के मध्य का नेत्र शिव-नेत्र है। यह तीसरा नेत्र खुलते ही मनुष्य की कामवासना को भस्म करता है। रुद्र द्वारा रतिपति कामदेव को भस्म करने का यही रहस्य है। और फिर नाना व्याधियों को यह विनष्ट करता है। शरीर में सुगन्धि को उत्पन्न करता है। शरीर का क्षय करने वाली वासना आदि शत्रुओं के नष्ट होने पर स्वभावतः शरीर में बल व पुष्टि आती है और मनुष्य दीर्घायु बनता है।

त्र्यम्बक का यह यजन कन्याओं को पति प्राप्त करने में किस प्रकार सहायक होता है ? यह संक्षेप में कहा जा सकता है कि कुमारी कन्याओं में भगवत्-कृपा से जन्मजात एक आकर्षणशक्ति होती है, उनकी आँखों व भृकुटि में वह आकर्षण-शक्ति निहित होती है। उस शक्ति को यदि त्र्यम्बक-यजन द्वारा प्रबुद्ध व प्रवृद्ध किया जाये तो उस अवस्था में उसका अभीष्ट वर उसकी आँखों के जाल में अवश्य फँस जायेगा। वह केवल तात्कालिक रूप में फँसेगा ही नहीं वरन् जन्मपर्यन्त उसका गुलाम रहेगा।

रुद्र-स्वसा शरद् ऋतु

इस प्रकार पिण्ड में तीन नेत्रों के सम्मिलन से भृकुटि में जो दिव्य अग्नि व दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है वह त्र्यम्बक रुद्र है। इसी भाँति अग्नि, वायु तथा सूर्य इन तीनों के सम्मिलन से बाह्य ब्रह्माण्ड में जो भयंकर रौद्र रूप की अग्नि उत्पन्न होगी वह बाह्य त्र्यम्बक रुद्र कहलायेगा। वैसे तो अग्नि, वायु तथा सूर्य इन तीनों का सम्मिलन सभी ऋतुओं में रहता है, सभी ऋतुओं की अपनी-अपनी व्याधियाँ हैं, पर शरद् ऋतु में इन तीनों के सम्मिलन से सर्वाधिक तथा भयंकर रुद्र रूप शक्ति की उत्पत्ति होती है। उसी का विशेष रूप में शास्त्रों में त्र्यम्बक नाम से वर्णन हुआ है। इसी कारण शरद् ऋतु को रुद्र की स्वसा तो कहा ही है पर रुद्र की योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान भी बताया है। यथा—

शरद् वै रुद्रस्य योनिः………तस्माद् शरदि भूयिष्ठं हन्ति

मै० सं० १।१०।२०

इस त्र्यम्बक रुद्र की उत्पत्ति में अग्नि, वायु तथा सूर्य ये तीनों मातृरूप होते हैं वहाँ द्यु, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी इन्हें भी माता कहा जा सकता है, क्योंकि अग्नि, वायु

तथा सूर्य इन्हीं के प्रतिनिधि रूप हैं। पृथिवी पर महा भयंकर बीमारियाँ, भूकम्प, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, ईतियाँ तथा अन्य जो कुछ भी विनाश-लीला होती है उसमें ये तीनों कारण बनते हैं, इसके विपरीत इन तीनों के सम्मिलन से जो रौद्र शक्ति मानव-विरोधी आसुरी शक्तियों के विनाश करने वाली होती हैं तो वे मनुष्य के लिये शिव हैं, पुष्टि बढ़ाने वाली कही जाती हैं।

पुरुष यजमान महामृत्युञ्जय मन्त्र का जप करते हुए बाएँ हाथ की हथेली से बाएँ जांघ पर प्रहार कर यज्ञकुण्ड की तीन प्रदक्षिणाएँ करते हैं। इसी प्रकार दाहिनी जांघ पर दाहिने हाथ से प्रहार करते हुए तीन परिक्रमाएँ दाहिनी दिशा से करते हैं। का० श्रौ० सू० ५।१०।१५।१६ **अग्निं त्रिः परियन्ति पितृवत् सव्योरूना-घ्नानास्त्र्यम्बकमिति देववच्चैतेनैव दक्षिणानाघ्नानाः** तथा **"अथापसलविः त्रिः परियन्ति सव्यानूरूनुपघ्नानाः"** श० प० २।६।२।१२ हाथ से बायीं जांघ पर प्रहार करना मन पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। मन में उत्साह व साहस का उद्‌गम होता है। हमें मृत्यु की ओर धकेलने वाली निराशा, हीनता, आदि के दुर्विचारों से संघर्ष करने के लिये मन सन्नद्ध हो जाता है।

इसी भाँति कुमारी कन्याएँ इस त्र्यम्बक से आशीर्वाद लेने के लिये दाहिनी हथेली से दायीं जांघ पर प्रहार करती हुई यज्ञकुण्ड की तीन प्रदक्षिणाएँ करती हैं, कहा भी है **"अथ पुनः प्रसलवि** [Towards the right side अपसलवि=To the left, the space between the thumb and the fore finger] **त्रिः परियन्ति दक्षिणानूरूनुपघ्नानाः"**। और प्रदक्षिणा करती हुई **त्र्यम्बकं यजामहे** मन्त्र का जप करती हैं। वहाँ आता है कि 'इतः' पद से पिता, माता आदि ज्ञाति-सम्बन्धियों का ग्रहण करना है और अमुतः पद से पति, सास-ससुर आदि का। क्योंकि **"पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामुत इति"** श० प० २।६।२।१४ यज्ञकुण्ड की परिक्रमा करती हुई वे कहती हैं **'भगस्य भजामहा इति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाम्बिका नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादुहापि कुमार्यः परीयुर्भगस्य भजामहा इति"** अर्थात् भगदेवता का हम भजन करती हैं इस भग की स्वामिनी रुद्र की स्वसा है जिसका नाम अम्बिका है। भग क्या है? सायणाचार्य सौभाग्य अर्थ लेते हैं यह ठीक है पर हमारे विचार में यहाँ भग स्त्री-योनि अधिक उपयुक्त है। इस स्त्री-योनि की स्वामिनी अम्बिका है जिसके अधीन सृष्टि का सकल प्रजनन स्थित है। सुत-प्रजनन से ही स्त्री का सौभाग्य अक्षुण्ण रहता है। प्रश्न यह पैदा होता है कि कन्याएँ जाँघ पर क्यों प्रहार करती हैं? वे अपने दृढ़ विश्वास को व्यक्त करती हैं कि जिस व्यक्ति पर हमारी आँख जा पड़ेगी वह हमारे पाश से छूट नहीं सकता। और साथ ही त्र्यम्बक से आशीर्वाद माँग रही हैं।

त्र्यम्बक अनेक हैं

मैं० सं० १।१०।२०, काठ० ३६।१४, तै०सं० १।८।६ श०प० २।६।२।१

उपरोक्त स्थलों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्र्यम्बक अनेक हैं। उदाहरणार्थ मैं० सं० १।१०।२० का उद्धरण यहाँ प्रदर्शित करते हैं, वहाँ आता है—**"एतद्वा अस्य संवत्सरोऽभीष्टोऽभूदभीष्टा ऋतवोऽथवा अस्य रुद्रा अनभीष्टा यदेते त्र्यम्बकास्तेनैवास्य रुद्रा अभीष्टाः प्रीता भवन्ति"**। यजमान का संवत्सर अभीष्ट बना अर्थात् सुख-शान्ति देने वाला हुआ। ऋतुएँ भी अभीष्ट हैं परन्तु रुद्र इस यजमान को अभीष्ट नहीं है, यदि ये रुद्र त्र्यम्बक बन जाते हैं तो ये अभीष्ट हैं। यहाँ त्र्यम्बक बहुवचन में हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अनेकों रुद्र त्र्यम्बक बन सकते हैं। त्र्यम्बक क्यों प्रिय हैं, इसलिये कि ये मनुष्य को मृत्यु-भय से दूर करते हैं, पुष्टि के देने वाले हैं, और कन्याओं को पति-प्राप्ति में सहायता देते हैं।

त्र्यम्बकों को महाहवि दी जाती है

यज्ञ में त्र्यम्बकों को जो हवि दी जाती है उसे महाहवि कहते हैं। देवों ने इस महाहवि द्वारा अपने शत्रु वृत्र का हनन किया। कहा भी है—**'महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः'** श० प० २।६।२।१ प्रत्येक मनुष्य के अन्दर प्रतिक्षण देवासुर-संग्राम छिड़ा रहता है। मनुष्य की आसुरी वृत्तियाँ ही मानव की दैवी वृत्तियों पर सतत प्रहार करती रहती हैं। उनके बाण उन्हें बींधते रहते हैं, जिससे मनुष्य पापादि दुष्कार्य कर बैठता है। इन आसुरी बाणों को निकालने का एक उपाय महाहवि द्वारा त्र्यम्बक-यजन है। कहा भी है—

"तस्मिन् संग्राम इषव आर्छंस्तानेतैरेव शल्यान्निरहरन्त तान्व्यवहृन्त यत् त्र्यम्बकै रयजन्त" श० प० २।६।२।१ वृत्रासुर के साथ संग्राम में देवों को जो बाण आ लगे थे, चुभे थे, उन बाणों को देवों ने महाहवि द्वारा त्र्यम्बक-यजन से तथा त्र्यम्बक मन्त्रादि के जप द्वारा निकाल बाहिर किया।

(निरहरन्त — वियोजितवन्तः, व्यवहृन्त — उद्धृतवन्तः, वृहु उद्यमने) आसुरी शक्तियाँ रुद्र से प्रेरित होकर ही अपना कार्य करती हैं, इसी कारण मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में आता है कि मनुष्य को रुद्र अभीष्ट नहीं, हाँ, जब रुद्र त्र्यम्बक बन जाता है तब वह अभीष्ट, प्रिय तथा वांछनीय होता है। रुद्र त्र्यम्बक कब बनता है जब पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों क्षेत्रों में अग्नि, वायु तथा सूर्य अथवा द्यु, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी तीनों के एक विशिष्ट प्रकार के सम्मिलन (यजन) से रुद्र उत्पन्न होता है। इसी भाँति यह रुद्र पिण्ड में इन्हीं शक्तियों तथा त्रिनेत्रों के सम्मिलन से पैदा होता है। यह रुद्र त्र्यम्बक बनकर मनुष्यों का हनन नहीं करता प्रत्युत मानव-विरोधी आसुरी शक्तियों का विनाश करने वाला होता है।

शास्त्र-प्रतिपादित त्र्यैम्बक हवियों का स्वरूप

पुरुष त्र्यैम्बक हवियों द्वारा रुद्र को त्र्यम्बक रूप में प्रिय बना सकता है और अपने तथा अपनी सन्तति से रुद्र को दूर रख सकता है (निरवदयत)। इस सम्बन्ध में बाह्य कर्मकाण्ड में जो विधि अपनायी जाती है संक्षेप में वह इस प्रकार है कि परिवार में जितने व्यक्ति हों उतने एक कपाल वाले पुरोडाश (रोटी) तो बनाये ही पर एक अतिरिक्त पुरोडाश भी बना लें। वह अतिरिक्त पुरोडाश इसलिये बनाते कि जो सन्तति अभी पैदा नहीं हुई पर पैदा होने वाली है वह भी इस रुद्र के प्रकोप से बच जाये। श० प० २।६।२।४ में आता है **'ते वै प्रतिपुरुषं। यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत् प्रतिपुरुषमेवैतदेकेकैन या अस्य प्रजा जाता स्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्ता भवन्ति तद् या एवास्य प्रजा अजाता स्ता रुद्रियात्प्रमुञ्चति"** अर्थात् घर के प्रत्येक सदस्य के लिये एक कपाल वाले पुरोडाश बनावें और जो अतिरिक्त पुरोडाश बनाया जाता है वह इसलिये कि अजात सन्तति भी रुद्र के प्रकोप से बच जावे। यहाँ जात और अजात शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह जात-अजात प्रजाएँ बाह्य क्षेत्र में तो सुतरां-सिद्ध हैं पर आध्यात्मिक क्षेत्र में आन्तरिक शक्तियों के लिये भी ये समझनी चाहियें। काठ० ३६।१४ में अजात के लिये आता है—**'गर्भेभ्य एव तेन रुद्रं निरवदयते'** अर्थात् गर्भस्थ शिशुओं से रुद्र को दूर करता है। आगे विचार किया है कि आहुति द्रव्य में घी मिलाना चाहिये कि नहीं। आहुति द्रव्य में घी मिलाने को अभिघारण कहते हैं। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि घी पशु से पैदा होता है और पशु रुद्र के होते हैं। घी मिलाने से उस आहुतिद्रव्य में रुद्र का प्रवेश हो जायेगा। **"अभिमानुको ह रुद्रः पशून्त्स्याद् यदञ्ज्यात् तस्मात् अनक्ता एव स्युः।"** इसकी **सायणाचार्य** यह व्याख्या करते हैं—"अभिमानुक इति पशुप्रभवेनाज्येन यदि रौद्रान् पुरोडाशान् अञ्ज्यात् ततः स रुद्रः आज्यसम्बद्धद्वारा तत् कारणभूतान् पशून् अभिमंसुकः अभिमन्तुं बाधितुं शक्तः स्यात्"। अर्थात् पशु (गौ) से उत्पन्न घी से यदि रुद्र-सम्बन्धी पुरोडाशों को मिलाया जायेगा, तो आज्य (घी) के सम्बन्ध से उसके कारणभूत अर्थात् घी को उत्पन्न करने वाले पशुओं को वह रुद्र बाध करने में सफल हो जायेगा। तै० ब्रा० १।६।१० में आता है कि अभिघारण न करे, यदि अभिघारण करेगा तो "अन्तरवचारिणं रुद्रं कुर्यात्" रुद्रमनिष्टकारिणं क्रूरदेवम्। अन्तरवचारिणं गृहस्यान्तः प्रविश्यास्मानवरोद्धुं चरन्तम्। (सायणाचार्य) अनिष्ट-कारक यह क्रूर देव रुद्र गृह में प्रवेश कर हमारा अवरोध करेगा। इससे यह ध्वनित होता है कि रुद्र-सम्बन्धी हवि में घी नहीं मिलना चाहिये। इसका क्या रहस्य है, यह समझ में नहीं आता।

इस सम्बन्ध में मै० सं०, काठक संहिता आदियों का यह विचार है कि आहुति-द्रव्य (पुरोडाश) में आज्य मिलाना ही चाहिये। यदि इससे रुद्रों का प्रवेश होता

है तो एक उल्मुक प्रज्वलित मशाल जो धुआँ देती हो अन्वाहार्यपचन से लेकर उत्तर दिशा की ओर ले जावे, क्योंकि उत्तर दिशा रुद्र की दिशा मानी गई है। मै० सं० १।१०।२० उल्मुक मशाल के धुएँ से रुद्रों को परे करते जाते हैं। कहा भी है—पराचीनं हरन्ति पराञ्चमेव रुद्रं हरन्ति।

चौराहे पर रुद्र

मै० सं० १।१०।२० में आता है कि **'चतुष्पथे याजयेत् चतुष्पथे हि रुद्राणां गृहाः गृहेष्वेव रुद्रं निरवदयते'** अर्थात् चौराहे पर यजन करे क्योंकि चौराहे पर ही रुद्रों के घर होते हैं अतः यज्ञ द्वारा उन्हें उनके अपने घर से ही निकाल बाहिर करें। कई व्याधिजनक कृमि-कीट चौराहों पर रहने वाले होते हैं वहीं से वे मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं। श० प० २।६।२।७ में आता है कि **"पथिजुहोति पथा हि स देवश्चरति चतुष्पथे जुहोति एतद्ध वा जांघितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे जुहोति"** अर्थात् यह रुद्र-देव उसी मार्ग से चलता है जिस मार्ग पर मनुष्यों का आवागमन होता है। अतः मार्ग में ही आहुति देवे और चौराहे पर भी देवे क्योंकि चौराहा इस देव का मनुष्यों द्वारा कल्पित प्रज्ञात तथा नीचे की ओर रहने का स्थान है। तै० ब्रा० १।६।१० में आता है कि **"चतुष्पथे जुहोति। एष वा अग्नीनां पड्वीशो नाम। अग्निवत्येव जुहोति। मध्यमेन पर्णेन जुहोति। स्रुग्घ्येषा। अथो खलु। अन्तमेनैव होतव्यम्। अन्तत एव रुद्रं निरवदयते।"**

चौराहे पर अग्नि में आहुति देता है क्योंकि चौराहा में अग्नि का बार-बार सञ्चरण होता है=(पड्वीशः) इसलिये चौराहा अग्नि का ही प्रदेश माना गया है। पलाश की शाखा में जो तीन पत्ते होते हैं उनमें मध्य का पत्ता तो माला रूप है। पार्श्व के दोनों पत्तों में से किसी एक पत्ते का अग्नि में होम कर दें तो उस यागस्थली से रुद्र निकल जायेगा।

रुद्र का वाहन चूहा तथा अतिरिक्त पुरोडाश का रहस्य

चूहा रुद्र का वाहन माना जाता है, यह गणेश का भी वाहन है। गणेश का वाहन तो इसलिये है कि यह बड़ा बुद्धिमान् होता है, बड़े-बड़े मजबूत फन्दों को काट देता है। अपने बिल के कई मुख बनाकर रहता है। बलवान् शत्रु के आने पर किसी भी मुख से बाहिर जा सकता है। इसी प्रकार गणेश भी अपने गण को बलवान् शत्रु से बचाता है। पर इसके विपरीत यह चूहा रुद्र का वाहन इसलिये है कि यह प्लेग आदि फैलाने में रुद्र का वाहन बनता है। रुद्र इस पर सवार हो प्लेग द्वारा नरसंहार करता है। जिस समय प्लेग का प्रकोप होता है, सर्वप्रथम चूहों को वह आक्रान्त करता है। चूहों द्वारा वह प्लेग अन्य मनुष्य आदि प्राणियों की मृत्यु में कारण बनता है। यह चूहा अन्यों की मृत्यु में कारण न बने इसका

उपाय शास्त्रकारों ने यह बताया कि जो अतिरिक्त पुरोडाश बनाया था उसे चूहों के बिल पर बखेर देवें। श० प० २।६।२।१० में आता है कि **'अथ य एष एकोऽतिरिक्तो भवति। तमाखूत्कर उपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुरिति तदस्मा आखुमेव पशूनामनुदिशति तेनो इतरान् पशून् न हिनस्ति'** अर्थात् जो यह अतिरिक्त पुरोडाश है उसे चूहों के बिल (उत्करः) 'आखूत्करो मूषकैर्बिलादुद्धृतः पांसुराशिः' तै० सं० १।८।६ (सायणाचार्य) पर बखेर देता है और मन्त्र बोलता है "एष ते रुद्र भाग०" पशुओं में चूहे को उद्देश करके यह पुरोडाश दिया है इसलिये रुद्र चूहों के अतिरिक्त अन्य पशुओं की हिंसा नहीं करता है। कल्प में आता है कि **"आखुस्ते रुद्र पशुरित्याखूत्कर एकं पुरोडाशमुपवपत्यसौ ते पशुरिति वा द्वेष्यं मनसा ध्यायन् यदि न द्विष्यादाखुस्ते पशुरिति ब्रूयात्"** इसका तात्पर्य यह है कि चूहे के बिल पर पुरोडाश डालता है। वह चूहा तेरा पशु है अथवा किसी अपने शत्रु का मन से ध्यान करे इससे होगा यह कि रुद्र उसके शत्रु का विनाश कर देगा और यदि कोई शत्रु न हो तो उसी अवस्था में "आखुस्ते पशुः" बोलना है। तै०ब्रा० १।६।१० में भी यही कहा है।

इस प्रक्रिया से जो अजात हैं, अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, गर्भ में स्थित हैं, उनकी भी रक्षा हो जाती है। **"तद्या एवास्य प्रजा अजाता स्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति।"** अतिरिक्त पुरोडाश को चूहों के बिल पर बखेरने का रहस्य यही प्रतीत होता है कि चूहे उसे खाकर तृप्त हो जायें और बिल से बाहिर न निकलें अथवा उस पुरोडाश में प्लेग के कीटाणुओं को मारने की कोई औषधि मिली हुई हो जिससे वे कीटाणु नष्ट हो जायँ। और जो पुरोडाश यज्ञ में डाले जाते हैं उनसे उठा धुआँ आदि वातावरण में फैलकर उस प्रदेश को कीटाणुरहित कर दे। चूहों के बिलों पर पुरोडाश बखेरने के पश्चात् आकर इस मन्त्र का जाप करता है, मन्त्र इस प्रकार है—

> **अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस्करद् यथा नः श्रेयसस्करद् यथा नो व्यवसाययात्। भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजं सुखं मेषाय मेष्या इत्याशीः।** —श० प० २।६।२।११

इस मन्त्र में पुरुष, अश्व, गौ, मेष आदि के लिये भेषज का विधान हुआ है। इससे स्पष्ट है कि पुरोडाश में कोई औषध मिलायी जाती होगी या यह पुरोडाश चूहों के बिल में बखेरने की प्रक्रिया को औषधरूप में ग्रहण किया जाता हो। आपस्तम्ब में यह आता है कि यजमान के जितने पुरुष हैं वे अपनी अञ्जलि में पुरोडाश ले लेवें और फिर ऊपर को फैंककर अञ्जलि में कैच कर ले और बोलें **"भगस्थ भगस्य वो लिप्सीय"** हे पुरोडाशो! तुम भगरूप हो, सौभाग्य प्रदान करने वाले हो, मैं अपना सौभाग्य चाहता हूँ। तै० ब्रा० १।६।१० में कहा "उत्किरन्ति भगस्य लीप्सन्ते=(लब्धुमिच्छन्ति)।

इसी भाँति शास्त्रों में रुद्र के और भी क्रिया-कलाप हैं जिससे रुद्र मूंजवान् पर्वत के परे चला जाता है।

पुरोडाश में अम्बिका का भाग

कुल में विद्यमान प्रति व्यक्ति के लिये जो पुरोडाश बनाये जाते हैं उन्हें रुद्र को लक्ष्य कर यज्ञ में आहुतिरूप में डाला जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि वे केवल रुद्र के लिये ही नहीं होते, उनमें रुद्र की बहिन अम्बिका का भी हिस्सा होता है। अब प्रश्न यह है कि अम्बिका का स्वरूप क्या है? श० प० २।६।२।९ में आता है **'स जुहोति। एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागस्तद्यस्यैष स्त्रिया सह भागस्तस्मात् त्र्यम्बका नाम"** अर्थात् वह यजमान उन पुरोडाशों की आहुति देता है और 'एष ते रुद्र भागः' यह मन्त्र बोलता है। इस आहुति में रुद्र की स्वसा अम्बिका का भी हिस्सा है। अम्बिका स्त्री है। इस अम्बिका स्त्री के साथ पुरोडाश का उपभोग करने से दोनों का त्र्यम्बक नाम पड़ गया। शास्त्रों में अम्बिका शरद् ऋतु को माना गया है। यथा—**'शरद् वै रुद्रस्य स्वसाम्बिका'** काठ० सं० ३६।१४, तै० ब्रा० १।६।१०, मै० सं० १।१०।२० **'शरद् वै रुद्रस्य योनिः स्वसाम्बिका'** अर्थात् शरद् ऋतु रुद्र की स्वसा भी है और रुद्र की योनि अर्थात् रुद्र को उत्पन्न करने वाली भी है। वेद के शब्द रूढ नहीं हुआ करते। इसलिये स्वसा का अर्थ बहिन न कर, सु+असा असु प्रक्षेपणे—नि० ११।३२ अर्थात् जो दूसरों के प्रक्षेपण में श्रेष्ठ है। वर्षा ऋतु में जो कृमि-कीट तथा नाना प्रकार के व्याधिजनक जर्म्स उत्पन्न हो जाते हैं वे शरद् ऋतु आने पर विनष्ट हो जाते हैं। इसी कारण शास्त्र में कहा—**'शरदि भूयिष्ठं हन्ति'** काठ० ३६।१४, मै० सं० १।१०।२०, कि शरद् ऋतु में मानव-विरोधी कृमि-कीट आदि सब विनष्ट हो जाते हैं। इसी कारण अम्बिका के लिये आता है **'अम्बिका नाम सा'** (अम्बिका) **हि भगयेष्टे** श० प० २।६।२।१३ अम्बिका भग अर्थात् सौभाग्य की स्वामिनी है। **'अम्बी वै स्त्री भगनाम्नी'** काठ० ३६।१४, मै० सं० १।१०।२०, अर्थात् अम्बी से भग का ग्रहण करना है।

त्र्यम्बक के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाली रुद्र-शक्ति मनुष्यों का हनन न कर मानव-विरोधी आसुरी शक्तियों का हनन करने वाली होती है। इसीलिये यह कहा गया है—**"यदेते त्र्यम्बकास्तेनैवास्य रुद्रा अभीष्टाः प्रीता भवन्ति"** अर्थात् ये रुद्र जब त्र्यम्बक बनते हैं तब ये मनुष्यों के अभीष्ट व प्रीतिपात्र बनते हैं। और शरद् ऋतु में ये रुद्र त्र्यम्बक बनते हैं। और अम्बिका मानव-शत्रुओं व्याधिजनक कृमि-कीटों आदि का हनन करने के कारण—'भगस्येष्टे' मनुष्यों का सौभाग्य करने वाली है, अतः वह इष्ट है।

षष्ठ अध्याय

विद्वानों की दृष्टि में रुद्र

योरोप के अनेकों विद्वानों ने वैदिक देवताओं पर विचार किया है परन्तु सबके विचारों को यहाँ उद्धृत करना अनुपयुक्त है। उनकी तत्सम्बन्ध में विचार सरणि क्या है, इसके लिये मैक्डोनल कृत "वैदिक माइथोलौजी" से रुद्र-सम्वन्धी प्रकरण यहाँ दर्शाते हैं—

ऋग्वेद में रुद्र को गौण स्थान मिला है। इनके निमित्त कहे गये सकल सूक्त केवल तीन हैं। अंशतः सूक्त एक है एवं सोम के साथ एक अन्य सूक्त में भी इनका नाम आता है। इनका नामोल्लेख लगभग ७५ बार हुआ है।

ऋग्वेद में इनकी शारीरिक विशेषताएँ निम्नस्थ हैं—इनके एक हाथ है, इनकी भुजाएँ और अवयव दृढ़ एवं संनद्ध हैं। इनका रंग भूरा (बभ्रु) है। इनके होंठ सुन्दर हैं और पूषा की भाँति इनके बाल घुँघराले हैं। इनका आकार आँखों को चौंधिया देने वाला है और इनके रूप अनेक हैं। ये द्युतिमान् सूर्य की भाँति एवं स्वर्ण की भाँति चमकते हैं। ये स्वर्णिम आभूषणों से प्रसाधित हैं और भाँति-भाँति के रूपों वाला निष्क पहनते हैं। ये रथ पर बैठते हैं।

१. परवर्ती संहिताएँ—विशेषतया वाजसनेयि संहिता इनके साथ कुछ और विशेषताओं को जोड़ देती है जैसे कि ये सहस्राक्ष हैं, उनके उदर, मुख, जिह्वा और दाँत हैं, उनका उदर काला और पीठ लाल है, वे नीलकण्ठ हैं, नीले बालों वाले (नील शिखण्ड) हैं। वे ताम्र और लोहित वर्ण के हैं। वे चर्म पहने हुए हैं और पर्वतों पर रहते हैं। ऋग्वेद में रुद्र के शस्त्रों का उल्लेख आता है।.........उनके हाथ में वज्र है (२।३३।३) उनका विद्युत् कृपाण (दिद्युत्) आकाश से छूटकर पृथिवी पर भ्रमण करता है ७।४६।३.........उनके पास धनुष-बाण हैं। २।३३।१०, ११; ५।४२।११, १०।१२५।६ जो स्थिर और तीव्र गति वाले हैं। ७।४६।१, १०।६४।८ जिन मन्त्रों में इन्द्र की तुलना रथ में बैठे हुए अस्ता अर्थात् तीरन्दाज से की गई है वहाँ हो सकता है कि अभिप्राय इन्हीं से हो—६।२०।६ अस्ता (अथर्व ६।६२।१) १५।५।१, २–१५ अथर्ववेद और अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य में उनके शर, अस्त्र, वज्र या चक्र का पुनः-पुनः वर्णन हुआ है। रुद्र के विषय में सबसे अधिक बार कथित बातों में से है उनका मरुतों के साथ साहचर्य। वे उनके पिता हैं.........और वे रुद्र के

पुत्र हैं। १।११४।६,९ रुद्राः, रुद्रियाः भी कहा गया है। रुद्र ने रुक्मवक्षस मरुतों को (पृश्नि माध्यमिका वाक्) के २।३४।२ शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया। रुद्र कभी भी मरुतों के युद्ध-कौशल से संयुक्त नहीं होते क्योंकि वे राक्षसों के साथ युद्ध में प्रवृत्त ही नहीं होते। त्र्यम्बक विशेषण जो वेदोत्तर कालीन साहित्य में शिव का एक प्रमुख विशेषण वन गया है, वैदिक साहित्य में ही रुद्र के लिये प्रयुक्त हो चुका है (यजु० ३।५८) और प्रतीत होता है कि ऋग्वेद ही में एक वार रुद्र त्र्यम्बक वन चुके हैं। इस शब्द का अर्थ है—'वह जिसकी तीन माताएँ' हैं इस बात का जगत् के तीन विभागों में विभाजन से सम्बन्ध दीख पड़ता है। वेदोत्तरकालीन शिवपत्नी अम्बिका का नामोल्लेख सर्वप्रथम वाजसनेय में हुआ है, ३।५८,३।५६।५,७।५९।१२ किन्तु यहाँ यह रुद्र की पत्नी नहीं प्रत्युत उनकी वहन बनकर आती है। शिव-पत्नी के स्थायी नाम उमा और पार्वती सर्वप्रथम सम्भवतः तैत्तिरीयारण्यक और कठोपनिषद् में आते हैं।

अग्नि—ऋग्वेद के मन्त्र (२।१।६, अथर्व ७।८७।१, अग्निर्वै रुद्रः श० प० ६।१।३।१०, ९।१।१।१) में अग्नि के साथ तद्रूपित देवताओं में से एक रुद्र भी है।.........अग्नि का विशेषण व गुण विशेष का वाचक।.........अश्विनौ के विशेषण रूप में—शर्व और भव ये दो नाम भी १।६।१८, २।८ अथर्ववेद में भी ये दोनों नाम आ चुके हैं। भव शर्व को तो एक सूत्रपरिच्छेद में रुद्र का पुत्र भी बताया गया है। और शांखायन श्रौत सूत्र में—

यावरण्ये पतयतो वृकौ जजभताविव
महादेवस्य पुत्राभ्यां भवशर्वाभ्यां नमः।

शां० श्रौ० सू० ४।२०।१

इनकी तुलना शिकार के लिये उत्कट इच्छा रखने वाले घातुक भेड़िये से की गई है। वाजसनेय सं० ३९।८ में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्रदेव तथा अन्य देवताओं की गणना एक ही देव के अनेक रूपों की न्याई हुई है। श० प० ६।१।३।१८ में रुद्र, शर्व, पशपति, उग्र, अशनि, भव, महान् देव ये अग्नि के आठ रूप बनकर आये हैं। एक अन्य स्थल श० प० १।७।३।८ पर भव, शर्व, पशुपति और रुद्र को अग्नि के नाम कहा गया है। अशनिकुमार का एक नाम श० प० ६।१।३।१४ विद्युत् भी किया है। शांखायन में इसका अर्थ इन्द्र किया गया है। पशुपति विशेषण रुद्र के लिये वा० स० अथर्व० एवं परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त हुआ है और यह सम्भवतः इसीलिये हुआ हो कि गृह से बाहिर के पशु रुद्र के लिये आक्रमणीय होते हैं और उनकी रक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ दिया जाता है।

रुद्र के लिये (ऋ० २।३३।९,११; १०।१२६।५; १।११४।५; २।३३।७,८,१५; ७।१०।४; १।४३।१; १।११४।१; २।३३।३; ७।४६।१; २।३३।१; १०।९२।५) **मृग की भाँति भीम, उपहत्नु, द्युलोक के अरुष वराह, वृषभ, बृहत्, दृढ, बलवानों में**

बलिष्ठ, अषाढ (अजेय), अमेय शक्ति वाले और त्वरितगति वाले हैं, वे युवा हैं। त्वेष (१।११४।४; २।३३।११) ऋष्व, अजर और सुषुम्न (६।४०।१०)। द्युलोक का महान् असुर (५।४२।११) २।१।६ स्वयशस् (१।१२९।३, १।९२।९) क्षयद् वीर १।११४।१ जगत् के ईशान(२।३३।९)जगत्-पिता, (६।४९।१०)वह अपने साम्राज्य के मानवजाति के शुभाशुभ को देखते हैं (७।४६।२) वे सरिताओं को धरती पर प्रवाहित करते हैं और गर्जन-तर्जन करते हुए वहाँ की हर वस्तु को औंधी करते हैं। १०।९२।५.

प्रचेतस्, कवि मृडयाकु १।४३।१; १।११४।४; २।३३।७ मीढ्वः(१।११४।३) परवर्ती वेदों में तो इस शब्द का प्रयोग ही केवल रुद्र के लिये हुआ है। कामों के पूरक, प्रदीप्त अन्नादि के देने वाले और कल्याणकारी शिव है। १०।९२।९।

ऋग्वेद में अनेक बार रुद्र की अनुदारता के भी संकेत मिलते हैं, क्योंकि उनके निमित्त कहे गये सूक्तों में उनके भीषण अस्त्रों से भीति और उनके अमर्ष से भय के भाव झलकते हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे क्रोध में आकर अपने उपासकों, उनके माता-पिताओं, उनके अपत्यों, परिजनों, पशुओं एवं अश्वों की क्षति न करें। ऋ० १।११४।७,८, यजु० १६। इसके विपरीत उनसे कहा गया है कि वे उनके अश्वों को छोड़ दें, ऋ० २।३३।१ अपने क्रोध एवं वज्र को उपासकों की ओर से लौटा लें और उनसे दूसरों को ध्वस्त करें। ऋ० २।३३।११ उनसे अनुनय किया गया है कि क्रोध आने पर भी अपने वज्र को लौटा लें और अपने उपासकों और उनके बाल-बच्चों और गौओं को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचावें ऋ० ६।२८।७ और उन सबसे अपने गोघ्न और नृघ्न वज्र को दूर ही रक्खें ६।२८।७, उनके दौर्मनस्य और मन्यु से भय प्रदर्शित किया गया है और उनसे विनती की गई है कि वे मानव-जाति के पैर वाले सहायकों (अवस) के प्रति दयालु हों। 'अवसाय पद्वते रुद्र मृड' १०।१०९।१ उपासक प्रार्थना करता है कि वे नीरोग बने रहें और उन पर रुद्र देव की कृपा बनी रहे। २।३३।१,६ उन्हें भिषक्तम कहकर माँग की गई है कि वे अपनी भेषजों से अपने स्तोताओं को वीर नाम प्रदान करें नृघ्न विशेषण—ऋ० ४।३।६ में। एक सूत्र-परिच्छेद में तो यह भी आया है कि वे महा-भाग कभी-कभी मनुष्यों को मारने तक की ठान लेते हैं। रुद्र का दौर्मनस्य परवर्ती साहित्य में तो और भी भीम होकर उमड़ता है। अमर्ष वा० स० ३।६१ विद्युत्, ज्वर, खाँसी। अथर्व ११।२।३६; १०।१।३३; ११।३।२२,२६।

रुद्र के कुत्तों का भी जो खुले मुँह घूमते भौंकते फिरते एवं अपने शिकार को बिना चबाये ही निगल जाते हैं—१६।२८, देवताओं को भय–श०प० ९।१।१।१,६। अपने महादेव रूप में रुद्र पशुओं की हत्या करते हैं। एक अन्य ब्राह्मण-परिच्छेद में उल्लेख मिलता है कि वे सभी भयानक तनुओं के सम्भार अथवा समवाय से बने हैं। **"तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ता संभृता एव देवोऽभवत्**

तदस्यैतत् भूतवन्नाम। ऐ० ब्रा० ३।३३।१ सम्भवत: उनके इसी अप्रशस्त स्वभाव के कारण उन्हें ब्राह्मणों और सूत्रों में अन्य देवों की कोटि से पृथक् रखा गया है, जब देवताओं ने स्वर्ग प्राप्त किया तब रुद्र वास्तु (बस्ती) में ही रह गये थे श० प० १।७।३।१ वैदिक यज्ञों में देवताओं के लिये हविष देने के उपरान्त अवशिष्ट हवि. बहुधा रुद्र को दी जाती है। **अथैनमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावर्ध्य जपेत् "यः पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा। पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहा इति"** गोभिल गृह्यसूत्र १।८।२५

उनके गणों को जो मनुष्यों और पशुओं पर व्याधि, जरा और मृत्यु के साथ आक्रमण करते हैं, शिकार की शोणितमिश्र अन्तड़ियाँ दी जाती हैं—**"यत्र भुज्यते तत्समूह्य निर्हृत्यावोक्ष्य तं देशममत्रेभ्यो लेपात्संकृष्याद्भिः संसृज्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्राय निनयेत्। एवं वास्तु शिवं भवति।"** आप० ध० सू० २।२।४।२३

"येषु लोहितमिश्रमूवध्यमवधाय रुद्रसेनाभ्योऽनुदिशति आघोषिण्यः प्रतिघोषिण्यः सं घोषिण्यो विचिन्वत्यः श्वसनाः क्रव्याद एष वो भागस्तं जुषध्वं स्वाहेति।" शां० श्रौ० सू० ४।९।७।८

जैसे कि यज्ञों में दानवों के निमित्त उनके यज्ञांश रूप में शोणित दिया जाता है **"अस्ना रक्षः संसृजतादित्याह रक्षांस्येव तत्स्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते।"** ऐ० ब्रा० २।७।१

परवर्ती ग्रन्थों में रुद्र का आवास साधारणतया उत्तर में माना गया है जबकि अन्य देवों का आवास पूर्व में है। सम्भवत: अपने इस अप्रशस्त स्वभाव के कारण ही रुद्र ऋग्वेद में केवल एक स्थल पर चार मन्त्रों में सोम के साथ देवता-द्वन्द्व में आते हैं। वा० सं० में अभद्र विशेषणों से भी सम्बोधित किया गया है। यहाँ स्तायुपति, स्तेनपति, तस्करपति कहा गया है, सच पूछिये तो इन विशेषणों द्वारा प्रदर्शित उनका चरित्र वेदोत्तरकालीन शिव को भयावह, अशुचि एवं बीभत्स चरित्र के पास जा पहुँचता है। इतना होने पर भी रुद्र राक्षस की भाँति केवल अशिव ही नहीं है। ऋग्वेद में उनके लिये यह उल्लेख भी मिलता है कि वे देवताओं के यहाँ से आने वाले अमर्ष और एनस् को निवृत्त करते हैं, १।११४।४, २।३३।७ उनका अनुनय न केवल आपत्ति से बचाने के लिये अपितु कल्याण (शं) प्राप्ति के लिये भी किया गया है। ऋ० ५।५१।१३, २।३३।६ उनकी रोग-निवारिणी शक्ति का पुनः-पुनः उल्लेख मिलता है। वे औषध-देव हैं। १।११४।२; १।४३।६; २।३३।१२; ५।४२।११; ७।४६।३; १।११४।५ उनका हाथ यशस्कर व पीयूषपाणि है २।३३।७ वैद्यों के मूर्धन्य—२।३३।४, और उनकी सौख्यकारी ओषधियों के द्वारा उनके उपासक 'शतहिमाः' पर्यन्त जीने की आशा करते हैं। ऋ० २।३३।२ उनसे अनुरोध किया गया है कि वे अपने उपासकों के परिवारों से व्याधियों को दूर रक्खें ७।१६।२ और द्विपदों और चतुष्पदों के प्रति मीठे बनें जिससे कि सभी ग्रामवासी सुपुष्ट एवं

अनातुर बने रहें १।११४।१ इस सम्बन्ध में रुद्र के दो असामान्य विशेषण हैं जलाष और जलाषभेषज (पीयूषपाणि) १।४३।४, अथर्व २।२७।६ रोगों की सम्भवतः यह औषध जलवर्षा है। ५।५३।१४, १०।५०।६ रुद्र की यह विशेषता उनके स्वभाव का एक अटूट घटक है। इस तथ्य का अभिज्ञान ऋग्वेद के सूक्त ८।२० से होता है जिसमें सभी देवों की विशेषताएँ गिनायी गई हैं। रुद्र की विद्युत् और उनकी भेषजों का एक मन्त्र में साथ-साथ उल्लेख आया है—७।४६।३ में जलाष रुद्र का और उनके गणों का उपासकों पर कृपा करने के लिये आह्वान किया गया है **"शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः।"** ऋ० ७।३५।६; २।३३।१३; यजु० ३।५९; १६।५,४९ ऋ० २।२७।५, रुद्र की उपचार-शक्ति का उल्लेख कहीं-कहीं अन्य संहिताओं में भी मिलता है किन्तु उनके विघटक व्यापारों की अपेक्षा उनकी उपचार-शक्ति का उल्लेख कम हुआ है। सूत्रों में पशुओं की बीमारी का उपचार या निरोध करने के लिये रुद्र-यज्ञों का विधान किया गया है।

ऋग्वेद के उद्धरणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या है? साधारणतया उन्हें तूफान का देव समझा जाता है किन्तु इन्द्र के विपरीत रुद्र का वज्र क्रूर है। इन्द्र का वज्र केवल अपने उपासकों के शत्रुओं पर पड़ता है। फलतः प्रतीत होता है कि रुद्र मूलतः तूफान के शुचि एवं भद्रपक्ष के नहीं अपितु उनके घातक वैद्युत पक्ष के प्रतिरूप थे। इस मान्यता के द्वारा उनके घातक शस्त्र का और मरुतों के पिता या प्रमुख इस अभिधान का आधार स्पष्ट हो जाता है क्योंकि मरुत् का शस्त्र विद्युत् है और कहा गया है कि मरुत् विद्युत् के हस्कार (अट्टहास) दीप्तिकर एवं दीप्यमान अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए हैं। १।२३।१२ उनके दयाप्रवण एवं भैषज्य कार्यों का आधार अंशतः तूफान के प्रशामक और भूमि को उर्वरा बनाने वाले व्यापार रहे होंगे। कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया ने उनके क्रोध प्रशमनार्थ की गई प्रार्थनाओं द्वारा उनके भैषज्य परक शिव-विशेषण को जन्म दिया होगा जोकि आगे चलकर रुद्र के ऐतिहासिक उत्तराधिकारी देवता का वेदोत्तरकालीन गाथा में परिनिष्ठित नाम बनकर देश के सम्मुख आया है। इसी मान्यता से ऋग्वेद में मिलने वाले रुद्र और अग्नि के निकट सम्बन्ध की भी व्याख्या हो जाती है।

बेबर मानते हैं कि रुद्र प्रारम्भ में तूफान गर्जन के प्रतिरूप थे, अतः रुद्र के बहुवचन रूप का अर्थ होता है मरुद्गण, किन्तु अग्नि का गर्जन भी तो इसी प्रकार का है। फलतः तूफान और अग्नि इन दोनों के सम्मेलन से क्रोध और संहार के इस देवता का जन्म हुआ होगा। शतरुद्रिय में आने वाले विशेषण अंशतः रुद्र (तूफान) और अंशतः अग्नि (भौतिक अग्नि) से लिये गये हैं। एच० एच० विल्सन के विचार में रुद्र निश्चित रूप से अग्नि अथवा इन्द्र के एक रूप-विशेष थे। एल० वी० श्राडर के अनुसार रुद्र मूलतः उन प्रेतात्माओं के प्रमुख थे जो वायु के

साथ मिलकर तूफान उत्पन्न करती हैं। ओलडन वर्ग का मत है कि रुद्र मूलतः पर्वत एवं अरण्य के देवता थे जहाँ से आकर व्याधियों के बर्छे मनुष्यों पर आकर गिरा करते हैं।

अर्थ की दृष्टि से रुद्र की व्युत्पत्ति कुछ अनिश्चित-सी है। साधारणतया इस शब्द की व्युत्पत्ति रुद्र (चिल्लाना) से की जाती है जिससे इसका अर्थ होता है—चिल्लाने वाला। यह भारतीय व्युत्पत्ति है। ग्रासमान ने इसे एक कल्पित रुद् (चमकना) धातु से निष्पन्न हुआ बताया है जबकि पिशल इसे रुद् (लोहित होना) इस कल्पित धातु से व्युत्पन्न हुआ बताते हैं और इसका अर्थ करते हैं चमकीला या लोहित।

१. मैक्डोनल—'वैदिक रीडर'

मैक्डोनल ने अपनी 'वैदिक रीडर' पुस्तक में रुद्र देव के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका हिन्दी रूपान्तर हम यहाँ दर्शाते हैं—

"यह रुद्र देव ऋग्वेद में एक गौण देव है क्योंकि समग्र ऋग्वेद में इसके केवल तीन ही सूक्त हैं। उसके हाथ, बाहू और अवयवों का वर्णन किया गया है। उसके ओष्ठ सुन्दर हैं और वह उष्णीष धारण किये हुए है, उसका वर्ण बादामी है और वह चमकीला है क्योंकि देदीप्यमान सूर्य के समान वह चमकता है,...उसके हाथ में मेघस्थ विद्युत् का वज्र है जिसे वह आकाश से छोड़ता है। प्रायःकर धनुर्धारी के रूप में उसका वर्णन आता है।

रुद्र का मरुतों के साथ बहुत सम्बन्ध हैं क्योंकि वह उनका पिता है। और पृश्नि नामक गाय के देदीप्यमान गर्भस्थल से मरुतों की उत्पत्ति बताई गई है।

वह रुद्र क्रूर, हिंसक, पशु के समान भयंकर तथा विनाशक है उसको बैल कहा गया है और उसको स्वर्ग का लाल सूकर भी कहा गया है। वह बहुत ऊँचा, बलवानों में बलवान्, चंचल, न दबने वाला और सबसे बली है। वह यौवन तथा वृद्धावस्था से रहित है वह सबका राजा और जगत् का पिता है। वह सब मनुष्यों तथा देवताओं के कर्मों को जानता है क्योंकि वह सर्व जगत् का ईश है, पिता है, सर्वत्र उसका राज्य है। वह दानी, कल्याणकारी और आसानी से सन्तुष्ट होने वाला है। परन्तु प्रायः वह बड़ा द्रोही है क्योंकि जिन सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है उन सूक्तों में उसके क्रोध तथा शस्त्रों का भय स्पष्ट रूप से झलकता है।... परन्तु वह राक्षस के समान अत्याचारी नहीं है। वह कष्टों से बचाता है और आशीर्वाद देता है। उसका रोग-निवारण व स्वास्थ्यवर्धक रूप में वर्णन आता है, उसके पास सहस्रों प्रकार की ओषध है, वह वैद्यों का भी वैद्य है।

रुद्र का भौतिक आधार स्पष्ट नहीं है परन्तु यह सम्भव है कि उसके स्वभाव में जो भौतिक तत्त्व है वह बहुधा तूफानी होगा।"

यह मैक्डोनल कृत रुद्र देव के स्वरूप का वर्णन है। सरसरी दृष्टि से संस्कृत भाषा के आधार पर रुद्र देव के स्वरूप का सामान्य दिग्दर्शन है। इन वर्णनों में

अलंकार-गर्भित जो रहस्य प्रच्छन्न रूप में निहित है, उन्हें स्पष्ट नहीं किया गया है और न ही वर्णनों का परस्पर समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। और किसी देव के गौण और प्राधान्य स्वरूप-निर्णय में प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण यह रहता है कि वेदों में उसका वर्णन कितने मन्त्रों व सूक्तों में आता है। यह दृष्टिकोण उनका युक्त नहीं है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना है कि परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट नाम सब ऋषिओं व शास्त्रों की दृष्टि में 'ओ३म्' है। उसको केवल यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में ही स्थान दिया गया है। यजुर्वेद के ३९ अध्याय प्रायः कर्मकाण्ड-सम्बन्धी हैं। केवल ४०वाँ अध्याय ही ब्रह्म-काण्ड नाम से व्यवहृत होता है। अतः स्वल्प शब्दों, वाक्यों, मन्त्रों व स्वल्प सूक्तों में वर्णन होने से किसी देवता का गौण-प्राधान्य भाव होना उपयुक्त नहीं है।

२. **सर मोनियर विलियम**—'संस्कृत इंगलिश कोष'

"गर्जन करनेवाला रुद्र तूफानों का देव है, अन्य रुद्रों और मरुतों का पिता व राजा है। वेद में रुद्र देव का इन्द्र तथा अग्नि के साथ विशेष सम्बन्ध है।...बाद में काल के साथ भी उसका सम्बन्ध बताया गया है जोकि सर्वभक्षक है। यद्यपि यह संहारक देव समझा जाता है।...तथापि यह कल्याणकारक और आरोग्यदायक रूप में भी वर्णित हुआ है पर वायु को शुद्ध करता है।"

यह भी रुद्र देव का सामान्य व अपूर्ण वर्णन है। इससे रुद्र का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं होता।

३. **जान डासन साहब का मत**—'हिन्दू क्लासिकल डिक्शनरी'

"यह रुद्र गर्जना करनेवाला, भयानक देव है, जो तूफान का देव है, और जो रुद्रों तथा मरुतों का पिता है। प्रत्येक समय इसका सम्बन्ध अग्नि देव से जोड़ा जाता है। एक ओर यह देव सर्वसंहारक है। प्राणियों में बीमारियाँ फैलाता है तथा दूसरी ओर इसको सुख-प्रदाता तथा आरोग्यवर्धक समझा जाता है। ये ही भूताभूत तथ्य हैं जो आगे जाकर विकसित हो शिवरूप बने हैं।"

'यह रुद्र केवल तूफानों का ही देव है' सर जानसन का यह मत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है और वेद की सूक्ष्मताओं को न समझने के कारण है।

भारतीय भाष्यकारों की दृष्टि में रुद्र

सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने रुद्र पद के अनेकार्थ किये हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

सायणाचार्य—

१. रुद्रस्य कालात्मकस्य परमेश्वरस्य। ऋ० ६।२८।७
२. रुद्रं रुत् स्तुतिः तया गन्तव्यं स्तुत्यमित्यर्थः। ऋ० ८।७२।३

३. रुद्राय क्रूराय अग्नये। ऋ० १।२७।१०
क्रूर अग्नि रुद्र।

४. रोदयन्ति शत्रूनिति रुद्राः। ऋ० ३।३२।३
जो शत्रुओं को रुला देते हैं।

५. रुद्रेषु स्तोत्रकारिषु। ऋ० १०।६४।८
स्तोता रुद्र।

६. रुत् दुःखं तद्धेतुभूतं पापं वा तस्य द्रावयितारौ रुद्रौ, संग्रामे भयंकरं शब्दयन्तौ वा। ऋ० १।१५८।१

रुत् अर्थात् दुःख व पाप के नाशक अथवा युद्ध में भयंकर शब्द करने वाले वीर योद्धा रुद्र कहलाते हैं।

७. रुद्राणां प्राणरूपेण वर्तमानानां मरुतां यद्वा रोदयितृणां प्राणानां। प्राणा हि शरीरान्निर्गताः सन्तो बन्धुजनान् रोदयन्ति। ऋ० १।१०१।७

मनुष्यादि प्राणियों का प्राणवायु रुद्र है, यह जब शरीर से निकलता है तब बन्धु-बान्धवों को रुलाता है।

८. रुद्रियं सुखं ऋ० २।११।३ रुद्रसम्बन्धिभेषजं ऋ० १।४३।५
रुद्र-सम्बन्धी सुख तथा भेषज दोनों रुद्र हैं।

९. रौति शब्दायते तारकं ब्रह्म उपदिशतीति रुद्रः।
तथा च जाबालश्रुतिः। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रामत्सु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे। जाबा० उ०। अथर्व २।२७।६

संसार-सागर से पार करने वाले ब्रह्म का उपदेश करने वाला रुद्र है। जाबाल श्रुति भी यही कहती है।

१०. तस्मै जगत् स्रष्ट्रे सर्वं जगदनुप्रविष्टाय रुद्राय। अथर्व ७।९२।१
जगत् का स्रष्टा रुद्र है, वह इस जगत् में अनुप्रविष्ट है।

११. सर्वप्राणिनो मामनिष्ट्वा विनश्यन्तीति स्वयं रौति रुद्रः।
अथर्व १८।१।४०

सकल प्राणी मेरा भजन न कर विनाश को प्राप्त होते हैं, इस कारण वह स्वयं रोता है अतः रुद्र है।

रोदयति उपतापेन अश्रूणि मोचयति इति रुद्रो ज्वराभिमानी देवः।
अथर्व ६।२०।२

रुद्र ज्वराभिमानी देव है क्योंकि उपताप के कारण रोगी के आँसू निकलवाता है।

रुद्रः पशूनामभिमन्ता पीडाकरो देवः। अथर्व ६।१४१।१
पशुओं को पीड़ा देने वाला देव।

ये कुछ निरुक्तियाँ सायणाचार्य की यहाँ दर्शायी हैं। इसी प्रकार **उव्वट,**

महीधरादि आचार्यों की है। यथा—

रुद्रैः स्तोतृभिः। उव्वट ३८।१६

रुद्रवर्तनी रुग्णवर्तनी। यजु० १६।८२

रुद्रैः धीरैः। यजु० ११।५५

रुद्रस्य शिवस्य—महीधर। १६।५०

रुत् दुःखं द्रावयति रुद्रः। रवणं रुत् ज्ञानं राति ददाति, पापिनो नरान् दुःख-भोगेन रोदयति। महीधर १६।१

रुद्रैः धीरैः बुद्धिमद्भिः। यजु० ११।५५

कदन्नभक्षणे चौर्ये वा प्रवर्त्य, रोगमुत्पाद्य जनान्घ्नन्ति तेभ्यः पृथ्वीस्थेभ्यो अन्नायुधेभ्यो रुद्रेभ्यः। यजु० १६।६६

कुवातेऽन्नं विनाश्य वातरोगं वा उत्पाद्य जनान्घ्नन्ति। यजु० १६।६५

ये उपर्युक्त व्युत्पत्तियाँ सायणाचार्य, उव्वट तथा महीधर की प्रदर्शित की। अब हम महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदत्त निरुक्तियों को भी यहाँ दर्शाते हैं।

ऋग्वेद-भाष्य

१. रुद्राय परमेश्वराय जीवाय वा।……रुद्रशब्देन त्रयोऽर्था गृह्यन्ते। परमेश्वरो जीवो वायुश्चेति। तत्र परमेश्वरः सर्वज्ञतया येन यादृशं पापकर्म कृतं तत्फलदानेन रोदयिताऽस्ति। जीवः खलु यदा मरणसमये शरीरं जहाति पापफलं च भुंक्ते तदा स्वयं रोदिति वायुश्च शूलादिपीडाकर्मणा कर्मनिमित्तः सन् रोदयितास्ति। अत एते रुद्रा विज्ञेयाः। ऋ० १।४३।१

२. रुद्र दुःख-निवारक। ऋ० २।३३।७

३. रुद्रः दुष्टानां भयंकरः। ऋ० ५।४६।२

४. रुद्र दुष्टदण्डक। ऋ० ५।५।१३

५. रुद्र सर्वरोगदोषनिवारक। ऋ० २।३३।२

६. रुद्रस्य रोगाणां द्रावकस्य निःसारकस्य। ऋ० ७।५६।१

७. रुद्र रोगाणां प्रलयकृत्। ऋ० २।३३।३

८. रुद्र कुपथ्यकारिणां रोदयितः। ऋ० २।३३।४

९. रुद्रस्य प्राणस्य वर्तनिः मार्गः ययोस्तौ रुद्रवर्तनी। ऋ० १।३।३

१०. रुद्रं शत्रुरोद्धारं। ऋ० १।११४।४

११. रुद्रस्य शत्रूणां रोदयितुर्महावीरस्य। ऋ० १।८५

१२. रुद्राणां प्राणानां दुष्टान् श्रेष्ठांश्च रोदयतां। ऋ० १।१०१।७

१३. रुद्र ! रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति तत्सम्बुद्धौ। ऋ० १।११४।३

१४. रुद्रः अधीतविद्यः। ऋ० १।११४।११

१५. रुद्राय सभाध्यक्षाय। ऋ० १।११४।२

१६. रुद्र न्यायाधीश । ऋ० १।११४।२
१७. रुद्रियं रुद्रस्येदं कर्म । ऋ० १।४३।२

यजुर्वेद-भाष्य

१. रुद्रः परमेश्वरः । चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यो विद्वान् वा । यजु० ४।२०
२. रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः । यजु० ३।५७
३. दुष्टानां रोदयिता विद्वान् रुद्रः । यजु० ४।२१
४. रुद्रः शत्रूणां रोदयिता शूरवीरः । यजु० ६।३६
५. रुद्रस्य शत्रुरोदकस्य स्वसेनापतेः । यजु० ११।१५
६. रुद्रः जीवः । यजु० ८।५८
७. रुद्राः एकादश प्राणाः । यजु० २।५
८. रुद्राः प्राणरूपा वायवः । यजु० ११।५४
९. रुद्राः बलवन्तो वायवः । यजु० १५।११
१०. रुद्राः सजीवा अजीवाः प्राणादयो वायवः । यजु० १६।५४
११. रुद्राः मध्यस्थाः । यजु० १२।४४
१२. रुद्रा रुद्रसंज्ञका विद्वांसः । यजु० ११।५८
१३. रुद्र राजवैद्य । यजु० १६।४९
१४. रुद्रस्य सभेशस्य । यजु० १६।५०

ऋग्वेद-भाष्य में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कहते हैं कि—

१. रुद्र शब्द के तीन अर्थ होते हैं–ईश्वर, जीव और वायु । परमेश्वर सर्वज्ञ होने से जिसने जैसा पाप किया होता है, उसको वैसा ही दण्ड देकर पापियों को रुलाता है, इसलिये उसको रुद्र कहते हैं । जीव जब इस शरीर से पृथक् होने लगता है, उस समय शरीर छोड़ने और पाप-फल भोगने के कारण रोता है, इस कारण उसको रुद्र कहते हैं । तथा वायु दर्द उत्पन्न करके शरीर में पीड़ा देता है, इसलिये इस रोग उत्पन्न करने वाले वायु को भी रुद्र कहते हैं । इसलिये ये तीनों रुद्र हैं ।
२. दुःख-निवारण करने वाला रुद्र होता है ।
३. दुष्टजन जिससे डरते हैं, उसको रुद्र कहते हैं ।
४. दुष्टों को दण्ड देने वाले को रुद्र कहते हैं ।
५. सब रोगों और दोषों को दूर करने वाला रुद्र कहा जाता है ।
६. रोगों को हटानेवाला रुद्र होता है ।
७. रोगों का सर्वथा नाश करनेवाला रुद्र कहलाता है ।
८. कुपथ्य करनेवालों को रुलाता है, इसलिये उसको रुद्र कहते हैं ।
९. प्राण के मार्ग पर चलनेवालों को रुद्रवर्तनी कहते हैं ।

१०. शत्रु का प्रतिबन्ध करनेवाला रुद्र होता है।
११. अत्यन्त शूरवीर, जो शत्रुओं को रुलाता है, रुद्र कहा जाता है।
१२. दुष्टों और श्रेष्ठों को रुलानेवाले प्राणादि को रुद्र कहते हैं।
१३. जो सत्य उपदेश करता है, उसका नाम रुद्र है।
१४. जिसने विद्या का अध्ययन किया होता है, वह रुद्र कहलाता है।
१५. सभा का अध्यक्ष रुद्र होता है।
१६. न्यायाधीश को रुद्र कहते हैं।

यजुर्वेद-भाष्य

१. रुद्र परमेश्वर का नाम है। चवालीस वर्ष पर्यन्त जिसने ब्रह्मचर्य पालन किया है, उसका नाम भी रुद्र है।
२. अन्याय करनेवाले को जो रुलाता है, उसको रुद्र कहते हैं।
३. दुष्टों को रुलानेवाला विद्वान् रुद्र कहलाता है।
४. शत्रुओं को रुलानेवाले शूरवीर का नाम रुद्र है।
५. उसी प्रकार अपने सेनापति को रुद्र कहते हैं।
६. जीव को भी रुद्र कहते हैं।
७. ग्यारह प्राणों को रुद्र कहते हैं।
८. प्राण रूप भी रुद्र है।
९. बलवान् वायु रुद्र है।
१०. सजीवों और निर्जीवों में रहनेवाले वायु रुद्र हैं।
११. मध्यस्थों को रुद्र कहते हैं।
१२. विद्वानों का नाम रुद्र होता है।
१३. राजवैद्य रुद्र होता है।
१४. सभापति भी रुद्र कहलाता है।

इस प्रकार चारों आचार्यों का रुद्र-सम्बन्धी अर्थ यहाँ प्रदर्शित किया। विद्वान् लोग इन अर्थों को दृष्टि में रखकर रुद्र-सम्बन्धी निर्णय करें।

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द ने रुद्र देवता पर स्वतन्त्र रूप से न लिखकर विष्णु देवता के वर्णन-प्रसंग में रुद्र देवता पर कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। वे लिखते हैं कि "इस सूक्त (ऋ० १।१५४) का देवता विष्णु है जोकि ऋग्वेद में एक दूसरे देव रुद्र जिसने कि बाद में धर्म-सम्प्रदाय में एक बहुत ऊँचा स्थान पा लिया है, के साथ घनिष्ठ किन्तु प्रच्छन्न सम्बन्ध को और लगभग तद्रूपता को ही रखता है। रुद्र एक भयंकर और प्रचण्ड देव है जिसका एक हितकारी रूप भी है जो कि विष्णु की उच्च

आनन्दपूर्ण वस्तु सत्ता के निकट पहुँचता है, मनुष्य के साथ तथा मनुष्य के सहायक देवों के साथ जो विष्णु की सतत मित्रता का वर्णन आता है उस पर एक बड़ी जबर्दस्त प्रचण्डता का रूप भी छाया हुआ है—विष्णु के विषय में कहा गया है 'कुत्सित तथा दुर्गम स्थानों में विचरनेवाले एक भयानक शेर के रूप में'—यह ऐसा वर्णन है जो अपेक्षाकृत अधिक सामान्य तौर से रुद्र के लिये उचित है। 'रुद्र प्रचण्डतापूर्वक युद्ध करनेवाले मरुतों का पिता है।..........रुद्र वह देव है जोकि विश्व में आरोहण क्रिया किया करता है। विष्णु भी वही देव है जो आरोहण की शक्तियों की सहायता करता और उन्हें प्रोत्साहन देता है।' हमारे विचार में विष्णु त्रिपदी द्वारा स्वयं भी आरोहण करता है, उसने आरोहण द्वारा त्रिलोकी को माप लिया है। यह विषय हमने अपने **'विष्णु देवता'** पुस्तक में विस्तार से दर्शाया है (लेखक)। आगे श्री अरविन्द लिखते हैं—"एक दृष्टिकोण यह था जोकि बहुत काल तक यूरोपियन विद्वानों द्वारा प्रचारित किया जाता रहा कि पौराणिक देव-वंशावलियों में विष्णु तथा शिव की महत्ता एक बाद में हुआ विकास है और वेद में ये देव एक बिल्कुल क्षुद्र-सी स्थिति रखते हैं तथा इन्द्र और अग्नि की अपेक्षा तुच्छ हैं। अनेक विद्वानों का यह एक प्रचलित मत तक बन गया है कि शिव एक बाद का विचार था जो द्रविडियों से लिया गया और यह इस बात को प्रकट करता है कि वैदिक धर्म पर देशीय संस्कृति ने जिस पर इसने आक्रमण किया था आंशिक विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार की भूलों का उठना अनिवार्य ही है, क्योंकि वैदिक विचार को पूर्णतः गलत रूप में समझा गया है। इस गलत समझे जाने के लिये प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थीय कर्मकाण्ड जिम्मेवार है और इसे यूरोपियन विद्वत्ता ने वैदिक गाथा विज्ञान के गौण तथा बाह्य अंग पर अतिशय बल देकर केवल एक नया तथा और भी अधिक भ्रान्तिपूर्ण रूप ही प्रदान किया है।"

श्री अरविन्द ने यूरोपियन विद्वानों के उपर्युक्त भ्रान्तिपूर्ण मत का खण्डन किया है। श्री अरविन्द रुद्र के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं—'ब्रह्मणस्पति की रचनाओं की ऊर्ध्वमुखी गति के लिये शक्ति देता है रुद्र। वेद में उसे "द्यौ का शक्तिशाली देव' यह नाम दिया गया है, परन्तु वह अपना कार्य आरम्भ करता है पृथ्वी पर और हमारे आरोहण के पाँचों स्तरों पर यज्ञ को क्रियान्वित करता है। यह वह उग्रदेव है जोकि सचेतन सत्ता की ऊर्ध्वमुखी उन्नति का नेतृत्व करता है, उसकी शक्ति सब बुराइयों से युद्ध करती है, पापी को और शत्रु को आहत कर देती है, न्यूनता तथा स्खलन के प्रति असहिष्णु वही है जो देवों में सबसे अधिक भयानक है। केवल उसी से वैदिक ऋषि कोई वास्तविक भय मानते हैं। अग्नि-कुमार, जो कि पौराणिक 'स्कन्द' का मूल है पृथिवी पर इसी रुद्र-शक्ति का पुत्र है। मरुत्, वे प्राणशक्तियाँ, जो कि बलप्रयोग द्वारा अपने लिये प्रकाश को रचती हैं, रुद्र के ही पुत्र हैं। अग्नि और मरुत् उस भयंकर संघर्ष के नेता हैं जोकि रुद्र की प्रथम

पार्थिव धुँधली रचना से शुरू होकर अमर विचार के द्युलोकों, प्रकाशमान लोकों तक होता रहता है। किन्तु यह प्रचण्ड और शक्तिशाली रुद्र जोकि बाह्य तथा आन्तरिक जीवन की सब त्रुटिपूर्ण रचनाओं को तथा समुदायों को तोड़ गिराता है साथ ही एक दयालु रूप को भी रखता है, वह परम भिषक्, भैषज्यकर्ता है। विरोध किये जाने पर वह विनाश करता है; सहायता के लिये पुकारे जाने पर तथा प्रसादित किये जाने पर वह सब घावों को तथा सब पापों को और कष्टों को निवारण कर देता है, शक्ति जो कि युद्ध करती है उसी की देन है, पर साथ ही चरम शान्ति और आह्लाद भी उसकी देनें हैं। वैदिक रुद्र के इन रूपों में उस पौराणिक शिव-रुद्र के विकास के लिये आवश्यक सब आदिम सामग्रियाँ विद्यमान हैं जोकि पौराणिक शिव-रुद्र- विनाशक तथा चिकित्सक हैं, मंगलकारी तथा भयानक हैं, लोकों के अन्दर क्रिया करने वाली शक्ति का अधिपति तथा परम स्वाधीनता और शान्ति का आनन्द लेने वाला योगी है।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने विष्णु देवता के विवेचन-प्रसंग में समागत रुद्र देवता पर भी कुछ प्रकाश डाला है जोकि अति संक्षिप्त होते हुए भी अपनी आध्यात्मिक विद्या में वह सर्वांगपूर्ण विवेचन हो जाता है। वैदिक देवताओं के आध्यात्मिक स्वरूप-प्रदर्शन में श्री अरविन्द एक सिद्धहस्त कलाकार हैं।

सप्तम अध्याय

अष्टमूर्ति महादेव

वेदादि सत्य शास्त्रों में अनेक प्रकार से सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम में रुद्र भगवान् के आठ जन्मों का भी वर्णन आता है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

श० प० ६।१।३ में आता है कि प्रजापति अकेला था उसने चाहा कि मैं प्रजनन करूँ। इसके लिये उसने श्रम किया, तपश्चर्या की। उसके तप से जल की (आपः) की उत्पत्ति हुई। जल से फेन बना, फेन से मिट्टी का निर्माण हुआ, मिट्टी से सिकता बनी, सिकता से शर्करा (कंकर) बनी, शर्करा से अश्मा (पत्थर), पत्थर से लोहा (अयस्) बना, अयस् से सुवर्ण सदृश आभा वाला पदार्थ बना। इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति के ये आठ क्षरण (अक्षरत्) हुए। यह आठ क्षरणों अर्थात् आठ अक्षरों वाली गायत्री कहलायी। जब यह भूमि अपने क्रमिक निर्माण की अवस्थाओं को पार कर प्रतिष्ठित दृढ़ व स्थिर हुई तब उसे भूमि संज्ञा प्राप्त हुई। इस भूमि का प्रथम विस्तार व फैलाव होने से वह पृथिवी कही गई। इस पृथिवी पर सबसे पूर्व ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। इन्हें ब्राह्मणकार भूत नाम से सम्बोधित करते हैं। इन ऋतु रूपी भूतों का पति संवत्सर बना। संवत्सर वर्ष को कहते हैं अर्थात् एक वर्ष में ये ६ ऋतुएँ इस पृथिवी पर होने लगीं।

कुमार की उत्पत्ति

सबकी प्रतिष्ठा रूप इस पृथिवी पर भूतों के पति सौराग्नि ने तथा भूतों (ऋतुओं) ने संवत्सर पर्यन्त की दीक्षा ली। तदनन्तर भूतों तथा भूतों के पति सौराग्नि ने उषा रूप पत्नी में रेतस् का सिंचन किया तो इससे कुमार की उत्पत्ति हुई। यह कुमार भी अग्नि है जोकि सद्योत्पन्न प्राणियों में होती है। इस कुमाराग्नि को वेदों ने साहदेव्य (ऋ० ४।१५।७-१०) कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि इस कुमारावस्था में पाप, बुरे विचार आदि आसुरी शक्तियों का अभाव होता है। मन में किसी प्रकार का मल व छल-छिद्र आदि नहीं होता। इस अवस्था में आसानी से दिव्यता का प्रादुर्भाव किया जा सकता है।

उत्पन्न होते ही यह कुमार रोने लगा। प्रजापति बोला कि 'हे कुमार! बड़े परिश्रम व तप से तो तुझे पैदा किया तू रो क्यों रहा है?' वह बोला कि मेरा कोई नाम नहीं है। उत्पन्न हुए कुमार का जब तक नामकरण नहीं होता तब तक वह पापग्रस्त होता है। (अनपहत पाप्मा अहितनामा)। अतः मेरा नाम रक्खो। तब प्रजापति ने उसके रोदन के कारण उसका नाम रुद्र रख दिया। **"तस्मात् पुत्रस्य नाम कुर्यात् पाप्मानमेवास्य तदपहन्ति"** श० प० ६।१।३।६ इस कारण उत्पन्न हुए पुत्र का नामकरण संस्कार करना चाहिये, इससे उसके पाप आदि को दूर करता है। बिना नाम के कुमार को कोई आदेश, निर्देश व आह्वान आदि व्यवहार उपपन्न नहीं होता, यही पाप है। शतपथकार कहते हैं कि यह अग्नि ही रुद्र बना। बच्चा उत्पन्न होते ही रोता है, इसका कारण यह है कि आन्तरिक उदराग्नि अन्न की माँग करती है जबतक यह माँग पूरी नहीं होती तबतक वह बच्चा रोता ही रहेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि अग्नि ही रोदन कर रही है, कहा भी है—**"तमब्रवीद् रुद्रोऽसीति तद् यदस्य तन्नामाऽकरोदग्निस्तद् रूपमभवदग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः"** श० प० ६।१।३।१० अर्थात् क्योंकि तू रोता है अतः तेरा नाम रुद्र है। यह रुद्र अग्नि ही है। अब कुछ काल पश्चात् रुद्र ने प्रजापति से कहा कि मैं अब अपने पूर्व रूप से बड़ा हो गया हूँ अतः मेरा और नाम रक्खो, तब प्रजापति ने उसका दूसरा नाम सर्व=शर्व रक्खा। यह सर्व आपस्तत्त्व है क्योंकि जलीय तत्त्व से सब उत्पत्ति होती है (आपो वै सर्वोऽद्भ्यो हीदं सर्वं जायते)। क्योंकि निर्माण में तोड़-फोड़ होती है तभी नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है यह तोड़-फोड़ तथा परमाणुओं का परस्पर टकराव आदि मन्यु के कारण ही सम्भव है अतः यह रुद्र का रूप हुआ। इसी तोड़-फोड़ के कारण इस 'सर्व' को अन्यत्र शर्व भी कहा जाता है। (शर्व—शॄ हिंसायाम्) 'सर्व' पद समग्रता व सर्वोत्पत्ति को सूचित करता है तो 'शर्व' उस उत्पत्ति-प्रक्रिया में तोड़-फोड़ व हिंसा को सूचित करता है। अब पुनः रुद्र ने प्रजापति से कहा कि मैं और बड़ा हो गया हूँ अतः मेरा अगला नाम रक्खो। तब प्रजापति ने उसे 'पशुपति' नाम दिया। पशुपति औषधियों को कहा है अर्थात् औषधियों में विद्यमान अग्नि पशुपति है। क्योंकि औषधियाँ पशुओं का भोजन बनती हैं जिससे उनका पालन-पोषण होता है और उनमें पति बनने की शक्ति पैदा होती है जिससे आगे उत्पत्ति-प्रक्रिया चल पड़ती है। कहा भी है—**"यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथपतीयन्ति"**। अब पुनः रुद्र ने प्रजापति से कहा कि मैं और बड़ा हो गया हूँ अतः मेरा और नाम रक्खो। प्रजापति ने उसका अगला नाम 'उग्र' रक्खा। यह वायु है क्योंकि वायु जब बवण्डर बन बलपूर्वक बहती है तो बड़े-बड़े वृक्षों, मकानों, पर्वतों, आदिको धराशायी कर देती है। पिण्ड में भी औषधि आदि अन्न-भक्षण के पश्चात् वायु की उत्पत्ति होती है। अब पुनः रुद्र के प्रार्थना करने पर प्रजापति ने उसका नाम 'अशनि' रक्खा।

अशनि विद्युत् को कहते हैं (**विद्युद् वा अशनिः**)। क्योंकि जिसको बिजली मारती है तो यह कहा जाता है कि अशनि ने इसे मारा। अशनि वज्र भी है। (**तस्माद् यं विद्युद्धन्त्यशनिरवधीदित्याहुः**) अगला नाम उसका 'भव' रक्खा गया। 'भव' पर्जन्य को कहते हैं। पर्जन्य मेघ (**परोजनयिता**) है। जब मेघ बरसता है तब वह वर्षा ऋतु होती है। वर्षा ऋतु में जहाँ औषधि-वनस्पति आदि की बहुलता होती है, वहाँ नाना प्रकार के कीट,पतंग,सर्प,बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति भी स्वतः हो जाती है। पर्जन्य का 'भव' रूप एक सीमित उत्पत्ति का द्योतक है और यह भी उसका उग्र रूप है। अब इसके पश्चात् अगला नाम 'महादेव' रक्खा गया। यह महादेव चन्द्रमा रूप है। शतपथकार कहते हैं कि वस्तुतः प्रजापति का ही एक रूप चन्द्रमा है। प्रजापति प्रजाओं की उत्पत्ति करनेवाला है। चन्द्रमा भी सोम रूप होने से सृष्टि-उत्पत्ति में रेतस् का काम करता है। भौहों के मध्य भाग में सोम मण्डल है जहाँ कि (चन्द्राद् भ्रुवोरन्तर्वामभागस्थात् सोमात्—हठयोगप्रदीपिका-टीका) इडा नाड़ी आकर मिलती है। इडा चन्द्र नाड़ी है। यह सोम-मण्डल चन्द्रमा है, इन्हीं भ्रुवों के मध्य में त्र्यम्बक रूप में महादेव की सत्ता है, उस अवस्था में सोम···चन्द्रमा और महादेव एक हो जाते हैं। अब पुनः रुद्र ने प्रजापति से नये नाम के लिये प्रार्थना की, प्रजापति ने उसका अगला नाम 'ईशान' रक्खा। यह ईशान आदित्य है। (आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे) यह आदित्य ही सब पर स्वामित्व रखता है। इस प्रकार रुद्र के ये आठ नाम क्रमशः रक्खे गये हैं। रुद्र के ये आठों रूप अग्नि के ही रूप हैं। इन आठों रूपों में नौवाँ कुमाराग्नि अनुप्रविष्ट हुआ २ है। कहा भी है—"**तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि। कुमारो नवमः।···सोऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्राविशत्**" श० प० ६।१।३।१६ यही कुमाराग्नि पुरुष, अश्व, गौ, अवि तथा अज इन पाँच पशुओं में प्रविष्ट हुआ २ है। यही तथ्य श० प० ६।२।१।१-२ में कथानक रूप में वर्णित हुआ है। सब पशु इन्हीं पाँचों में विभक्त हैं। एक प्रकार से ब्रह्माण्ड के समग्र पशु इन्हीं पाँचों में आ जाते हैं। शतपथब्राह्मण-वर्णित रुद्र के आठ रूप तालिका में इस प्रकार रक्खे जा सकते हैं—

	कुमार		
१.	रुद्रः	···	अग्निः
२.	सर्वः	···	आपः
३.	पशुपतिः	···	ओषधिः
४.	उग्रः	···	वायुः
५.	अशनिः	···	विद्युत्
६.	भवः	···	पर्जन्यः
७.	महादेवः	···	चन्द्रमा
८.	ईशानः	···	आदित्यः

शिवपुराण-र्वणित अष्टमूर्ति

रुद्र की ये आठ मूर्तियाँ शिवपुराणादि अन्य ग्रन्थों में निम्न प्रकार हैं :

अष्टमूर्ति

ब्रह्माण्ड			पिण्ड
१. शर्व	··· क्षितिमूर्ति	— जगद्धारिणी	१. रुद्र ···चक्षुषि
२. भव	··· जलमूर्ति	— जीवनप्रदा	२. भव ···अन्नरसेषु
३. रुद्र	··· अग्निमूर्ति	— प्रकाशप्रदात्री	३. शर्व ···अस्थिषु
४. उग्र	··· वायुमूर्ति	—गति व भरणपोषणकर्त्री	४. ईशान···प्राणापानादिषु
५. भीम	···आकाशमूर्ति	— अवकाशदार्त्री सर्वव्यापिनीर्वा	५. पशुपति···उदराग्नौ
६. पशुपति	···यजमानमूर्ति	—सर्वक्षेत्रगता पाशछेदिनी	६. भीमा···देहछिद्रेषु
७. महादेव	···सोममूर्ति	— सोमामृतवर्षिणी	७. उग्रा···जीवेषु
८. ईशान	···सूर्यमूर्ति	—	८. महादेव···मनसि।

शब्दमाला में महादेव की आठ मूर्तियों का निरूपण निम्न श्लोक में किया है—

अष्टमूर्तिनिऽधीशश्च ज्ञानचक्षुस्तमोमयः।
अथाग्निः रविरिन्दुश्च भूमिरापः प्रभञ्जनः।
यजमानः खमष्टौ च महादेवस्य मूर्तयः।।

रुद्र के इन आठ रूपों में प्रत्येक पर विशद विवेचन की आवश्यकता है। वह यहाँ सम्भव नहीं अतः संक्षेप में शिवपुराण के शिवार्चन-सम्बन्धी श्लोकों का सार यहाँ दर्शाते हैं।

ब्रह्मा से लेकर औषधि-वनस्पति व स्थावर पर्यन्त सब जीव पशु हैं। सांख्य-प्रतिपादित २४ तत्त्व मायाकृत विषय पाश हैं। इन पाशों में जीवों को बाँधने वाले पशुपति रुद्र भगवान् हैं। जन्ममरण के चक्र से छूटने के लिए इन अष्टमूर्तियों की आराधना व पूजा कही गई है क्योंकि महादेव की ये अष्टमूर्तियाँ अखिल विश्वरूप हैं। समग्र संसार में ओतप्रोत है अतः उनकी आराधना व पूजा का क्या तात्पर्य है, यह श्लोक में दर्शाया गया है।

सर्वाभयप्रदानश्च सर्वानुग्रहणं तथा।
सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः।।

सकल प्राणियों को अभय देना, सबके प्रति अनुग्रह तथा कृपादृष्टि रखना, तथा सबका उपकार यही शिव की वास्तविक आराधना है।

भागवत पुराण ३।१२ में आता है कि प्रजापति के भ्रुवों के मध्य से मन्यु रूप में कुमार नीललोहित की उत्पत्ति हुई। यथा "धियानिगृह्यमाणोऽपि

भ्रुवोर्मध्यात् प्रजापतेः सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः। भा०पु० ३।१२
क्रोध और मन्यु में क्या भेद है यह उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है। मन्यु बुद्धि से निगृहीत-सा होता है उसमें बुद्धि बिल्कुल विलुप्त नहीं होती पर क्रोध में मनुष्य की बुद्धि पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। और इसी प्रसंग में वहाँ यह भी बताया है कि रुद्र का निवास कहाँ-कहाँ होता है। यथा हृदय, इन्द्रिय, असु (प्राण) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा और तप ये रुद्र के निवास स्थान हैं।

कुमार के अनेक नाम

पुराणों में कुमार के कई नाम आते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं :

१. कुटिला नदी का पुत्र होने से ... कुमार
२. कृत्तिकाओं ,, ,, ,, ... कार्तिकेय
३. गौरी पुत्र ,, ,, ,, ... स्कन्द
४. शिव ,, ,, ,, ... गुह
५. हुताशन ,, ,, ,, ... महासेन
६. शरवण ,, ,, ,, ... सारस्वत
७. ६ मुख होने से ,, ,, ... षण्मुख

ये उपर्युक्त कुमार के नाम हैं। इन सातों कुमार नामों पर विचार न कर संक्षेप में एक-दो नामों पर ही विचार करते हैं।

कार्तिकेय

कृत्तिका नक्षत्रों से सम्बन्ध होने से कुमार का नाम कार्तिकेय पड़ा। शिव पुराणान्तर्गत कथानक के आधार पर कृत्तिकाओं से पालित होने के कारण यह कुमार कृत्तिकाओं का भी पुत्र माना गया है। कृत्तिका नक्षत्र संख्या में ६ हैं। इन ६ ओं का एक समय में ही स्तन्यपान करने के कारण इसे षण्मुख भी कहते हैं। मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं में ये कृत्तिकाएँ ७ मानी गई हैं। काठ० ८।१ में अग्न्याधान के प्रसंग में आता है—**"आग्नेयमेतन्नक्षत्रं यत् कृत्तिका यत् कृत्तिकास्वग्निमाधत्ते स्व एवैनं नक्षत्र आधत्ते। प्रजापतेर्वा एतच्छिरो यत् कृत्तिका यत् कृत्तिकास्वग्निमाधत्ते। शीर्षण्यो मुख्यो भवति सप्त वै कृत्तिकास्सप्त शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा इन्द्रियाणि प्राणानेवेन्द्रियाण्याप्नोति।"**

अर्थात् यह कृत्तिका नक्षत्र आग्नेय है। इस नक्षत्र में ब्राह्मण अग्न्याधान करता है। क्योंकि ब्राह्मण अग्निरूप है। इसलिये कहा कि वह 'स्वे नक्षत्रे' अपने ही नक्षत्र में अग्न्याधान करता है। कृत्तिका प्रजापति का सिर है अतः इस नक्षत्र में अग्न्याधान मस्तिष्क-शक्ति की वृद्धि करने वाला होता है। मनुष्य के शरीर में भी इन कृत्तिकाओं की सत्ता है और मै० सं० तथा काठक० सं० के आधार पर इनकी

संख्या सात है। इनको शीर्षण्य प्राण कहा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी ये सात मस्तिष्क के केन्द्र (Seven Brain Centres) हैं। याज्ञिक कर्मकाण्ड के आधार पर मस्तिष्क में अग्नि की सात स्वल्पवेदिकाएं हैं। मैं० सं० १।६।६ में आता है—

कृत्तिकासु ब्राह्मणस्यादध्यात्। आग्नेयीः कृत्तिका आग्नेयो ब्राह्मणः स्व एवैनं योनौ स्वैऽहन्नाधत्ते। अन्नाद्यमस्या अवरुन्धे सप्तकृत्तिकाः सप्तशीर्षन् प्राणाः प्राणानस्मिन् दधाति।"

अर्थात् कृत्तिकाएं अग्निरूप हैं और ब्राह्मण भी अग्निमय है अतः ब्राह्मण कृत्तिका नक्षत्र के दिन मस्तिष्कस्थ कृत्तिका प्राणों में अग्नि का आधान करे। इन शीर्षस्थ सप्त प्राणों द्वारा ज्ञानरूप अन्न का भक्षण करे। शीर्ष्णाऽन्नमद्यते शीर्षस्थ यह कुमाराग्नि कृत्तिकाओं के कारण षण्मुख व सप्तमुख तथा कार्तिकेय नाम को धारण करती है।

स्कन्द

स्कन्द भी कुमाराग्नि का ही नाम है। इसका स्कन्द नाम इसलिये पड़ा कि उषा-पत्नी में सौराग्नि का रेतस् प्रस्रवित हुआ (स्कन्दू प्रस्रवणे) प्रस्रवण स्कन्दन के कारण यह कुमार स्कन्द नाम से व्यवहृत हुआ।

वेद व शिवपुराण-वर्णित रुद्र-तत्त्व का तुलनात्मक विवेचन—

वेदों तथा शिवपुराण दोनों में रुद्र देव को परम पिता परमात्मा का रूप माना है। वेद की दृष्टि से रुद्र इस सकल भुवन का पिता है। ऋ० २।३३।९,६।४९।१०, ५०।४ एक मन्त्र में कहा है—

"ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम्।"

ऋ० २।३३।९

अर्थात् इस सकल जगत् के ईश उस परमपिता परमात्मा से उसकी आसुरी शक्ति प्राणशक्ति कभी पृथक् नहीं होती। रुद्र देव के सम्बन्ध में यह वेद का वर्णन हुआ। शिवपुराण में भी आदि से अन्त तक शिव-सम्बन्धी जो वर्णन मिलता है वह प्रमुख रूप से निराकार परात्पर पूर्ण ब्रह्म का ही वर्णन है। और जो साकार शिव का वर्णन हुआ है, उसका दिग्दर्शन व विवेचन हम आगे करेंगे। वेदों व उपनिषदों में पूर्ण परब्रह्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वही शिवपुराण में शिवतत्त्व के लिये उपलब्ध होता है। यह तथ्य शिवपुराण में उपासकों द्वारा की गई शिव-स्तुति से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ ब्रह्मा की मानस पुत्री सन्ध्या देवी द्वारा की गई शिव-स्तुति दर्शनीय है। वहाँ आता है—"जो निराकार तथा ज्ञान-विज्ञान द्वारा गम्य है, जो न स्थूल है, न सूक्ष्म है और न उच्च है जिनका चिन्तन योगिजन

अपने हृदय के भीतर करते हैं। उन्हीं सृष्टिकर्त्ता परब्रह्म आपको मेरा नमस्कार है। जो शर्वरूप है, शान्त, निर्मल, निर्विकार और ज्ञानगम्य है। जो स्व-प्रकाश से प्रकाशित हैं, जिनमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, जो आकाश तुल्य, निर्गुण, निराकार होते हुए तमो मार्ग से नितान्त शून्य है उस प्रसन्न व आप्त शिव को मेरा नमस्कार है। जो एकरूप, अद्वितीय शुद्धस्वरूप स्वप्रभा से भासित सच्चिदानन्दरूप, सहज निर्विकार, नित्यानन्द रूप, सत्य ऐश्वर्य से सम्पन्न शिव भगवान् को मैं प्रणाम करती हूँ। जिनके आकार की कल्पना ज्ञानरूप में ही की जा सकती है, जो इस जगत् से सर्वथा भिन्न है, सत्य ही जिसका आच्छादक है। ध्यानयोग्य, सबको पार पहुँचाने वाले पवित्रतम उन परमेश्वर को मेरा नमस्कार है। आकाश, पृथिवी, दिशाएँ, जल, तेज तथा काल ये जिनके रूप हैं उन आप महेश्वर को मेरा नमस्कार है।

इस प्रकार सन्ध्या देवी द्वारा की गई शिव-स्तुति शिव को पूर्ण परब्रह्म सिद्ध करती है। वेद-मन्त्रों के उद्धरणों से भी यही स्पष्ट है। अथर्व ११।२।१० में द्यु, पृथिवी तथा प्राणिमात्र को उस रुद्र भगवान् का 'आत्मन्वत्' आत्मरूप बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु।। अथर्व ११।२।१०

हे रुद्र! इन चारों दिशाओं में द्यु, पृथिवी तथा इस महान् अन्तरिक्ष लोक में जो कुछ है वह सब तेरा ही है और जो इस पृथिवी पर प्राणधारी है यह सब तेरा आत्मरूप है अथवा तुझ आत्मा वाला है।

इससे अगले ही मन्त्र में कहा है कि वह रुद्र भगवान् एक विशाल कोश है जिसके अन्दर विश्व भुवनरूपी वसु रक्खा है।

इस प्रकार सकल ब्रह्माण्ड का यह रुद्र भगवान् आत्मरूप है और यह उसका शरीर है, इसी कारण उस रुद्र भगवान् को 'पुरुरूप' कहा गया है। उपर्युक्त तथ्य को अथर्व ७।९२।१ में अधिक स्पष्ट शब्दों में परिपुष्ट किया गया है। वहाँ आता है कि यह रुद्र देव सूक्ष्म अग्नि है जोकि स्थूल अग्नि, जल, ओषधि-वनस्पति आदि पदार्थों में व्याप्त है और जो सम्पूर्ण भुवनों को सामर्थ्य वाला बनाता है। उस सूक्ष्माग्नि रुद्ररूप को हमारा नमस्कार है।

इस उपर्युक्त मन्त्र द्वारा उसकी सर्वत्र सब वस्तुओं में व्यापकता स्पष्ट झलकती है। अथर्व १३।४ में दर्शाया गया है कि सभी देवता उस महादेव में एकवृत हुए हैं। इन सब वर्णनों से यह स्पष्ट है कि शिवपुराण में वर्णित शिव का परात्पर परब्रह्मरूप तथा वेदों में वर्णित रुद्र देव का सर्वव्यापी सर्वदेवमय परमात्मरूप एक-समान है।

अब यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि यदि यह रुद्र सच्चिदानन्दरूप पूर्ण परब्रह्म

है तो इन्द्र, वरुण, अर्यमा, धाता, विधाता आदि से उसका क्या कोई पार्थक्य नहीं है ? यदि पार्थक्य है तो पूर्ण गुण-सम्पन्न पूर्ण परब्रह्म का पूर्ण रूप तो ग्रहण नहीं किया जा सकता। जिस समय रुद्रत्व है उस समय धातृत्व व इन्द्रत्व आदि नहीं होगा, यह एक समस्या है। इसका समाधान यह है कि जिस समय जिस स्थल पर रुद्रत्व का प्रकटन होता है वहाँ अन्य सब गुण शान्त होते हैं। इन्द्र, वरुण आदि देवता उस पूर्ण परब्रह्म की शक्ति-विशेष हैं या गुण-विशेष हैं। जिस समय रुद्र का प्रकोप होता है, सब कुछ विनष्ट हो रहा होता है उस समय निर्माण का ग्रहण नहीं होगा। ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र की सत्ता वहाँ नहीं होगी। रुद्र के दो तनु—अर्थात् शरीर हैं, एक शिव-तनु और दूसरा घोर-तनु। शिवपुराण में रुद्र के शिव-तनु को ही प्रमुखता दी है। क्योंकि देवों से लेकर कृमि-कीट तक प्रत्येक प्राणी रौद्र रूप से डरता है, वह उसको शिवरूप में ही देखना चाहता है। परन्तु रुद्र में रुद्रत्व उसका स्वाभाविक गुण-धर्म है, वह उससे त्रिकाल में भी पृथक् नहीं हो सकता तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि उसे शिव क्यों कहा गया है ? उसका समाधान यही है कि मानव के शत्रुओं, व्याधिजनक कृमि-कीटों के प्रति जब रौद्ररूप प्रकट होता है तब स्वभावतः मनुष्यों का कल्याण हो जाता है। कहने को तो रुद्र को शिव-तनु कह दिया है पर वस्तुतः शिव-तनु नहीं होता। शिव अर्थात् कल्याणकारक रूप की सब कामना करते हैं, एक प्रकार से कल्याण-कामना की भावना में शत्रुओं के विनाश की कामना प्रच्छन्न रूप में निहित होती है। मनुष्य अपने प्रति रुद्र के रौद्र रूप का आक्रमण कभी नहीं चाहता। इसी कारण 'रुद्र पुराण' न कहकर शिव-पुराण नाम रक्खा गया है। परन्तु रुद्र के प्रकोप से मनुष्य भी बच नहीं सकता क्योंकि मनुष्य पाप-कर्म कर ही बैठता है। मनुष्य का अधःपतन आसानी से होता है, उर्ध्व गमन व उत्थान के लिये भारी परिश्रम करना पड़ता है। पापी व्यक्ति भी चाहे वह शिव अर्थात् कल्याण का अधिकारी न हो, रुद्र के प्रकोप को नहीं चाहता; वह शिव ही चाहता है। अतः शिव-पुराण नाम मानव की स्वाभाविक मनोवृत्ति का द्योतक है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र के प्रति नमस्कार उसके रौद्ररूप को दूर रखने के लिये है। और जहाँ रुद्र के शिव-शंकर आदि रूपों के प्रति नमस्कार है वह कल्याण-प्राप्ति के लिये है।

सन्ध्या देवी : निराकार तथा साकार शिव

शिवपुराण में सन्ध्या देवी द्वारा की गई स्तुति में निराकार, पूर्ण परब्रह्म का जहाँ अत्यन्त स्पष्ट वर्णन दृष्टिगोचर होता है वहाँ साकार शिव का भी वर्णन किया गया है। सन्ध्या देवी के ये उद्‌गार निराकार परब्रह्म के लिये कितने स्पष्ट व वेद-सम्मत हैं, यथा—

यस्य नादि र्न मध्यं च नान्तमस्ति जगद् यतः।
कथं स्तोष्यामि तं देवमवाङ्‌ मनसगोचरम्।।

जिस शिव का आदि, मध्य और अन्त नहीं है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, वाक् आदि इन्द्रियाँ तथा मन से जो अगोचर है उस शिव की मैं कैसे स्तुति करूँ ?

सन्ध्या देवी आगे कहती हैं—

यस्य ब्रह्मादयो देवा मुनयश्च तपोधनाः।
न विवृण्वन्ति रूपाणि वर्णनीयः कथं स मे।।

ब्रह्मा आदि देवता तथा तपस्वी ऋषि-मुनि भी जिसके रूपों के वर्णन करने में असमर्थ हैं, मैं कैसे उसका वर्णन करूँ।

सन्ध्या देवी द्वारा कितना सटीक, सत्य व दिव्य कथन किया गया है। उस निराकार के रूपों व आकारों की कल्पना करना नितान्त असम्भव है पर फिर भी वेदों व पुराणों दोनों में उसके रूपों की कल्पना की गई है क्योंकि मानव की यह सहज वृत्ति है कि वह अरूप की भी मानवरूप कल्पना (Personification) किया करता है। शिव व रुद्र के क्या-क्या रूप हो सकते हैं यह कवियों व भक्तों ने कल्पना में लाने का प्रयत्न किया है।

यजुर्वेद के १६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र की शतरुद्रिय व्याख्या श.प.(६।१।१।१) में प्रजापति के मन्यु को रुद्र माना है। यजुर्वेद में प्रारम्भ में ही रुद्र को मन्यु-रूप में स्मरण किया गया है 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' हे रुद्र ! तुझ मन्यु-रूप के लिये नमस्कार है। एक अन्य स्थल पर रुद्र को अग्नि माना है, मन्यु भी अग्नि ही है। यह अग्नि लोकों की आदिभूत अग्नि है (लोकादिमग्निं कठोपनिषत्)। मन्यु अग्नि का प्रवृद्ध रूप है। प्रजापति जब सृष्टि उत्पन्न करता है तब साम्यावस्थापन्न प्रकृति में मन्यु सक्रिय हो जाता है। क्योंकि प्रकृति के परमाणुओं में परस्पर संघर्ष पैदा होना, एक-दूसरे को आक्रान्त करने की प्रवृत्ति का होना मन्यु का धर्म है। अतः संघर्षमय तथा क्षुब्ध प्रकृति निराकार परम ब्रह्म का प्रथम आकार व रूप कही जा सकती है। इस अवस्था में उत्पत्ति तथा विनाश दोनों साथ-साथ चलते हैं। यह रुद्र का 'भवाशर्वौ' (अथर्व ११।२) भव और शर्व रूप भी कहा जा सकता है। यह संघर्ष सत्त्वबहुल व तमोबहुल उत्पत्तियों में प्रारम्भ होता है। यही प्रजापति के दोनों पुत्रों—देवों और असुरों के मध्य संग्राम कहा जाता है। 'भवाशर्वौ' तमोबहुल प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं। भव के अधीन उत्पत्ति हिंसापरक, विनाशक तत्त्वों की होती है। अहिंसक व सात्त्विक उत्पत्ति का भव के साथ सम्बन्ध नहीं है। यदि भव के साथ सात्त्विक व श्रेष्ठ उत्पत्ति का ग्रहण होता तो मन्त्र में भव और शर्व दोनों को दूर रखने का विधान न होता। यथा—**भवाशर्वौ मृडतं माभियातं।** अथर्व ११।२।१ हे भव और शर्व ! तुम दोनों मेरी ओर मत आओ और मुझे सुखी करो।

किस प्रकार ? हमारे शत्रुओं की ओर तुम दोनों जाओ और उनका विनाश करो, इससे हम सुखी हो जायेंगे। अतः सृष्टि-उत्पत्ति में जो संघर्षकाल है वह रुद्रकाल है। यह संघर्षमय प्राकृतिक तत्त्व रुद्र का शरीर है। रुद्र के इस समष्टि शरीर से उत्पन्न हिंसापरायण, विनाशक तत्त्व रुद्र-पुत्र हैं। ये ही रुद्र-पुत्र मन्यु-रूप रुद्र के अश्रु-विन्दु हैं। शतपथ ब्राह्मण के शतरुद्रिय प्रकरण में मन्यु-रूप रुद्र से उत्पन्न रुद्रों को अश्रु-विन्दु, अश्रु-धारा आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। अतः सभी प्राणी जब मन्यु व क्रोधावेश में होते हैं, तब रुद्र हैं। चोर, डकैत, शेर, व्याघ्र, कुत्ता, सांप, बिच्छु, कृमि-कीट आदि जन्तु तो हर समय रुद्र-रूप ही होते हैं। सूक्ष्म जगत् में जो शक्तियाँ रुद्र-गुण रखती हैं वे भी रुद्र की आकृतियाँ हैं। वे स्थूलाकृति-प्राणियों की अपेक्षा अधिक प्रबल होती हैं। स्वप्न में प्रत्येक व्यक्ति इन प्राण-जगत् की सूक्ष्म शक्तियों से सम्पर्क करता है और अपने आप भी इस स्थूल शरीर से बाहिर चला जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में स्वप्न-प्रसंग में कहा है—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः॥

बृ० उप० ४।३।१२

अर्थात् यह हिरण्मय अमृत हंस प्राण-सूत्र द्वारा 'अवरं कुलायं' (स्थूल शरीर) की रक्षा करता हुआ स्वप्न में इस कुलाय से बाहिर जहाँ उसकी कामना होती है वहाँ चला जाता है। वहाँ प्राण-जगत् की भिन्न-भिन्न शक्तियों से उसका सम्पर्क होता है। कभी-कभी स्वप्न में नया ज्ञान व नयी शक्ति भी उपलब्ध हो जाती है। किसी-किसी योग्य पात्र को दिव्य शक्तियाँ दीक्षा भी देती हैं, जोकि स्वप्न-दीक्षा कही जाती हैं। कभी-कभी भयंकर बीमारी के आने व दूर होने का पूर्व ज्ञान हो जाता है। एक स्वप्नगत अनुभव मेरा अपना भी है जोकि संक्षेप में इस प्रकार है—स्वप्नगत घटना की तारीख व निश्चित दिन तो स्मरण नहीं रहा, सम्भवतः अब (सन् १९८२) से ३३ वर्ष पूर्व की घटना है। मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में सर्विस करता था। उस समय एक बार मेरी धर्मपत्नी अत्यधिक रुग्ण हो गई। गुरुकुल कांगड़ी के आयुर्वेद कॉलिज के प्राचार्य डा० भण्डारी, एम०बी०बी०एस का इलाज चल रहा था। कई दिन हो गये, बीमारी कम न हुई। कोई भी औषध अनुकूल न पड़ रही थी। उस समय मेरी दो कन्यायें थीं। छोटी कन्या (वन्दना, मद्रास) ७-८ मास की होगी। एक दिन वह अपनी अम्मा के पास न जाकर देखते ही दूर हट गई। यह मुझे एक अपशकुन-सा प्रतीत हुआ। मुझे भी सेवा करते हुए कई दिन हो गये थे, निद्रा भी उचाट हो गई थी। एक दिन रसोई घर से कमरे में जाते हुए वर्षा की बूंदें सिर पर पड़ीं, परिणामस्वरूप मुझे भी बहुत तेज बुखार हो गया। उन दिनों मैं नियमपूर्वक यजुर्वेद के १६वें अध्याय (रुद्राध्याय) का प्रतिदिन पाठ किया करता था पर उस दिन न कर सका था। एक ओर बुखार में मैं पड़ा था, दूसरी

ओर मेरी धर्मपत्नी पड़ी थी। बुरी-बुरी चिन्ताओं ने मन को आ घेरा। अचानक मन में भाव जागृत हुआ कि आज तूने रुद्राध्याय का पाठ नहीं किया। अतः नियम पूरा करने के लिये बिस्तर पर पड़े-पड़े जो मन्त्र मुझे स्मरण हो गये थे वे मैंने फेर लिये। सारी रात निद्रा तथा बेहोशी दोनों ने घेरे रक्खा। प्रातः ४ बजे के लगभग मुझे स्वप्न आता है कि हम दोनों आयुर्वेद कॉलिज के मुर्दा-घर में पड़े हैं। थोड़ी दूर पर गुजरती गंग नहर के तट पर एक अत्यन्त ऊँचे शिकारी वेश के व्यक्ति ने ओष्ठों पर अंगूठा रखकर सीटी बजायी तो एक भेड़िया और उसका पीछा करते हुए एक अति भयंकर शिकारी कुत्ता हमारे सामने से गुजरे, इसी प्रकार दूसरा भेड़िया और उसका पीछा करते शिकारी कुत्ता ये दोनों गुजरे। इतने में मैं उठा और विश्वविद्यालय भवन (सम्भवतः निर्माण नहीं हुआ था यह मेरे सामने चित्र आ गया था) तक गया ही था कि बहुत-से विद्यार्थी आये और बोले कि पं० जी मिठाई खिलाओ। मैंने कहा कि खिलायेंगे। इतने में अन्दर से आवाज आयी कि यह गंग नहर पर शिकारी कौन था? वहीं से उत्तर आया कि ये रुद्र थे। यह सब घटनाक्रम स्वप्न में ही हो रहा था। मेरी निद्रा खुली, मैं पसीने से तरबतर था, बुखार उतर चुका था और आश्चर्य की बात यह हुई कि उसी दिन से मेरी धर्मपत्नी भी ठीक होती चली गई। अब इसको क्या कहा जाये कुछ समझ में नहीं आता। मैं तो अभी तक यही समझा हूँ कि सूक्ष्म प्राण-जगत् के ये रुद्र देव थे, स्वप्न में प्राण-जगत् में विचरते हुए मुझे सूक्ष्म-जगत् के ये रुद्र देव मिले जिनकी कृपा से हम बीमारी से मुक्त हो गये।

रूपायित करना

हमारे शास्त्रों में निराकार तत्त्वों, भावों व उद्वेगों आदि को रूपायित करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जिस प्रकार सर्वत्र अभिव्याप्त विद्युत् नाना विध आकृतियों व रूप-रंगों वाले बल्बों व रोड आदि में आविर्भूत हो परिच्छिन्न रूप व आकृति को धारण करती है उसी प्रकार अग्नि, इन्द्र व रुद्र आदि सर्वत्र अभिव्याप्त भागवत शक्तियाँ साधकों व योगिजनों के विश्वास तथा संकल्प-समुत्थ प्रबल मनोकामना वश एकदेशी रूप धारण कर उनके मनोवांछित फल को प्रदान करती हैं—ऐसा अनेकों विद्वानों तथा सन्तजनों का मत है।

शिव पुराण में कहा भी है—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

अतः ज्ञानमयी तथा क्रियामयी अचिन्त्य शक्ति देवता यथावसर सांकल्पिक रूप धारण करने में सक्षम होती है। क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा परिच्छिन्नता से आवृत्त होने से निराकार तथा सर्वत्र व्याप्त पूर्ण परब्रह्म को अपने

ध्यान-चिन्तन में लाने में असमर्थ होता है, अतः शास्त्रकारों ने उपासकों की सिद्धि के लिये पूर्ण परब्रह्म के अनेकों रूपों की कल्पना की हैं। अचिन्त्यशक्ति के रूप-रंग आदि की कल्पना निदानशास्त्र का विषय है। यजुर्वेद के १६वें रुद्राध्याय में प्रजापति के मन्यु अर्थात् रुद्र के हस्त, बाहु, आयुध आदि रूपों का संकेत स्पष्ट रूप में दर्शाया गया है। यह निराकार को रूपायित करने का ही प्रयत्न है। हमारे विचार में तो पुराणों में भी अचिन्त्य शक्ति देवी-देवताओं को रूपायित किया गया है।

शिव-पुराण में कामदेव की उत्पत्ति तथा रति से उसका विवाह ब्रह्मा की मानस-पुत्री कुमारी सन्ध्या का चरित्र, वसिष्ठ मुनि तथा उन द्वारा चन्द्रभाग पर्वत पर सन्ध्या देवी को तपस्या की विधि बताना इत्यादि नाम व तत्सम्बद्ध कथानक आलंकारिक रूप लिये हुए हैं। शिव-पुराण में सन्ध्या देवी का नाभि से ऊर्ध्व भाग प्रातःकाल की सन्ध्या बताया है और नाभि से नीचे का भाग सायंकाल की सन्ध्या बताया है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सन्ध्या देवी कोई स्त्री नहीं है, यह एक अलंकार-गर्भित कथानक में दोनों समयों की सन्ध्या को मानवी रूप दिया गया है।

रुद्र-संहितान्तर्गत सन्ध्या देवी के अलंकार-गर्भित रहस्य को संक्षेप में दर्शाते हैं। पुराण के अनुसार ब्रह्मा की मानस-पुत्री सन्ध्या देवी चन्द्रभाग पर्वत पर तपस्या करने गई थी। इस चन्द्रभाग पर्वत से चन्द्रभागा नदी का उद्गम होता है। मनुष्य में सुषुम्ना नाड़ी के वाम पार्श्व में जो इडा नाड़ी चलती है यही चन्द्रभागा नदी है। इसका उद्गम भ्रूमध्य है जोकि त्रिनेत्रधारी शिव का स्थान है। शिव ने अपने मस्तिष्क में चन्द्रकला धारण कर रक्खी है। इस दृष्टि से इस स्थान को चन्द्रभाग पर्वत कहते हैं। जिस समय वाम स्वर चल रहा हो तो यह समझना चाहिये कि इडा नाड़ी सक्रिय है। इस अवस्था में भ्रूमध्य में पहुँच ध्यान करना चाहिये। मनुष्य की शरीरगत सकल चेतना को सन्ध्या की विधि तथा तपश्चर्या की प्रक्रिया बताने के लिये वसिष्ठ ऋषि जाते हैं। वसिष्ठ प्राण हैं। कहा भी है— **"प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः।"** श० प० ८।१।१।६ प्राण की सत्ता मुख व मस्तिष्क में है। यह प्राण जब शक्तियों का अत्यन्त निवास का हेतु व श्रेष्ठ होता है तभी उसकी वसिष्ठ संज्ञा होती है। प्राणायाम आदि द्वारा **वस्तृतमो वसति** श० प० ८।१।१।६ श्रेष्ठ व अत्यन्त निवास का हेतु बनाया जाता है। इस वसिष्ठ प्राण के होने पर सन्ध्या ठीक होती है और उसमें निद्रादि विक्षेप न होकर शक्ति का आधान होता है। सन्ध्या ने प्रतिज्ञा की थी कि अग्नि में मैं अपने शरीर को भस्म कर दूँगी। इसी कारण शिव की आज्ञा से मेधातिथि के यज्ञकुण्ड में उसने अपने को स्वाहा कर दिया था। यह मस्तिष्क मेधातिथि का भी स्थान है। मेधाबुद्धि में अतिथियों का आना मेधातिथि है। अतिथि अध्यात्म व प्राकृतिक क्षेत्रों के आविष्कार हैं जिनकी कोई तिथि निश्चित नहीं होती। मेधातिथि के यज्ञकुण्ड से यह सन्ध्या चेतना अरुन्धती नाम से उत्पन्न होती है। अरुन्धती (न-रुन्धती रुधिर आवरणे) जिसको

कोई पापादि शत्रु रोक नहीं सकता अथवा जिस चेतना पर किसी प्रकार का आवरण नहीं रहा।

सन्ध्या समय ध्यान किसका ?

प्रश्न यह है कि सन्ध्या में ध्यान किसका करें ? क्योंकि भगवान् तो निराकार है, निरंजन है। निराकार पर ध्यान टिक नहीं सकता। इसी बात को सन्ध्या देवी कहती है—

यस्य नादिर्न मध्यं च नान्तमस्ति जगद् यतः।
कथं स्तोष्यामि तं देवमवाङ् मनसगोचरम् ।।
यस्य ब्रह्मादयो देवा मुनयश्च तपोधनाः।
न विवृण्वन्ति रूपाणि वर्णनीयः कथं स मे।।

मैं उन महादेव जी की स्तुति कैसे कर सकूँगी जिनका न आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है। फिर भी जिनसे यह समग्र संसार उत्पन्न हुआ है तथा जो मन और वाणी के विषय नहीं हैं। हे भगवन् ! तुम इतने विशाल व महान् हो कि कल्पना में नहीं आते। जिनके चरणकमल से यह पृथिवी तथा अन्यान्य अंगों से सूर्य, चन्द्रमा आदि लोक-लोकान्तर व दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं, सब देवता जिसके अंगभूत हैं, ऐसे हे अकल्पनीय शम्भो ! ब्रह्मादि देवता तथा ऋषि-मुनि भी जिन आपकी शक्तियों तथा रूपों के वर्णन करने में असमर्थ हैं, अतः अत्यल्पशक्ति मैं आपका किन शब्दों में वर्णन करूँ। प्रायः सभी मनुष्यों में जो प्रश्न, शंका व जिज्ञासा पैदा होती है उसी का चित्रण ऊपर सन्ध्या के माध्यम से किया गया है।

शिव से सन्ध्या का वर माँगना

हे शम्भो ! मैं आपसे यह वर माँगती हूँ कि इस आकाश में तथा पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों में जो प्राणी हैं वे सब के सब जन्म लेते हुए कामभाव से रहित रहें। जिस प्रकार प्रातःकाल कामवासना शान्त रहती है उसी प्रकार जीवन की प्रातः वेला अर्थात् शैशवावस्था में भी कामभाव की उत्पत्ति नहीं होती। सायं सन्ध्या अर्थात् वृद्धावस्था में भी कामवासना मनुष्यों से जाती रहती है। सन्ध्या देवी के पहिले वर का यह परिणाम है। दूसरा वर उसने यह मांगा कि मुझ सन्ध्या को जो कामभाव से देखेगा वह नपुंसक हो जायेगा। इससे यह ध्वनित होता है कि सन्ध्या काल के समय मनुष्यों को सम्भोग नहीं करना चाहिये। इन दोनों सन्ध्या कालों में सम्भोग करने वाला नपुंसक हो जाता है।

चन्द्रभाग पर्वत पर जहाँ सन्ध्या तप कर रही है वहाँ एक 'बृहत् लोहित सर' बताया है, यह सिर के मध्य में स्थित सोम सरोवर है। वहाँ पुराण में 'चतुः समुद्र' आता है यह मस्तिष्क के चार द्रव कूप हैं—**शीर्षन् चत्वारः कूपाः** (Four

Ventricles)। वसिष्ठ ने सन्ध्या को जो विधि बतायी थी वह ध्यान का एक गूढ विषय है। वहाँ छठा समय षडहन् से सम्बन्ध रखता है जोकि द्यु अर्थात् मस्तिष्क को द्योतित करता है। मस्तिष्क में चल रहे मेधातिथि के यज्ञ में जब सन्ध्या ने अपने को आहुति-रूप में डाला तो उसका शरीर सुवर्णीय आभा वाला हो गया। हिरण्य-रूप तथा ऋतात्मक हुआ। यह प्रज्ञा में ऋत का प्रवेश है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का रूप है। अग्नि ने इस सन्ध्या को अरुन्धती बनाकर सूर्यमण्डल में पहुँचाया **"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः** तथा **"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्"** इत्यादि सन्ध्याकाल के सूर्य-सम्बन्धी मन्त्रों का ही उपर्युक्त स्पष्टीकरण है।

इस सन्ध्या-सम्बन्धी प्रकरण से यह स्पष्ट है कि पुराणों में विद्यमान देवी-देवताओं के कथानक प्रायः अलंकार-गर्भित हैं, उनका विद्वान् जिज्ञासु को विश्लेषण कर स्पष्टीकरण करना चाहिये। इसी प्रकार कामदेव और रति के प्रकरण को स्पष्ट किया जा सकता है।

अष्टम अध्याय

शाखा-संहिताओं में रुद्र

अग्निहोत्र में रुद्र—काठ० सं० ६।४,५ मै० सं० १।८।४,५

अग्निहोत्र में रुद्र का स्थान कहाँ है इस तथ्य के निर्णय के लिये हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रजापति ने अग्निहोत्र द्वारा पुरुष, अश्वादि प्राणियों, व्रीहि यव (जौ) आदि धान्यों तथा वसन्त आदि ऋतुओं का सर्जन किया। इसी की अनुकृति में मनुष्य भी अग्निहोत्र करता है। बाह्य अग्निहोत्र से पशु आदि प्राणियों की तथा आन्तरिक अग्निहोत्र से शरीर के विविध अंगों व पुत्र आदि की उत्पत्ति करता है। शरीर में रुद्र प्रमुख रूप से उदर व शिश्न में रहता है। यदि इस रुद्र को सुचारु अन्न न मिले अथवा रुद्र के आवासभूत इन अंगों का दुरुपयोग हो तो इनमें विद्यमान रुद्राग्नि रौद्र रूप धारण कर विनाश का कारण बन सकती है। इसी दृष्टि से अग्निहोत्र में रुद्र के रौद्ररूप का शमन तथा सुख-प्रदान के लिये प्रार्थना की गई है। अतः उपर्युक्त तथ्य को पुष्ट करने के लिये संक्षेप में अग्निहोत्र का स्वरूप यहाँ प्रदर्शित करते हैं।

प्रजापति ने अग्निहोत्र द्वारा प्रजाओं का सृजन किया। सर्वप्रथम उसने अपनी मूर्धा से अग्नि की उत्पत्ति की और अपनी चक्षुरूप आदित्य को उसमें होम दिया अर्थात् आदित्य के माध्यम से उसने सृष्टि प्रारम्भ की और क्योंकि चक्षु सत्य को दर्शाती है अतः अग्निहोत्र में सत्य का होना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मवेत्ता-जनों का यह कहना है कि अग्नि के धारण करने व उसके रक्षार्थ यह अग्निहोत्र किया जाता है। (**अग्नये वा एतद्धृत्यै गुप्त्यै हूयते।** मै० सं० १।८।१) क्योंकि अग्नि की सत्ता रहने पर ही तो अन्य सब यज्ञों का प्रणयन हो सकता है। इसी दृष्टि से शास्त्र में आता है **'अग्नौ सर्वान् यज्ञान् संस्थापयन्ति'** मै० सं० १।८।१ अर्थात् अग्नि में ही सब यज्ञों का संस्थापन होता है। अग्निहोत्र का अग्निहोत्रत्व क्या है, इस सम्बन्ध में आता है **'अग्रेऽग्ना आहुतिरहूयत तदग्निहोत्रस्याग्निहोत्रत्वम्'** मै० सं० १।८।१ अर्थात् सबसे पूर्व अग्नि में जो आहुति डाली जाती है वही अग्नि-होत्र का रूप है। अग्निहोत्रत्व दर्शाते हुए शास्त्रकार स्वाहाकार के सम्बन्ध में लिखते हैं **'स्वाहा इति स्वा ह्येनं वागभ्यवदत् जुहुधीति तत् स्वाहाकारस्य जन्म'** मै० सं १।८।१ प्रजापति की अपनी वाक् ने प्रजापति से कहा कि अग्नि में आहुति

डालो [स्वा (वाक्) आह=स्वाहा] इससे स्वाहाकार का जन्म हो गया। प्रजापति की मूर्धा से अग्नि की उत्पत्ति होने तथा हस्तोपलक्षित शक्ति की रगड़ से अग्नि का जन्म होने से तत्प्रतिनिधि-रूप मनुष्य के भी ललाट तथा पाणि में अग्नि होने से ये लोभरहित होते हैं।

प्रजापति द्वारा निष्पन्न अग्निहोत्र से उत्पत्तियाँ—

आहुति	**उत्पत्ति**
प्रथम	पुरुष
द्वितीय	अश्व
तृतीय	गौ
चतुर्थ	अवि
पंचम	अजा
षष्ठ	यव (जौ)
सप्तम	व्रीहि

ये उपर्युक्त सात ग्राम्य पशु माने गये हैं।

अष्टम	वसन्त
नवम	ग्रीष्म
दशम	वर्षा
एकादश	शरद्
द्वादश	हेमन्त
त्रयोदश	शिशिर

वहाँ आता है कि ये पशु तथा ऋतु दोनों साथ-साथ पैदा हुए हैं—**'उभये ह्येते सहासृज्यन्त'**। क्योंकि अग्नि पशुओं में प्रविष्ट है और पशु अग्नि के प्रति समर्पण करते हैं, अतः उत्पन्न होते पशुओं को प्राप्त होने से इस अग्नि को जातवेद (**जातानि वेद, जाते जाते विद्यते वेत्ति वा**) कहते हैं। कहा भी है कि **"अग्नि वै पशवः प्रविशन्त्यग्निः पशून् पशवो ऽग्निमभि सर्पन्ति"**। यह प्रजापति सृष्ट्युत्पत्ति रूपी अग्निहोत्र (**सृष्टिः प्रजानामग्निहोत्रम्० मै० सं०**) सायंकाल तथा प्रातःकाल इन दो समयों में करता है (**यत् सायं जुहोति रात्र्यैतेन दाधार यत् प्रातरह्ने तेन मै० सं०**) अतः इसी की अनुकृति में मनुष्य को भी इन दोनों समयों में अग्निहोत्र करना चाहिये। प्रातः और सायं समयों में होने वाले इन दोनों अग्निहोत्रों का सम्बन्ध परस्पर जायापती का है। कहा भी है—**"अग्निहोत्रे वै जायम्पती"** **काठ० सं० ६।४ दम्पती मै० सं० १।८।५ ऐसा** प्रयत्न होना चाहिये कि ये दोनों अग्निहोत्र जायापती रूप में होकर प्रजनन कर सकें, व्यभिचरित न हों क्योंकि व्यभिचरित होने पर ये प्रजनन नहीं कर सकेंगे। सायंकाल का अग्निहोत्र पति है तो प्रातःकाल का अग्निहोत्र जाया है अर्थात् पत्नी है।

अग्निहोत्र के जाया तथा पति भाव को तालिका में इस प्रकार रख सकते हैं—
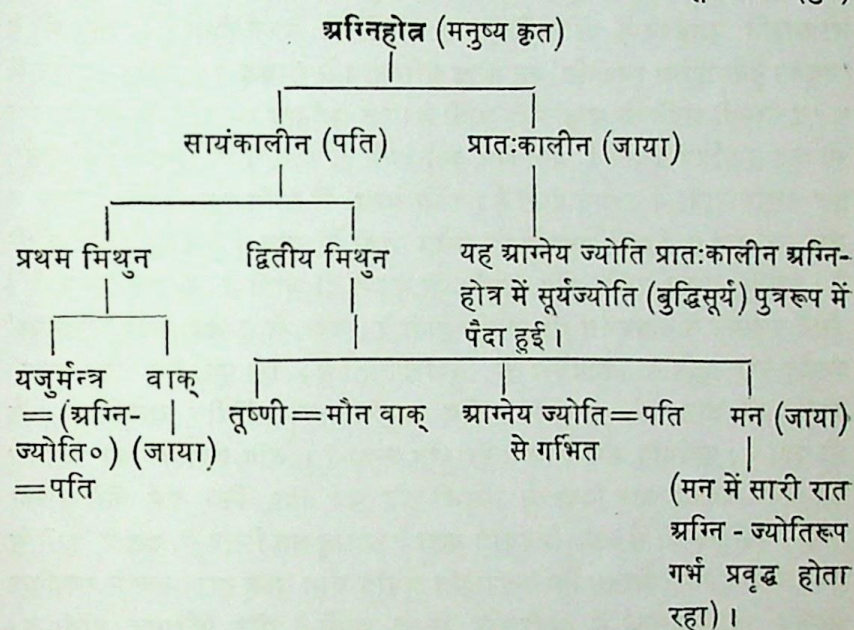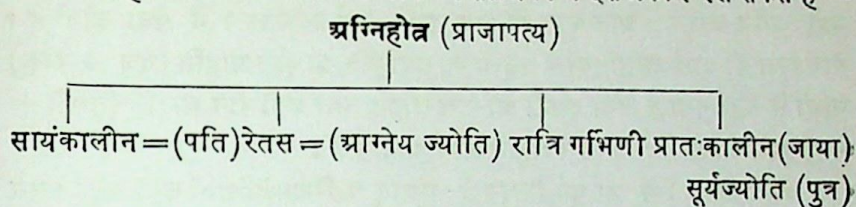
सायंकाल के अग्निहोत्र में दो मिथुन हैं। दोनों मिथुनों का सम्बन्ध शरीर से है पर प्रथम मिथुन का प्रभाव व सम्बन्ध बाह्य यज्ञ से भी है। दूसरे मिथुन का सम्बन्ध आन्तरिक अग्निहोत्र से है। इन दोनों मिथुनों में भी जायापती-सम्बन्ध है। प्रथम मिथुन यजुः[1]+वाक् का है। यजुः है—**'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा'** यह यजुर्मन्त्र जब वाक् से उच्चरित होता है तो मन्त्र और वाक् का सम्पर्क होता है, इससे वाक् गर्भिणी हो जाती है। गर्भ है आग्नेय ज्योति। यजुर्मन्त्र पति है और वाक् जाया है। यह गर्भवती वाक् मौन रूप में (तूष्णीं[2]) हो मन से सम्पर्क करती है तो वह आग्नेय ज्योति मन[3] में गर्भ-रूप में जा स्थित होती है। सारी रात्रि यह आग्नेय ज्योति मन में प्रज्वलित रहती है इससे दुःस्वप्न आदि अन्य कोई

१. यद् वाचा च जुहोति यजुषा च तन्मिथुनम्। मै० सं० १।८।५
२. यत् तूष्णीं च जुहोति मनसा च तन्मिथुनम्। मै० सं० १।८।५
३. गर्भिण्या वाचा गर्भं दधाति। मै० सं० १।८।५

विकार मन में उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि मन में अग्निर्ज्योति विराजमान है। यही अग्नि-ज्योतिः प्रातःकाल के यज्ञ द्वारा सूर्य-ज्योतिरूप में पैदा होती है। सायंकाल की दोनों आहुतियों में पहली को पूर्वाहुति, प्राचीन आहुति (यजुः + वाक्) नामों से कहा गया है तथा दूसरी को उत्तराहुति तथा प्रतीचीन आहुति (तूष्णी + मन) कहा जाता है। यह उत्तराहुति मौन आहुति है।

दोनों मिथुनों में जो पूर्व मिथुन है अर्थात् **'अग्निर्ज्योतिः०'** तथा वाक् इससे जो आहुति यज्ञकुण्ड में दी जाती है वह पशुओं को प्राप्त होती है। कहा भी है **'पशूनेव पूर्वयाहुत्या स्पृणोति'** यह बाह्य अग्निहोत्र से सम्बद्ध है। इससे यज्ञकुण्ड में घृत व सामग्री आदि की आहुति दी जाती है। यह आदित्य को प्राप्त हो वातावरण को शुद्ध व पवित्र करती है, यथाकाम वर्षा होती है, औषधियाँ, वनस्पतियाँ मधुर बन भरपूर मात्रा में उत्पन्न होती हैं। इससे अश्व, गौ आदि पशु नीरोग, स्वस्थ व हृष्टपुष्ट होते हैं जिससे मनुष्यों को प्रभूत मात्रा में दुग्ध व घृत की प्राप्ति होती है। अगली आहुति अर्थात् मौन आहुति जो मन में दी जाती है वह आन्तरिक है। इससे यजमान में ब्रह्मवर्चस् की उत्पत्ति होती है। कहा भी है **'ब्रह्मवर्चस् मुत्तरया'** अर्थात् उत्तराहुति से ब्रह्मवर्चस् की उत्पत्ति होती है। इस पूर्वाहुति तथा उत्तर-आहुति को काठ० सं० ६।४ में प्राचीन आहुति तथा प्रतीचीन आहुति नाम से भी कहा है। पूर्वाहुति पति है तो उत्तराहुति जाया है। यदि पूर्वाहुति का उद्वासन कर दिया अर्थात् त्याग दिया तो समझो पति मर गया, फिर गर्भ कैसे धारण होगा। पूर्वाहुति को मै० सं० में स्थाणु कहा है अर्थात् वह स्थिर है, दृढ़ है, इसी से गर्भ धारण होता है जिससे कि उत्तराहुति अर्थात् मौन वाक् द्वारा मन में स्थापित आग्नेय ज्योति गर्भरूप में सारी रात स्थित रहती है और परिपुष्ट होती है। किसी मनुष्य में परिवर्तन करना हो तो दिन की अपेक्षा रात्रिकाल ही श्रेष्ठ होता है। और यदि उत्तराहुति का उद्वासन हो गया, मन में गर्भ धारण नहीं हुआ तो समझो जाया मर गयी। तब भी किसी प्रकार का प्रजनन नहीं होगा, ऐसे अग्निहोत्र का कोई लाभ नहीं।

यही जायापती-भाव सायंकाल के तथा प्रातःकाल के अग्निहोत्रों में भी दर्शाया गया है। सायंकाल का अग्निहोत्र पति है तो प्रातःकाल का अग्निहोत्र जाया है। कहा भी है—**"आग्नेयी सायमाहुतिस्तया रेतः सिंचति तद् रेतः सिक्तं रात्र्यै गर्भं दधाति"** मै० सं० अर्थात् सायंकालीन आग्नेयी आहुति (अग्निर्ज्योतिः०) द्वारा ज्योतिरूप रेतस् का रात्रि में सिंचन होता है और रात्रि इस आग्नेय ज्योति को गर्भ-रूप में धारण करती है। यही आग्नेय ज्योति प्रातःकाल के अग्निहोत्र द्वारा सूर्य-रूप में प्रकट होती है। कहा भी है—**"तत् (गर्भं) सौर्या प्रातः प्रजनयामकः प्रजननं हि सौरी"** अर्थात् रात्रि में गर्भ-रूप में धारण की गई आग्नेय ज्योति प्रातः-कालीन अग्निहोत्र द्वारा (**सूर्योज्योतिः**) सौर्य ज्योति के रूप में पैदा होती है। इसी

तथ्य को काठ० सं० ६।५ में कहा कि **"अग्निः प्रवापयिता सूर्यः प्रजनयिता"** अर्थात् अग्नि-बीज वपन करने वाला तथा सूर्य उस बीज को सौर्य ज्योतिरूप में उत्पन्न करने वाला होता है। आगे कहा कि—

"अभिक्रामं सायं होतव्यं गर्भमेवदधाति प्रतिक्रामं प्रातः प्रैव जनयति।"

काठ० सं० ६।५

अर्थात् सायंकालीन आहुति के समय अभिक्रामं आत्मानमभिक्रम्य—आत्मा की ओर, अन्दर की ओर, हृदय गुहा की ओर क्रमण करते हुए आहुति डालनी चाहिये। इससे मन में गर्भ धारण होगा और प्रातः प्रतिक्रामं प्रतिकूल, अन्दर से बाहिर की ओर सूर्य को लक्ष्य कर क्रमण करते हुए आहुति डालें। इससे होगा यह कि अन्दर स्थित आग्नेय ज्योति सूर्यरूप में हो बौद्धिक क्षेत्र में, ऐन्द्रियिक गोलकों में दिव्य ज्योति बन प्रकट होगी। अग्निहोत्र-सम्बन्धी मैत्रायणी तथा काठक संहिताओं के प्रकरणों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि अग्निहोत्र की पूर्ण चरितार्थता आन्तरिक अग्निहोत्र में ही है। बाह्य अग्निहोत्र ब्रह्माण्ड में वायुप्रदूषण आदि को शुद्ध कर रोगजनक कृमि-कीटों के विनाश द्वारा तथा सुवृष्टि द्वारा ओषधि आदि होमद्रव्यों की उत्पत्ति में सहायक बनकर अन्ततोगत्वा आन्तरिक अग्निहोत्र का उपस्तम्भक बनता है। स्वामी दयानन्द-प्रदर्शित होमविधि में प्रारम्भ में महाव्याहृतियों (ओ३म् भूर्भुवः स्वः) को दो बार पढ़ना इसी तथ्य का निदर्शक है कि एक बार की महाव्याहृति बाह्य यज्ञ-सम्बन्धी है तथा दूसरी आन्तरिक अग्निहोत्र के लिए है क्योंकि बिना महाव्याहृति के यज्ञ यज्ञ नहीं कहलाता। कहा भी है—**भूर्भुवः स्वः। इति पुरस्ताद्धोतोर्वदेदेतत्त्वैब्रह्म एतत् सत्यमेतत् ऋतं न वा एतस्मादृते यज्ञोऽस्ति।** मै० सं० १।८।५ अग्निहोत्र से पूर्व 'भूर्भुवः स्वः' ये महा-व्याहृतियाँ बोलें क्योंकि ये महाव्याहृतियाँ ही ब्रह्म हैं, ये सत्य हैं, ये ऋत हैं; बिना इनके यज्ञ ही नहीं। यदि केवल बाह्य यज्ञ ही होता तो एक बार उच्चारण करना पर्याप्त था। दो बार उच्चारण का तात्पर्य यह है कि दूसरी महाव्याहृति आन्तरिक यज्ञ के लिए है। आन्तरिक यज्ञ में जठराग्नि रुद्र-रूप धारण कर लेती है।

आगे **'अयन्त इध्म आत्मा जातवेदः'** मन्त्र से ५ बार आहुति क्यों दी जाती है? ४ बार या ६ बार क्यों नहीं दी जाती? इसका रहस्य यह है कि अग्नि की ५ दिशाएँ हैं, नीचे की छठी दिशा अग्नि की नहीं है। 'इध्यस्व-वर्द्धस्व' की चरितार्थता अर्थात् अग्नि ५ दिशाओं की ओर ही बढ़ सकती है, नीचे की ओर अग्नि नहीं जाती; और ५ दिशाओं की ओर ही हमारी उन्नति व वृद्धि हो सकती है।
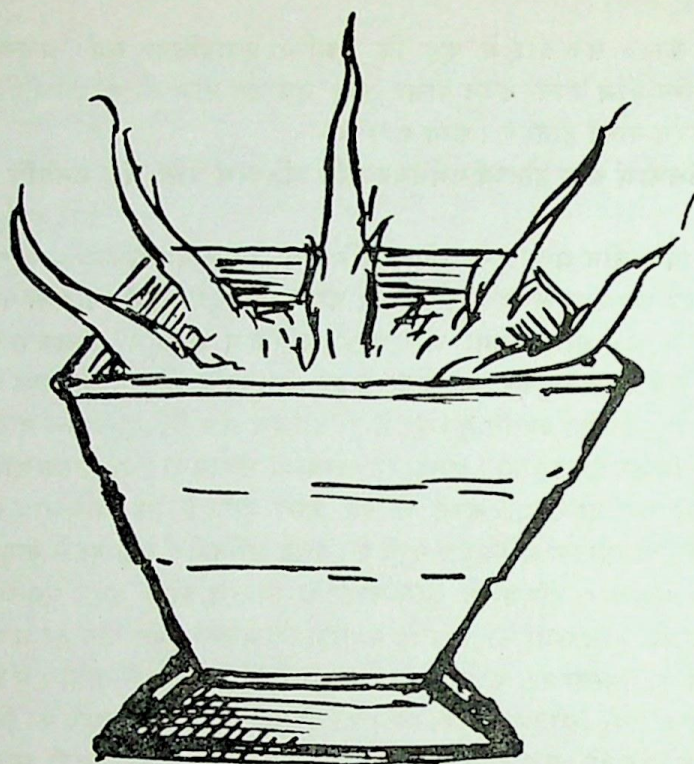
मनुष्य यदि नीचे उदर व उपस्थ सम्वन्धी भोगों में ही रमता है तो रुद्राग्नि का कोपभाजन बन जाता है।

अग्निहोत्र से उत्पन्न तथा अग्निहोत्र के साधनभूत पशुओं की रुद्र से रक्षा

हम पूर्व में यह दर्शा चुके हैं कि प्रजापति भगवान् द्वारा विहित अग्निहोत्र से प्रजा, पशु, ऋतु तथा ओषधि वनस्पति-रूप अन्नादि की उत्पत्ति होती है। ये सब पशु-रूप में ही निर्दिष्ट हुए हैं। इन पशुओं का अधिपति रुद्र है। रुद्र क्रुद्ध होकर इन पशुओं की हिंसा न करे इसके लिए शास्त्रकार यह कहते हैं—

"उदङ् ङ्ग्दिशति। अनाभो मृड धूर्ते नमस्ते रुद्र मृड" उत्तर दिशा की ओर लक्ष्य कर उपर्युक्त मन्त्र बोलें। अनाभो=न+आभू। आभू=उपस्थित, समीप।

न+आभू=दूर, जिसके पास पहुंचना आसान न हो। अगम्य, भयंकर होने से। हे अगम्य रुद्र! तुम हमें सुखी करो, हे धूर्ते! सबको कँपाने वाले, तुम्हें हमारा नमस्कार है। हे रुद्र, हमें सुखी करो। आगे कहा कि रुद्र के ये नाम क्रूर व घोर हैं और ये ही रुद्र के विभिन्न तनु हैं। इन्हीं से वह पशुओं की हिंसा किया करता है। यह रुद्र पशुओं की हिंसा न करे इसका उपाय यह बताया कि अग्निहोत्र

में रुद्र के लिये भी हविभाग होना चाहिये जो कि स्विष्टकृत् आहुति के रूप में दिया जाता है। स्विष्टकृत् पर हमने आगे पृथक् से लिखा है। आगे अग्निहोत्र के प्रसंग में यह लिखा है कि सायंकाल के अग्निहोत्र में नीचे पृथिवी की ओर स्नेहन भाव रखना चाहिये (सायमवाची प्रुष्वैति—प्रुष स्नेहनसेवनपूरणेषु क्र्यादि०) और प्रातःकाल के अग्निहोत्र में मनश्चेतना को ऊर्ध्व में रखना चाहिये। इससे ब्रह्माण्ड में द्युलोक तथा पिण्ड में मस्तिष्क का उन्मार्जन अर्थात् शोधन होता है। कहा भी है—**"ऊर्ध्वा दिवोन्मार्ष्टि"** और इसी प्रकार स्विष्टकृत् आहुति में उत्तर दिशा का ध्यान करें। इससे रुद्र के प्रकोप से बचा रहता है। इसलिये कहा है—**"उदङ्ङ्ुद्दिशंति रुद्रं तेन निरवदयते"** मै० सं०। इसी रुद्र-सम्बन्धी प्रकरण को काठ० सं० ६।७ में निम्न शब्दों में दर्शाया है—

"यह[1] रेतस् (घृत, आग्नेय विचार) अग्निहोत्र है। इस घी-रूपी रेतस् को अत्यधिक न पकावें क्योंकि इससे यह निमज्जित व ठोस, मोटा, कुन्द हो जायेगा। **क्रूडयेत्—क्रूड संवरणे, निमज्जन इत्येके** (तुदादि०—To sink, dive, to make thick—मोनियरः)। इसलिये सुपक्व (सुश्रृत) तथा अपक्व (अश्रृत) के मध्य में रक्खें। और **'रुद्र मृड…'** उपर्युक्त मन्त्र से आहुति देकर उत्तर दिशा का उद्देश्य करें, क्योंकि यह उत्तर दिशा रुद्र की दिशा है। ये रुद्र के क्रूर नाम हैं। इन्हीं नामों व रूपों वाला रुद्र प्रजा की हिंसा किया करता है क्योंकि वह अग्निहोत्र में अपना हिस्सा चाहता है। अतः आहुति प्रदान कर उत्तर दिशा का उद्देश्य करने से रुद्र के वे क्रूर रूप शान्त हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रकरण आन्तरिक अग्निहोत्र में भी घटता है। आन्तरिक अग्निहोत्र में रेतस् आग्नेय ज्योति है या आग्नेय विचार कह सकते हैं। आन्तरिक अग्निहोत्र से तात्पर्य यह है कि इन्हें (आन्तरिक आग्नेय विचार) इतना दृढ़, कठोर कठमुल्ले वाला बना देना जिससे अपने से विपरीत बुद्धिगम्य व युक्तियुक्त बात को भी न माने, और ऐसा भी न हो कि ये अपरिपक्व रह जायें।

रुद्र द्वारा औषधियों को विषैली बनाना

मै० सं० १।८।४ तथा काठ० सं० ६।५ में आता है कि रुद्र ने औषधियों को विषैली बना दिया (**रुद्र ओषधीर्विषेणालिम्पत्** काठ० सं०) इससे पशुओं ने इन्हें खाना छोड़ दिया। तब देवता प्रजापति के पास दौड़े गये। प्रजापति ने विष-सम्पृक्त

---

१. रेतो वा एतद् यदग्निहोत्रं न सुश्रृतं कुर्याद् रेतः क्रूडयेन्नो अश्रृतमरेन्तर्णैव स्याद् रुद्र मृडानार्भव मृडधूर्ते नमस्तेऽस्त्विवति हुत्वोदङ्ङ्ुद्दिशेदेतानि वै रुद्रस्य क्रूराणि नामानि तैरेष प्रजा हिनस्ति। अग्निहोत्रे भागधेयमिच्छमानस्तान्येवास्य प्रतिनुदति तानि शमयति० काठ० सं० ६।७

इन औषधियों को विषरहित कर स्वादिष्ट बनाने के लिये देवों से वरणीय वस्तु माँगी। देवों ने कहा बताइये आप क्या चाहते हैं ? प्रजापति ने कहा कि **"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा"** यजु० ३।९ मन्त्र द्वारा जो समिधा यज्ञ में प्रक्षिप्त की जाती है वह मुझ देवता वाली हो। देवों ने स्वीकार किया। अतः देवों में यह समिधा वार्यवृता[1] नाम से प्रख्यात है। बाह्य प्रदेश में जहाँ विषैली औषधियाँ उगी हैं वहाँ आग लगा दी जाती है। तत्पश्चात् जब वे पुनः अंकुरित होती हैं तो स्वादिष्ट हो जाती हैं। गौ आदि पशु उन्हें भक्षण करते हैं तो दूध आदि भी स्वादिष्ट हो जाता है। अग्निहोत्र के माध्यम से वह दुग्ध व घृत आदि आकाश में पहुँच सर्वत्र प्रसृत हो औषधि वनस्पतियों को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह चक्कर चल पड़ता है। कहा भी है **"एकैको हि प्रजापतिस्ता अग्निनोपासृजता अग्निरस्वदयदेतस्यां वा आहितायामग्निहोत्रिणे वीरुधस्स्वदन्ति स्वदितमस्यान्नं भवति"** काठ० सं० ६।५

इसका रहस्य यह है कि प्राजापत्या आहुति प्रजनन से सम्बन्ध रखती है। 'अग्निर्ज्योति' यह यजुर्मन्त्र गर्भ-रूप में मन में धारण किया जाता है और फिर प्रातः-काल के अग्निहोत्र में सौर्य ज्योति के रूप में उत्पन्न होता है। मानव-उत्पत्ति में स्त्री-योनि में वीर्य का सिंचन भी प्राजापत्या आहुति है। दोनों प्रकार के अग्नि-होत्रों में ओषधि आदि अन्न का स्वादिष्ट व उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। उव्वट भाष्य में आता है—**"अथ प्रदीप्तामभि जुहोत्यग्निरिति"** का० ४।१४।१४ **या समित् प्रदीप्ता तामभिलक्ष्य जुहुयात्। अग्निर्ज्योतिषमिति काण्वशाखोक्त-मन्त्रेण** (अध्याय ३।२।१) **समित् प्रक्षेपः।** उपर्युक्त कात्यायन श्रौत सूत्र के आधार पर प्रदीप्त समिधा को लक्ष्य कर आहुति देने का विधान है। बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के अग्निहोत्रों में अग्नि प्रदीप्त हो तभी गर्भ धारण होता है। काण्व शाखा वाले जो समिधा का प्रक्षेप यज्ञकुण्ड में करते हैं वह वीर्य का योनि में तथा आग्नेय ज्योति का मन में प्रक्षेप ही है। प्रदीप्त अग्नि जब मन में गर्भ-रूप में स्थित हो जाती है, तब उस आग्नेय ज्योति के समक्ष सब प्रकार के विषैले विचार भस्म हो जाते हैं। नस-नाड़ियों में भी विष रहने नहीं पाता। बाह्य भौतिक क्षेत्र में जो प्रजापति अग्निहोत्र कर रहा है उसमें यदि रुद्र के प्रभाव से ओषधि आदि अन्न विष वाले हो जावें तो उसमें आग लगा देवें। अग्नि से भस्मीभूत हो जब वे ओषधियाँ पुनः अंकुरित होंगीं तो स्वादिष्ट होंगीं।

अग्निहोत्रिणे वीरुधः स्वदन्ति। काठ० ६।५

---

१. स प्रजापतिरब्रवीत् वार्यंवृणे भागो मेऽस्त्विति वृणीष्वेत्यब्रुवन् मद्दैवत्यैव समिदसदिति तस्मात् प्राजापत्या समित् देवेषु ह्यस्यैषा वार्यवृता।
मै० सं० १।८।४

अग्निहोत्र की वैश्वदेवात्मकता तथा रुद्र

मै० सं० १।८।५ में आता है कि **"यो वा अग्निहोत्रस्य वैश्वदेवं वेदाघातुक एनं पशुपतिर्भवत्यघातुकोऽस्य पशुपतिः पशून्०"** अर्थात् जो यजमान अग्निहोत्र की विश्वदेवात्मकता को जानता है उसको तथा उसके पशुओं को पशुपति रुद्र मारता नहीं। अग्निहोत्र विश्वदेवों से सम्बन्ध रखता है, इसे हम पिण्ड में समझाते हैं। मानव-शरीर में सब देवताओं का वास है। मनुष्य जो अन्न खाता है वह एक यज्ञ है। यह अन्नाहुति रस-रक्तादि रूपों में परिणत हो, शरीर के सब देवों को प्राप्त होती है। यदि यह अन्नाहुति शरीर के किसी भी अंग में विद्यमान देव को न प्राप्त हो तो वह अंग रुद्र से आक्रान्त हो जायेगा। चक्षु तथा कर्ण आदि अंगों द्वारा जो सूक्ष्म अन्न खाते हैं उसमें भी यही तथ्य कार्य करता है। अतः सब अंगों को अन्नाहुति मिलनी चाहिये नहीं तो वे नष्ट हो जायेंगे अर्थात् रुद्र ने उन्हें विनष्ट कर दिया ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार यह अग्निहोत्र विश्वदेवों से सम्बन्ध रखता है।

काठक संहिता में अग्निहोत्र की विश्वदेवात्मकता इस प्रकार दर्शायी है—

यज्जुहोति तद्देवानां यदुद्दिशति तेन रुद्रं शमयति यन्निमार्ष्टि
तत् पितॄणां यत् प्राश्नाति तन्मनुष्याणां तस्मादग्निहोत्रं वैश्वदेवमुच्यते॥

काठ० सं० ६।५

अग्नि में आहुति देने से देवताओं की तृप्ति होती है, उत्तर को उद्देश कर रुद्र का हविभाग देने से रुद्र का शमन होता है। सर्व प्रकार की शुद्धि करने से पितरों का तर्पण होता है। और यज्ञीय भावना से अन्न-प्राशन से मनुष्यों की तृप्ति होती है और उनकी उन्नति होती है। इस प्रकार देवों, पितरों, रुद्र तथा मनुष्यों से अग्निहोत्र का सम्बन्ध होने से यह अग्निहोत्र विश्वदेवात्मक है।

यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अग्निहोत्र की पूर्णता केवल यज्ञकुण्ड में घी-सामग्री की आहुति डालने मात्र से नहीं होती। इस अग्निहोत्र का विस्तार, बाह्य यज्ञ, आन्तरिक यज्ञ, सामाजिक आचार-विचार व व्यवहार तथा अन्न-भक्षण आदि तक है। इस प्रकार यज्ञीय भावना रखने से सारी दिनचर्या व सम्पूर्ण जीवन अग्निहोत्रमय हो जाता है।

श० प०[1] २।३।१।१९ में अग्निहोत्र की वैश्वदेवात्मकता निम्न प्रकार दर्शायी है। अग्नि में आहुति देवों को प्राप्त होती है इससे देवों की सत्ता है। उपमार्जन से आहुतिद्रव्य सूक्ष्म हो आकाश में फैलकर वातावरण को शुद्ध करती है इससे पितर

---

१. स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति तस्माद्देवाः सन्त्यथ यदुपमार्ष्टि तत् पितृषु चौषधीषु च जुहोति तस्मात् पितरश्चौषधयश्च सन्त्यथ यद्धुत्वा प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्ति।

अर्थात् रश्मियाँ शुद्ध द्रव्यों से युक्त हो भूमि पर पहुँच औषधियों को अंकुरित व पुष्ट करती हैं और हवन के अनन्तर यज्ञशेष-भक्षण से मनुष्यों की पृथिवी पर सत्ता रहती है। यज्ञों के उच्छेद होने से मनुष्यों में तथा राष्ट्रों में स्वार्थ का बोल-बाला होकर महाविनाश उपस्थित हो जाता है। जैसे आधुनिक समय में हो रहा है। इसी कारण यह युग रुद्र का युग हो गया है।

श० प० २।३।२।६ में आता है कि अग्निहोत्र में जब अग्नि सर्वप्रथम धुआँ देती हुई प्रज्वलित होती है तब उसका वह रुद्र-रूप होता है। यथा—

तद् यत्रैतत् प्रथमः समिद्धो भवति। धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः स।

रुद्र अग्नि का ही तृतीय[1] भाग है।

अग्नि ही रुद्र-रूप को धारण करती है परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि कब और किस अवस्था में यह रुद्र बनती है? शतपथ ब्राह्मण में आता है कि अग्नि बोली मेरे तीन भाग व रूप हैं—एक तो मेरा अपना वह रूप है जिसे अष्टाकपाल वाला पुरोडाश दिया जाता है, दूसरा मेरा रूप वरुण का है और अगला तीसरा मेरा रूप रुद्र का है। मेरे प्रथम रूप को अष्टाकपाल वाला पुरोडाश चरु-रूप में दिया जाता है। वरुण को जौ का चरु और रुद्र को गवेधुका सक्तु चरु-रूप में देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अग्नि से वरुण अधिक भयंकर है और वरुण से रुद्र अति भयंकर है। रुद्र को शान्त करने के लिये गवेधुका चरु से होम किया जाता है। ये गवेधुका जंगली गोधूम (गेहूँ) होते हैं। इन्हें वास्तव्य भी कहते हैं अर्थात् वास्तु में होने वाले। यह वास्तु शब्द श्मशानभूमि तथा बाह्य यज्ञ-भूमि दोनों का वाचक है। एक प्रकार से श्मशान में उगने वाले गवेधुका लेकर रुद्र के निमित्त चरु तैयार किया जाता था। क्योंकि रुद्र भी श्मशानवासी है और यज्ञ-भूमि में भी उसकी सत्ता है। सायणाचार्य श० प० ५।२।४।२ में वास्तव्य की निम्न प्रकार व्याख्या करते हैं—

वास्तव्य इति रुद्रः खलु वास्तु भवः ग्रामाद्बहिर्वा यज्ञभूमिश्मशानादि वास्तुः। गवीधुका अपि वास्तुभवाः। अतो गवीधुकहविषो रुद्रदेवत्यत्वं युक्तम्।

रुद्र वास्तु अर्थात् श्मशान में तथा यज्ञभूमि में रहता है और गवीधुक भी इन दोनों स्थानों में पैदा होते हैं अतः रुद्र-देवता के लिये गवीधुक से निर्मित चरु की हवि उपयुक्त है। श्मशान में नाना व्याधियों से ग्रस्त मुर्दों को जलाया जाता है,

---

१. स हाग्निरुवाच त्रयो मम भागाः सन्त्वेकस्तवेति तथेति···स य एष आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति सोऽग्नेरेको भागोऽथ यद्वारुणो यवमयश्चरुर्भवति यो वै वरुणः सोऽग्निः सोऽग्नेर्द्वितीयो भागोऽथ यद् रौद्रो गावेधुकश्चरुर्भवति यो वै रुद्रः सोऽग्निः सोऽग्नेस्तृतीयो भागोऽथ यद्गावेधुको भवति वास्तव्यो वा एष देवो वास्तव्या गवेधुकाः।

अतः वहाँ के वातावरण में नाना व्याधियों के कीटाणुओं की सत्ता स्वाभाविक है। यही रुद्र का रूप है, यही उसकी सत्ता है। प्राचीनकाल में बड़े-बड़े यज्ञ गाँव से बाहिर किये जाते थे अतः रुद्र के शमन के लिये यज्ञ-भूमि के आसपास उत्पन्न गवेधुकों से निर्मित चरु से आहुति देने का विधान है। इसे हम इस रूप में भी समझ सकते हैं कि प्रकृति ने जहाँ अनर्थकारी विषौषधियों, बीमारी के कीटाणुओं का बाहुल्य पैदा किया है वहीं पर उनके शमन के भी साधन पैदा कर दिये हैं। पर्वतों पर जहाँ बिच्छु-घास होती है वहीं उसके विष को शमन करने वाली पालक जैसी बूटी भी भगवान् ने पैदा कर दी है।

मै० सं० ४।३।४ में आता है कि देवों द्वारा वृत्रासुर के वध के अवसर पर अग्नि ने अपने तीन रूपों को धारण कर इन्द्र की रक्षा की। वे रूप इस प्रकार हैं—**"तं(इन्द्रं) अग्निरब्रवीत् अहमेव त्वेतः पास्यामि इति पृथिव्या अहमन्तरिक्षा-दिति वरुणोऽहं दिव इति रुद्रस्ततो वै देवा वृत्रमघ्नन्"** अग्नि ने इन्द्र से कहा कि मैं ही आपकी इस पृथिवी पर रक्षा करूँगी और मैं ही वरुण-रूप में अन्तरिक्ष में रक्षा करूँगी और रुद्र बनकर द्युलोक में रक्षा करूँगी। आगे भी यही कहा है —**"तानग्निस्त्रेधात्मानं कृत्वा"** अग्नि ने ही अपने तीन रूप अर्थात् अग्नि, वरुण तथा रुद्र रूप बनाकर असुरों से युद्ध के लिये देवों को सन्नद्ध किया।

पिण्ड में इसका रहस्य यही है कि उदर में अग्नि स्वयं रहकर अन्न-पचन आदि कार्य करती है। हृदयरूपी अन्तरिक्ष में वरुण-रूप हो विजातीय तत्त्वों को भस्मसात् करती है, और मस्तिष्क-रूपी द्युलोक से बुरे विचार आदि आसुरी शक्तियों को रुद्र बनकर नष्ट करती है।

अग्न्याधेय में रुद्र

शास्त्रकार यह कहते हैं कि मनुष्य में अनेकों अग्नियाँ हैं यथा शिश्न में अग्नि, उदर में अग्नि, मन व हृदय में अग्नि, वाक्-अग्नि, चक्षु में अग्नि, ललाट में अग्नि, मस्तिष्क के मध्य में सात प्राण-सम्बन्धी स्वल्प वेदिकाएँ हैं जहाँ अग्नियाँ हैं। पर सामान्य मनुष्य इन विभागों को न तो जानता है और न ही इनको सक्रिय कर सकता है। इसी तथ्य को मै० सं० में निम्न रूप में उठाया है—**"अग्निं वै देवा विभाजं नाशन्कुवन्"** मै० सं० १।६।४ देव-इन्द्रियाँ या आन्तरिक शक्तियाँ अग्नि का विभाग न कर सकीं। यदि अग्नि को सामने की ओर लाया गया तो सब कुछ सामने आ गया और यदि पीछे की ओर ले जावें तो सब कुछ पीछे चला जावे। अतः देवों ने अग्न्याधेय में अग्नि के विभाजन के लिये अश्व को साधन बनाया। कहा भी है—**"अग्ने वै विभक्त्या अश्वोऽग्न्याधेये दीयते"** अर्थात् अग्नि के विभाजन के लिये अग्न्याधेय में अश्व दिया जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि अग्न्याधेय में यदि अश्व को साधन न बनाया तो न तो उसमें अग्नि आहित होगी और न अग्नि

का विभाग ही होगा। कहा भी है—

"अविभक्तो वा एतस्याग्निरनाहितो योऽश्वमग्न्याधेये न ददाति"

जो अग्न्याधेय में अश्व को नहीं देता है तो उसमें न ही अग्नि आहित होती है और न ही उसके विभाग होते हैं।

प्रश्न है कि अश्व क्या है ? अश्व चक्षु है, वस्तुतः चक्षु की ज्योति जब बाह्य की ओर गति करती हुई फैलती है तब उसे अश्व कहते हैं। इसी प्रकार आदित्य-रश्मियाँ जब बाह्य ब्रह्माण्ड में विस्तार को प्राप्त होती हैं तब विस्तृत रश्मियों वाला आदित्य अश्व कहलाता है। चक्षु के बाह्य की ओर प्रसृत होते हुए अश्व-रूप को निम्न शब्दों में दर्शाया गया है—**"प्रजापते वै चक्षुरश्वयत् तस्य यः श्वयथा आसीत् सोऽश्वोऽभवत्०" मै० सं० १।६।४**। प्रजापति की चक्षु ने जब बाह्य की ओर गमन किया और चहुं ओर फैली (**श्वयथा—टु ओ श्विगतिवृद्धयोः**) तो उसका वह विस्तार अश्व कहलाया। आगे चक्षु में अग्नि पैदा करने के लिए चक्षु की विभिन्न स्थितियों का निर्देश हुआ है।

यदि चक्षु-रूपी अश्व को आगे की ओर ले चलते हैं तो यजमान में चक्षु-शक्ति विद्यमान रहती है परन्तु यदि चक्षु को परे की ओर ले जाकर उसका अवसर्जन कर दिया जाये अर्थात् चक्षु-केन्द्र से उसका सम्बन्ध न रहे तो यजमान अन्धा हो जायेगा अर्थात् जिस वस्तु को वह देख रहा है, वह दीखेगी नहीं; आँखों के सामने अँधेरा छा जायेगा। इसीलिए कहा कि—**"न पराङवसृज्यो यत् पराञ्चमवसृजेद् यजमानं चक्षुर्जह्यादन्धः स्यात्"** कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य जब किसी वस्तु को निरन्तर देखता है तो उसकी चक्षु का अपने केन्द्र से सम्बन्ध टूट जाता है तो उस समय कुछ नहीं दीखता यही 'पराङ्वसृज्य' की स्थिति है। फिर प्रश्न पैदा होता है कि क्या करें ? कहा कि—**'प्रत्यवगृह्याधेयो···न पद आधेयो०'** अर्थात् चक्षु को पीछे से पकड़े रहना चाहिये और यह करना चाहिये कि आगे किसी वस्तु पर चक्षु अपना पद न रक्खे और यह कहना चाहिये 'पार्श्वत इतो वेतो वाधेयो' पार्श्व में इधर या उधर दृष्टि को रक्खें। अर्थात् दृष्टि खुली हुई हो और बाहिर फैल भी रही हो पर किसी एक वस्तु पर न पड़ रही हो यह है वास्तविक स्थिति जिससे कि चक्षु में अग्नि का आविर्भाव हो जाता है, अर्थात् चक्षु में तेज पैदा हो जाता है। यदि यह चक्षु-शक्ति किसी एक स्थान पर वस गई तो वहाँ रुद्र का प्रवेश हो जायेगा। वह उसके पशुओं (पश्यतीति पशुः) की दृष्टि-शक्ति के अंगों को विनष्ट कर देगा। यही रहस्य निम्न वाक्य में दर्शाया है—

"वास्तव्यं कुर्याद् रुद्रोऽस्य पशूनभिमानुकः स्यात्"

यदि किसी एक स्थान पर बसा दिया तो रुद्र उसकी अंगादि शक्तियों को नष्ट कर देगा। अतः **"पार्श्वत इतोवेतो वाधेयो"** दृष्टि-ध्यान एक पार्श्व में या इधर उधर रक्खें। यह स्थिति ठीक है। मानव-जाति में बढ़ती हुई अन्धता को दूर

करने का यह एक यौगिक उपाय है। इसीलिए कहा कि **'न वास्तव्यं करोत्यघातुकोऽस्य पशुपतिः पशून् भवति"** मै० सं० १।६।४ दृष्टि को एक स्थान पर न बसावें, इससे पशुपति रुद्र उसके पशुओं की हिंसा नहीं करेगा। इस प्रकार साधना करने से शरीर में विद्यमान अग्नि का विभाजन प्रारम्भ हो जायेगा और चक्षु में तेज का उदय होगा। इस उपर्युक्त प्रकरण के रहस्य को वही समझ सकता है जो साधना करता है। अग्न्याधेय पर विचार करते हुए हमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि शास्त्रकार ऋषियों की दृष्टि में माँ-बाप से उत्पन्न हाड़-माँस वाले की पुरुष संज्ञा नहीं है। उनके मत में **"अजातो वैतावत् पुरुषो यावदग्निं नाधत्ते स वै तर्ह्येव जायते यर्ह्यग्निमाधत्ते।"** मै० सं० १।६।४ जब तक पुरुष अग्नि का आधान नहीं करता है तब तक वह पैदा नहीं हुआ है, वह उसी अवस्था में उत्पन्न हुआ माना जाता है जब वह अग्नि धारण कर लेता है। अतः यह अग्न्याधेय प्रकरण अति सूक्ष्म प्रकरण है।

अग्न्याधान के समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि द्यु, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी पिण्ड में मस्तिष्क, हृदय तथा उदर इन तीनों का अलग-अलग अग्न्याधान होता है। इन तीनों को पृथक् न कर जो अग्न्याधान करता है वहाँ रुद्र का प्रवेश हो जाता है। इनमें द्यु आहवनीय है, अन्तरिक्ष गार्हपत्य है और पृथिवी ओदनपचन है। काठ० ८।६

सोमयाग करने का इच्छुक व्यक्ति यदि अग्नि का आधान करता है तो उसे वर्ष-भर परिपक्व हुई औषधियों से हवि का निर्माण करना चाहिये क्योंकि इससे पूर्व औषधियों का रस परिपक्व नहीं होता। वर्ष से पूर्व की औषधियाँ रुद्राग्नि के प्रभाव वाली होती हैं। यहाँ व्रीहि तथा यव ये पशु हैं अपरिपक्वावस्था में ये रुद्र-प्रभाव से प्रभावित होती हैं। कहा भी है **"यः सोमेनायक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत न पुरा संवत्सराद्धवींषि निर्वपेद् रुद्रोऽस्य पशूनभिमानुकः स्यादेते वै पशवो यद्व्रीहयश्च यवाश्च"** मै० सं० १।६।११

मै० सं० २।२।४ में आता है जिस प्रदेश में रुद्र प्रजाओं का शमन कर रहा हो, महा-भयंकर बीमारी फैल गई हो, मौतें हो रही हों वहाँ वास्तु-श्मशान भूमि में होने वाले गवेधुका आदि से भैषज्य इष्टि करे और निषादों के अधिपति को मुर्दों को हटाने के लिये नियुक्त करें (**निषादस्थपतिं याजयेत्**)। उसे चाहिये कि उसके सामने जो भी मुर्दा हो, उठा ले। और जहाँ से भी बुलावा आवे, जा पहुँचे। और मुर्दा उठाने के लिये गधों को साथ रक्खे। यही बात यहाँ इन शब्दों में कही है—**"तया निषादस्थपतिं याजयेत् सा हि तस्येष्टिः कूटं दक्षिणा कर्णौ वा गर्दभः।"** मै० सं० २।२।४। कूट=fore head सदा सामने दृष्टि रखना। कर्णौ=दोनों कानों को खुले रखना; जिस दिशा से भी पुकार आवे, वहाँ जा पहुँचे और मुर्दा उठाने के लिये साथ में गधा हो।

रुद्र की उत्तर दिशा

शास्त्रों में अनेकों स्थलों पर रुद्र की उत्तर दिशा मानी गयी है। शाखा संहिताओं में 'उदङ्ङुद्दिशति' आदि वाक्यों द्वारा रुद्र-देवता की उत्तर दिशा की ओर लक्ष्य किया गया है। सब देवों की अपनी-अपनी दिशाएँ होती हैं। उत्तर-दक्षिण को जो शक्ति-प्रवाह चलता है उससे चुम्बक की सुई उत्तर-दक्षिण में ही रहती है। इससे यह स्पष्ट है कि अग्नि, इन्द्र, वरुण, बृहस्पति आदि देवों की अपनी-अपनी दिशाएँ हैं। श० प० १४।२।२।३८ में रुद्र की उत्तर दिशा को न देखने का निर्देश किया है। वहाँ आता है **"स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतय इति अहुत्वैव दक्षिणेक्षमाणः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति तं स उत्तरतः शालाया उदञ्चं निरस्यत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् स्वायामेवैनमेतद्दिशि प्रीणात्यथ यन्न प्रेक्षते नेन्मे रुद्रो हिनसदिति।"** उपरोक्त मन्त्र 'स्वाहा रुद्राय' बोलकर बिना आहुति डाले दक्षिण दिशा में दृष्टि रख वह आहुति-द्रव्य प्रतिप्रस्थाता को दे दें। वह प्रतिप्रस्थाता शाला के उत्तर द्वार से (उदञ्चनिरस्यति) उत्तर दिशा की ओर निकल जाता है। वह उत्तर दिशा रुद्र देवता की है, इस दिशा में वह रुद्र का प्रीणन करता है परन्तु उत्तर दिशा को देखता नहीं इस भय से कि कहीं मेरी हिंसा न कर दे।

प्रश्न पैदा होता है कि उत्तर दिशा में तो हिमालय है। हिमालय का दर्शन तो बड़ा शोभनकारी है फिर निषेध क्यों किया? इसका समाधान हमें यही प्रतीत होता है कि इस रुद्र को आहुति देने के समय उत्तर दिशा में नहीं देखना। अन्य समयों में देखने में कोई आपत्ति नहीं है। सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया में पृथिवी एक उबलता अग्नि का गोला था। यह पृथिवी जब चहुँ ओर से ठण्डी होकर जमनी प्रारम्भ हुई तो अग्नि का जो भयानक रौद्र रूप था उसने पार्थिव तत्त्व को ऊपर को उफान दिया। पृथिवी पर ये जितने पर्वत हैं, ये सब रुद्राग्नि द्वारा ऊपर फैंके हुए हैं। क्योंकि पार्थिव पर्वतों में हिमालय सबसे ऊँचा है और वह उत्तर दिशा में है, इसलिये रुद्र का निवास उत्तर पर्वत माना गया है। वैसे सभी पहाड़ों में रुद्र का निवास है इसी दृष्टि से गिरिश, गिरिशन्त आदि विशेषणों से उसे कहा गया है। ग्रीष्म ऋतु में पृथिवी पर जब अग्नि का प्रकोप होता है तब प्राकृतिक नियम के अनुसार वर्षा द्वारा रुद्र के सिर पर जल-सिञ्चन होता है, बर्फ पड़ती है, रुद्राग्नि शान्त रहती है। इसी की प्रतिकृति में शिवरात्रि वेला में काँवड़िये शिवमूर्ति पर जल चढ़ाते हैं। इसी प्रसंग में एक विचारणीय शास्त्र-वचन भी हम यहाँ दर्शाते हैं—मै०सं० २।८।५ में आता है कि मनुष्यों को चाहिये कि यज्ञशेष-भक्षण में दाँत न चलावे—**यदत्वाय न दतो गमयेत् यद् दतो गमयेत् सर्पा एनं घातुकाः स्युः।** (यत्+अद् भक्षणे) दाँत चलाने पर साँप उसकी हत्या करने वाले होंगे। **"सर्पानिव शमयत्यहिंसायैव"** साँप द्वारा अपनी हिंसा न हो, इसलिये यज्ञशेष खाते हुए दाँत नहीं चलाते हैं, इससे साँपों का शमन होता है। इससे यह

ध्वनित होता है कि यज्ञशेष बहुत स्वल्प मात्रा में होता होगा और वह भी प्रायः ठोस न होगा। उपरोक्त कथन की सत्यता कहाँ तक है यह यज्ञ-योगिजन द्वारा ही समाधेय है।

षोडशकल अग्निहोत्र के हविरूप पय (दुग्ध) में रुद्रादि देव

महर्षि दयानन्द ने सायं तथा प्रातःकालीन अग्निहोत्र में १६ आहुतियाँ प्रमुख मानी हैं, इसे हम याज्ञिक परिभाषा में षोडशकल अग्निहोत्र कह सकते हैं। षोडशकल अग्निहोत्र के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण २५ अ० १ खण्ड में आता है कि जो व्यक्ति षोडशकल अग्निहोत्र की वैश्वदेवात्मकता तथा उसकी गौ पशु में अभिव्याप्ति व प्रतिष्ठा को जानता है वह अग्निहोत्र द्वारा समृद्धि को प्राप्त करता है। राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि **'वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य!** हे याज्ञवल्क्य! क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो? याज्ञवल्क्य का उत्तर था कि हाँ! राजन् जानता हूँ। वह क्या है? वह पयः अर्थात् दूध है। इसका रहस्य यह है कि अग्निहोत्र का प्रमुख होम-द्रव्य दूध है। यह दूध दो प्रकार का है—एक गौ पशु में और दूसरा पृथिवी में। जिस समय पृथिवी में ओषधि-वनस्पति अंकुरित होती हैं उनमें सर्वप्रथम दूध ही होता है। अतः पृथिवी को भी गौ कहा जाता है। इस प्रकार गौ पशु तथा पृथिवी इन दोनों गौओं से उत्पन्न दूध तथा तदुत्पन्न घृतादि द्रव्यों को होम-द्रव्य माना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में गौ में तथा तदुत्पन्न दूध में वैश्वदेवों की सत्ता मानी गई है। वह किस प्रकार है, इसको हम तालिका में निम्न प्रकार रख सकते हैं—

पयः (दूध)	देवता
१. गोस्तन में स्थित	रुद्र
२. बछड़े द्वारा पोसने पर	वायु
३. दुह्यमान दशा में	अश्वी
४. दोहनानन्तर पात्र में स्थित	सोम
५. पाकार्थ अग्नि पर स्थापित	वरुण
६. उफान दशा में	पूषा
७. उफन कर नीचे स्यन्दमान दशा में	मरुत्
८. बिन्दु रूप में बुलबुल करता हुआ	विश्वेदेव
९. शरगृहीत अर्थात् सार रूप में आया	मित्र
१०. उद्वासित अर्थात् अग्निशाला से बाहिर	द्यावापृथिवी
११. हवन के लिए तैयार किया	सविता
१२. होमशाला में ले जाया जाता हुआ	विष्णु
१३. वेदि में स्थापित	बृहस्पति

पयः (दूध)	देवता
१४. पूर्वाहुति	अग्नि
१५. उत्तराहुति	प्रजापति
१६. हुत	इन्द्र

दूध की ये उपर्युक्त १६ अवस्थायें हैं। इन अवस्था-भेदों से देवताओं का क्या सम्बन्ध है यह एक विवेचनीय विषय है। हम यहाँ केवल रुद्र देवता के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं। जिस समय दूध गौ के ऊधस् में होता है तब वह रुद्र देवता वाला होता है। प्राणियों के उदर में रुद्र देवता का निवास माना गया है क्योंकि प्रायः सब व्याधियाँ उदर व उपस्थादि नीचे के अंगों से उत्पन्न होती हैं। इन अंगों में स्थित अग्नि ही विकृत होकर रुद्र रूप को धारण करती है। ऊधस् में जब दूध भर जाता है तब उसे बाहिर आना ही चाहिये। यदि वह बाहिर नहीं आता है तो दूध भी विकृत होगा, अग्नि में विकार पैदा होंगे, गौ व्याधिग्रस्त होगी।

दोहन के समय गौ का बैठ जाना

अग्निहोत्र के लिये जो गौ नियत की जाती है उसे अग्निहोत्री गौ कहते हैं। उस गौ को पोसने के लिये बछड़े को स्तनों पर लगाने पर यदि गौ बैठ जाये तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये क्योंकि गो-दुग्ध न होने से हवन में व्याघात होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में निम्न मन्त्र से प्रायश्चित्त लिखा है। मन्त्र इस प्रकार है—

यस्माद् भीषानिषीदसि ततो नो अभयं कृधि।
पशून् नः सर्वान् गोपाय नमो रुद्राय मीढुषे॥

ऐ० ब्रा० २५ अ० २ खं०

हे अग्निहोत्री गौ! तू जिसके भय से भयभीत हुई बैठ गई है उस भय-हेतु से हमें निर्भय कर। हमारे सब पशुओं की रक्षा कर। वीर्य-सिंचन-समर्थ अथवा सुख-दाता पशु-स्वामी रुद्र को हमारा नमस्कार है।

यह प्रायश्चित्त मन्त्र पृथिवी-रूपी गौ के बंजर हो जाने, धंस जाने, इन्द्रिय-रूपी गौ के क्षीण हो जाने पर भी बोलना चाहिये।

स्विष्टकृत् और रुद्र

स्विष्टकृत् क्षेत्र-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों का द्योतक है परन्तु शास्त्रों में प्रायः यह अग्नि के वाचक के तौर पर प्रयुक्त हुआ है जिसे कि स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है। अग्नि जब रुद्र-रूप को धारण करती है तब इस रुद्राग्नि को भी शास्त्रों में स्विष्टकृत् कहा गया है, यथा **'रुद्रः स्विष्टकृत्'** श० प० १३।३।८।३। अग्नि के रुद्र-रूप तथा स्विष्टकृत् के सम्बन्ध में शत० १।७।३ में आता है कि

देवता यज्ञ के द्वारा द्युलोक में जा पहुँचे परन्तु पशुओं का अधिपति रुद्र यहाँ यज्ञ-भूमि में ही रह गया। उसने देखा कि ये देव मेरी अवहेलना कर द्युलोक में जा पहुँचे हैं इससे क्रुद्ध हो वह उत्तर दिशा में स्विष्टकृत् के समय यज्ञ का प्रतिरोध करने के लिये उठ खड़ा हुआ। इस पर देवताओं ने रुद्र से प्रार्थना की कि कृपाकर आप यज्ञ का विध्वंस न करें। तब रुद्र ने कहा कि इस याज्ञिक आहुति में मेरा भी भाग होना चाहिये। देवताओं ने स्वीकार किया और कहा कि हम देवों के लिये जितनी हवियाँ होंगी उन सबमें तुम्हारा भी भाग होगा। कहा भी है—

"तस्माद् यस्यै कस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्ट-कृदन्वाभक्तः सर्वत्र ह्येवैनं देवा अन्वाभजन्"। श० प० १।७।३।७

अर्थात् जिस किसी भी देवता को देने के लिये हवि ग्रहण की जाती है उसमें रुद्र का भी भाग होता है जिसे स्विष्टकृत् कहा जाता है। अतः प्रत्येक देवता हवि में से रुद्र का भाग भी निकालते हैं। वस्ती (यज्ञ-भूमि) में रहने के कारण रुद्र को वास्तव्यः (वस्तौ स्थितत्वात्) नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। देवताओं द्वारा हवि में रुद्र का भाग स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि रुद्र ने यज्ञ का विध्वंस न कर उसे ऊर्ध्व में स्थापित किया। इस प्रकरण का संक्षिप्त रहस्य पिण्ड में इस प्रकार है। पिण्ड के दो भाग हैं—एक पूर्वार्ध जो कि नाभि से ऊर्ध्व में है और दूसरा उत्तरार्ध जो कि नाभि से नीचे है। शरीर के ये दोनों भाग अन्न-भक्षण करते हैं। शरीर का पूर्वार्ध ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सूक्ष्म अन्न का भक्षण करता है, दूसरे नाभि से नीचे उदर को स्थूल अन्न पहुँचाया जाता है। उदर में विद्यमान अग्नि ही अनेकों अवसरों पर रुद्र का रूप धारण कर लेती है। नाभि से ऊर्ध्व में विद्यमान इन्द्रियाँ जब सन्ध्यावन्दन ध्यान-चिन्तन-मनन तथा अध्ययन-अध्यापन आदि में संलग्न रहती हैं तब ये प्रायः मस्तिष्क में केन्द्रित हो जाती हैं। मस्तिष्क द्युलोक है, अतः याज्ञिक परिभाषा में यह कहा जा सकता है कि देव (इन्द्रियाँ) द्युलोक में चले गये। इसके विपरीत उदराग्नि उदर (पार्थिव प्रदेश) में अर्थात् यज्ञ-भूमि में ही रही। इस अग्नि को भी हविर्भाग (अन्न) चाहिये। इस अग्नि को बहुत काल पर्यन्त यदि अन्न न मिले तो यह शरीररूपी यज्ञ ही विनष्ट हो जायेगा क्योंकि उदराग्नि भड़ककर रौद्र रूप धारण कर लेगी। अतः यह अग्नि रुद्र-रूप को धारण न करे इसके लिये अन्नाहुति देकर उसके रौद्र रूप का शमन किया जाता है। और अन्नाहुति के उदर में जाने से अग्नि हमारा सु+इष्ट+कृत् उत्तम इष्ट का सम्पादन करने वाली हो जाती है। मनुष्य का यह स्थूल शरीर तथा अन्य अंगोपांग पशु हैं। इनका पालन-पोषण करने वाला पशुपति यह रुद्राग्नि है। इस प्रकार शरीर के वे दोनों भाग सूक्ष्म तथा स्थूल अन्न का भक्षण करने वाले हैं। शास्त्र में आता है कि दोनों की आहुति साथ-साथ नहीं डाली जाती। कहा भी है—

"पशवो वा आहुतयो रुद्रोऽग्निः स्विष्टकृन्न सह होतव्यं यत् सहजुहुयाद् रुद्रायास्य पशूनपि दध्यादुत्तरार्धपूर्वार्धे होतव्यमाहुतीनामसंसृष्ट्या । अथो एवमस्य रुद्रः पशूननभिमानुको भवति" मै० सं० ४।१३।८ यहाँ पशु से इन्द्रियाँ, उनका वीर्य तथा अन्न कुछ भी लिया जा सकता है। शरीर के अंगोपांग इस शरीर-यज्ञ में आहुति-रूप में डाले जाते हैं। उपरोक्त उद्धरण का तात्पर्य यह है कि शरीर के पूर्वार्ध व उत्तरार्ध की आहुतियाँ एकसाथ नहीं डालनी चाहिये। दोनों की आहुति साथ-साथ डालने का परिणाम यह होगा कि रुद्र पशुओं को बाधित व पीड़ित कर देगा। देखा यह जाता है कि भोजन करते हुए भी कई व्यक्ति पुस्तक पढ़ रहे होते हैं या किसी चिन्ता व चिन्तन में डूबे हुए होते हैं। उपन्यासों के शौकीन तो कई ऐसे देखे जाते हैं कि भोजन करते हुए भी उपन्यास पढ़ रहे हैं। अतः शास्त्रकार कहते हैं कि दोनों आहुतियाँ साथ-साथ नहीं डालनी चाहियें। वस्तुतः सामान्य अग्नि ही स्विष्टकृत् है रुद्राग्नि नहीं। रुद्र को जो स्विष्टकृत् कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि स्विष्टकृत् आहुति द्वारा उसके रौद्रभाव का शमन किया जाता है। तै० सं० १।६।२।४ में आता है कि **"अग्नेः स्विष्टकृतोऽहं देवयज्ययाऽऽयुष्मान् यज्ञेन प्रतिष्ठां गमेयम्"** अर्थात् अग्नि के स्विष्टकृत् रहते मैं जब देवयजन (ध्यान, चिन्तन, मनन, यज्ञ-याग आदि) करता हूँ तो मैं आयुष्मान् हो जाता हूँ और इस प्रकार यज्ञ द्वारा प्रतिष्ठा पाता हूँ। श० प० १।५।३।२३ में आता है कि **"अग्निं स्विष्टकृतं समस्थापयन् अग्नि र्हि स्विष्टकृत्"** अग्नि को स्विष्टकृत् बनाकर सम्यक् प्रकार से स्व-स्थान में स्थापित किया। इन पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध की आहुतियों में जो पूर्वाहुति है वह अग्निहोत्र-सम्बन्धी है और जो उत्तराहुति है वह स्विष्टकृत् से सम्बन्ध रखती है।

अतः प्रतिदिन पहिले पूर्वाहुति डाली जाती है। सन्ध्यावन्दन, यज्ञ-याग, अध्ययन-अध्यापन किया जाता है तत्पश्चात् मध्याह्न में उत्तराहुति अर्थात् भोजन किया जाता है। कहा भी है—**"सा या पूर्वाहुतिः साऽग्निहोत्रस्य देवता तस्मात् तस्यै जुहोति। अथ योत्तरा स्विष्टकृद् भाजनमेव सा"** इससे यह स्पष्ट है कि अग्निहोत्र से पूर्व कुछ खाना नहीं चाहिये और सामान्य भोजन भी यज्ञीय भावना से करना चाहिये। स्वाद आदि में अभक्ष्य भक्षण कर लेना उपयुक्त नहीं है। शारीर यज्ञ की सफलता व सम्पन्नता स्विष्टकृत् आहुति पर ही निर्भर है। तै० सं० २।६।८ में आता है कि जब देवों ने रुद्र की अवहेलना की तो रुद्र ने यज्ञ को बींध दिया तब देवता रुद्र के पास पहुँचे **"तं देवा अभिसमगच्छन्त कल्पतां न इदमिति तेऽब्रुवन् स्विष्टं वै न इदं भविष्यति यदिमं राधयिष्याम इति तत् स्विष्टकृतः स्विष्टकृत्त्वम्"** तै० सं० २।६।८
अर्थात् देवों ने रुद्र से कहा कि अगर हम इस यज्ञ को सिद्ध कर लेते हैं तो हमारा सु+इष्ट अर्थात्, कल्याण हो जायेगा, कृपया इस यज्ञ को आप सामर्थ्यवान् कर

देवें। अतः इस शरीर को सामर्थ्यवान् शक्तिशाली बना देना ही स्विष्टकृत् का प्रयोजन है। मन्त्र में कहा भी है—

यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्।

आश्व० १।१०।२२

अर्थात् यज्ञ में (शारीर-यज्ञ तथा अग्निहोत्र आदि) जो अतिरिक्त कर्म कर लिया या न्यून किया उसको सन्तुलित करना यह प्रायश्चित-रूप में अग्नि को स्विष्टकृत् आहुति देने पर निर्भर है। स्विष्टकृत् का तात्पर्य यह भी है कि शरीररूपी यज्ञ में जो आवश्यकता से अधिक हो गया अथवा कुछ न्यूनता आ गई है उसको सन्तुलित करना ही स्विष्टकृत्त्व है। तदनुकूल ही आहुति होनी चाहिये। शतपथकार कहते हैं कि जबतक यह अग्नि अपने सामान्य रूप में रहती है तो यह शान्त है, स्विष्टकृत् है; पर जब यह अग्नि[1] शर्व, भव, पशुपति आदि रूपों को धारण करती है तो ये अग्नि के अशान्त व घोर रूप हैं। अग्नि के इन रूपों को प्राच्य देशवासी 'शर्व' नाम से कहते हैं और वाहीक-जन 'भव' नाम से।

उदरादि नीचे के अंगों से सम्बद्ध अग्नि को दूसरे शब्दों में अवाङ्प्राण भी कहा गया है। यह अवाङ्प्राण ही स्विष्टकृत् है। यथा—**"अयमेवावाङ्प्राणः स्विष्टकृत्।...एतस्मात् प्राणात् सर्वे प्राणा बीभत्सन्तेऽथ यत् स्विष्टकृते सर्वेषां हविषामवद्यति तस्मात् यत् किं चेमान् प्राणानापद्य त एतमेव सर्वं समवैति"** श०प० ११।१।६।३० अर्थात् यह नीचे का अवाङ्प्राण ही स्विष्टकृत् है। शरीर के अन्य सब प्राण इसी अवाङ्प्राण से भय खाते हैं, अतः सब प्राणों की हवियों में से इस अवाङ्प्राण के लिये पृथक् करके भाग निकाला जाता है। क्योंकि यदि अन्य प्राणों पर कुछ भी आपदा आती है तो वे इस अवाङ्प्राण की शरण में जा पहुँचते हैं और इसमें समवेत हो जाते हैं। अवाङ्प्राण क्या है इसका कुछ संकेत निम्न प्रकरण से होता है। श० प० ११।१।६।८ में आता है—"प्रजापति ने अवाङ्प्राण से असुरों की उत्पत्ति की, यह प्राण तम-रूप है, अन्धकार-युक्त है।" इससे यह स्पष्ट है कि यह प्राण उदर व शिश्नादि से सम्बन्ध रखता है। असुर प्रायःकर खाने-पीने व भोग-विलास में संलग्न रहते हैं, अतः उदर व शिश्नपरायण आसुरी शक्ति का अन्धकार व तमोरूप होना स्वाभाविक है। यदि उदरादि अंगों की अग्नि शान्त है, स्विष्टकृत् है तो ऊर्ध्व के प्राण भी ठीक रहते हैं और अपना-अपना कार्य सुचारु रूप से करते हैं। यदि नीचे की अग्नि विकृत है तो ऊर्ध्व के प्राण भी विपत्ति में पड़ जाते

---

१. "अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः पशूनाम्पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्ता न्येवेतराणि नामान्यग्निरित्येव शान्ततमं तस्मादग्नय इति क्रियते स्विष्टकृत् इति"

श० प० १।७।३।८

हैं, मनुष्य का सारा ध्यान नीचे ही रहता है। इसी प्रकार कामाग्नि बहुत अधिक प्रवृद्ध है तो ऊर्ध्व के प्राणों को भी यह आक्रान्त कर लेती है। इसी दृष्टि से कहा कि—**"यत् किं चेमान् प्राणानापद्यत एतमेव सर्वं समवैति"**।

कई बार ऊर्ध्व के अंगों की अग्नि भी रुद्र-रूप धारण कर लेती है अतः उसे भी स्विष्टकृत् बनाना पड़ता है।

स्विष्टकृत् अग्नि-द्वारा अश्व का उद्धार

श० प० १३।३।४।२ में आता है कि "स्विष्टकृत् अग्नियों ने कहा कि हम इस अश्वमेध के अश्व का उद्धार करते हैं अर्थात् इसके बल को ऊर्ध्वगति देते हैं।" (उद्धार=उत्+हार=ऊर्ध्व गमन)। इससे हम असुरों का अभिभव करेंगे। इसके लिये उन्होंने अश्व के लोहित अर्थात् रक्त को उत्कृष्ट बनाया। इसके लिये उन्होंने अश्व के रक्त को स्विष्टकृत् अग्नि में खूब परिपक्व किया। इसका परिणाम यह हुआ कि व्याधि आदि शत्रुओं का विनाश हो गया इसीलिए कहा कि **"स्विष्ट-कृद्भ्यो लोहितं जुहोति"**। इससे यह स्पष्ट है कि यह स्विष्टकृत् नामक रुद्राग्नि जब व्याधि, कृमि-कीट आदि मानव-शत्रुओं का संहार करती है तब इसे स्विष्टकृत् कहते हैं। लोहित रक्त है। आन्तरिक अग्नियों में रक्त पहुँचे तो स्विष्टकृत् अग्नियों में यह रक्त आहुति कहलायेगी।

अग्नि को स्विष्टकृत् का प्रलोभन

तै० सं० २।६।६ में एक कथानक दिया गया है वह यह कि प्रारम्भ में अग्नि उस ऊर्ध्व लोक में था और यम पृथिवी पर था। देवताओं ने सोचा कि पृथिवी पर उत्पन्न होकर मनुष्यों को अन्न भी पकाना पड़ेगा, बिना अग्नि के यह कैसे सम्भव होगा ? और दूसरे ऊर्ध्व में पितरों को राजा की आवश्यकता है। इसलिए यह करते हैं कि अग्नि और यम इन दोनों का स्थान परिवर्तन करा देते हैं। इस दृष्टि से देवता अग्नि के पास पहुँचे और उसे अन्न का लोभ दिया, इस लोभ से यह अग्नि ऊर्ध्व से पृथिवी पर आ गयी और पितरों ने यम को राज्य का लोभ दिया। इस प्रकार लोभ में आकर दोनों ने अपना स्थान परिवर्तन कर लिया। देवताओं ने अग्नि का अन्न का भाग नियत कर दिया जो कि स्विष्टकृत् कहलाता है। इस स्विष्टकृत् आहुति से यजमान "तद् रुद्रं समर्धयति"—रुद्र को समृद्ध करता है। क्योंकि रुद्र एक ही है अतः पुरोडाश में से एक ही बार स्विष्ट-कृत् का अवदान (काटकर पृथक् करना) करना चाहिये। स्विष्टकृत् आहुति देने का नियम यह है कि पूर्व आहुति जहाँ दी गई है उससे हटकर दूसरे स्थान पर स्विष्टकृत् की आहुति देवें। यदि पूर्व आहुति पर ही स्विष्टकृत् आहुति दी जायेगी तो रुद्राग्नि यजमान के पशुओं को विनष्ट कर देगी। इसलिए कहा कि—**"अतिहाय**

पूर्वा आहुतिर्जुहोति पशूनां गोपीथाय" तै०सं० २।६।६ इसका तात्पर्य यह है कि जिस स्थान पर अन्य देवों को आहुति दी गई है उसी स्थान पर रुद्र को दी जाने वाली स्विष्टकृत् आहुति नहीं देनी चाहिये, इससे अन्य देवों को दी गई आहुति विनष्ट हो जायेगी। रुद्र की दिशा ईशान तथा उत्तर दिशा है अतः इन्हीं दिशाओं में उसे आहुति देनी चाहिये। इस रहस्य को हम इस दृष्टि से भी समझ सकते हैं वह यह कि हमारे शरीर में देवताओं का अपना निवास भिन्न-भिन्न स्थानों में है। इसी भाँति प्राण-अपानादि प्राणों का भी शरीर में पृथक्-पृथक् स्थान है। छान्दोग्योपनिषत् में ५।१९-२३ में आता है कि भोजन के समय प्रथम पाँच ग्रास प्राण-अपानादियों को देवें। **"ओ३म् प्राणाय स्वाहा"** बोलकर प्रथम ग्रास मुख में डालें। इसी प्रकार द्वितीय ग्रास **"ओ३म् व्यानाय स्वाहा"** बोलकर मुख में डालें। तत्पश्चात् समान तथा उदान आदि प्राणों को आहुति देवें। ग्रास तो मुख में ही डाला जाता है पर वह मुख के माध्यम से स्व-स्व क्षेत्र में स्थित प्राणों को पहुँच जाता है। परन्तु प्राणादि को दी गई आहुति उन्हें उसी अवस्था में पहुँचेगी जब मन वहाँ उपस्थित होगा। यदि अपान की आहुति के समय हम अपना ध्यान मुख में केन्द्रित रक्खें तो अपान की आहुति प्राण की आहुति को विनष्ट कर देगी क्योंकि अपान का क्षेत्र तो शरीर में नीचे है। इसी भाँति यज्ञ में पूर्व आहुतियाँ जहाँ देवों को दी गई हैं उसी स्थान पर रुद्र को दी जाने वाली स्विष्टकृत् आहुति नहीं देनी चाहिये। स्विष्टकृत् आहुति या तो उत्तर दिशा में स्थित दूसरे यज्ञ-कुण्ड में देवें। यदि उसी एक कुण्ड में देनी है तो स्विष्टकृत् आहुति के समय उत्तर दिशा का ध्यान कर लेवें। यहाँ शास्त्रकार का यह कथन भी विचारणीय है कि प्रारम्भ में अग्नि ऊर्ध्व में थी तथा यम नीचे पृथिवी पर था। इसका रहस्य बाह्य प्राकृतिक घटना में तो यह प्रतीत होता है कि जब पृथिवी जल से बाहिर नहीं निकली थी तो अग्नि उस समय केवल सूर्य में थी, ज्यों-ज्यों पृथिवी दृढ़ होती गई त्यों-त्यों अग्नि नीचे आती गई, देव-शक्तियों का अग्नि को पृथिवी पर लाने का यह रूप हैं। पृथिवी पर यम के होने का तात्पर्य यह है कि यम मृत्यु का अधिष्ठाता है। पृथिवी पर प्रारम्भ में तोड़फोड़ अधिक था। कुछ नष्ट हो रहे थे, कुछ उभर रहे थे; अभी नियमबद्ध कुछ नहीं था। जब पृथिवी अपने अन्तिम रूप में आ गयी तब यम की यहाँ आवश्यकता नहीं रही। मानव-शरीर में भी यह प्रक्रिया इसी दृष्टि से देखी जा सकती है। हमें यज्ञों के विधि-विधानों पर विचार करते हुए यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि ये बाह्य यज्ञ प्रमुख रूप से आन्तरिक यज्ञों के प्रतीक हैं। जिस विधि का बाह्य यज्ञ में अपनाने का विधान हुआ है उस विधि का आन्तरिक क्या रूप है, यह अवश्य निश्चय कर लेवें। स्विष्टकृत् आहुति का शरीराभ्यन्तर्वर्ती रहस्य यह है स्विष्टकृत् आहुति नीचे के उदर व शिश्न में विद्यमान अग्नि (रुद्राग्नि) को दी जाती है और देवों को आहुति प्रमुख रूप से

मस्तिष्क में दी जाती है। नीचे की अग्नि में वासनाएँ, कामनाएँ आदि होती हैं, यदि ये वासनाएँ आदि मस्तिष्क को आक्रान्त किये रहें तो समझो स्विष्टकृत् आहुति मस्तिष्क में पड़ रही है जो कि देवों की आहुति का स्थान है। देवों की आहुति ज्ञान व दिव्य ज्ञानादि से सम्बन्ध रखती है। कामनाएँ व वासनाएँ आकर उन आहुतियों को नष्ट कर देती हैं। बाह्य पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतिनिधि है। इसमें से स्विष्टकृत् आहुति का अति स्वल्प-सा भाग और वह भी एक बार काटने का विधान है पर आजकल सारा पुरोडाश (मस्तिष्क) स्विष्टकृत् आहुति बना हुआ है। मनुष्यों के मस्तिष्क में सदा खाने-पीने, भोग-विलास की चिन्ता का होना इसका प्रमाण है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि मस्तिष्क के प्रतिनिधि पुरोडाश (रोटी) में से स्वल्प-सा और वह भी एक बार (टुकड़ा) काटो। दिन में दो समय के यज्ञों में स्विष्टकृत् आहुति दी जानी चाहिये।

मैत्रायणी संहिता में रुद्र

मैत्रायणी संहिता में २।९ प्रपाठक से रुद्र-देवता का वर्णन प्रारम्भ होता है। इसके प्रथम अनुवाक में जो मन्त्र दिये गये हैं वे संख्या में १३ हैं। ये मन्त्र काठक आदि अन्य संहिताओं में नहीं आते। इसका केवल तृतीय मन्त्र—**तत् पुरुषाय विद्महे"** काठक संहिता में आता है। इन १३ मंत्रों में प्रथम दो मन्त्रों को छोड़कर शेष ११ मंत्र गायत्री छन्द में उसी शैली पर निर्मित हुए हैं। इनमें कई मन्त्रों का रुद्र देवता से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतीत यह होता है कि किसी ने पीछे से ये मन्त्र इसमें मिला दिये हैं। इन मन्त्रों में शर्व, महादेव, रुद्र, गौरी, स्कन्द, दन्ती, ब्रह्मा, विष्णु, भानु, चन्द्र, वह्नि, ध्यान, सृष्टि इन सबसे यह प्रार्थना की गई है कि ये हमें प्रेरित करें। इनमें कई नाम तो रुद्र के ही हैं, कुछ रुद्र से सम्बन्ध रखते हैं यथा—गौरी, स्कन्द, दन्ती आदि पर विष्णु, ब्रह्मा आदि का रुद्र से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह भी सम्भव है कि किसी ने 'रुद्राध्याय' से पूर्व इनको इष्टदेव के रूप में स्मरण किया हो। कुछ भी हो, अब हम इन मन्त्रों का अर्थ प्रदर्शित करते हैं।

१. **आत्वा वहन्तु हरयः सुचेतसः श्वेतैरश्वैरिह केतुमद्भिः।**
वातजवैर्बलवद्भिर्मनोजवैरस्मिन् यज्ञे मम हव्याय शर्व।।

(शर्व) हे सर्वसंहारक प्रभो! (सुचेतसः हरयः) आहरण करने वाली उत्तम चित्त-शक्तियाँ (वातजवैः) वायु वेग वाले (बलवद्भिः) अत्यन्त बलवान् (मनोजवैः) मनोवेग वाले (केतुमद्भिः) ज्ञानरूपी ध्वजाओं वाले (श्वेतैः अश्वैः) श्वेत अश्वों द्वारा (इह) यहाँ (अस्मिन् मम यज्ञे) इस मेरे यज्ञ में (हव्याय) आहुति-सेवन करने के लिये (त्वा) तुझे (आवहन्तु) वहन करके लावें।

यहाँ सर्वप्रथम रुद्र के शर्व-रूप अर्थात् सर्वसंहारक रूप को स्मरण किया गया है। भक्त बाह्य शत्रुओं के साथ ही आन्तरिक शत्रुओं व अध्यात्म की बाधाओं के

विनाश के लिये भगवान् के शर्व-रूप को स्मरण करता है और अपने इस यज्ञ में 'हव्य' बाह्य आहुति के साथ आत्माहुति के सेवन के लिये प्रार्थना करता है। इस शर्व-भगवान् को यज्ञ में लाता कौन है ? मन्त्र कहता है कि हरि अश्वों द्वारा लाते हैं। यहाँ हरि और अश्व दोनों पृथक्-पृथक् हैं। कई स्थलों में हरि अश्व का विशेषण बनता है। 'हरि' चित्तवृत्तियाँ हैं जोकि 'सुचेतस:' श्रेष्ठ व उत्तम चित्त से उत्पन्न होती हैं और अश्व शर्व नामक भगवान् की विहरण शक्तियाँ हैं जिन पर समारूढ़ हो वह भक्त के पास पहुँचता है। ये अश्व प्रकाशित प्राण-शक्तियाँ (केतुमद्भि:—किति संज्ञाने) हैं। अश्वों का श्वेत होना सत्त्व गुण व प्रकाश का द्योतक है। भक्त के हृदय में प्रकाश वृद्धिगत होता जाता है, जोकि इस बात का संकेत है कि भगवान् की सवारी आ रही है।

२. **देवानां च ऋषीणां चासुराणां च पूर्वजम्।**
महादेवं सहस्राक्षं शिवमावाहयाम्यहम्॥

देवों, ऋषियों तथा असुरों का जो पूर्वज है उस सहस्राक्ष महादेव शिव का मैं आह्वान करता हूँ। मन्त्रार्थ सरल है। महादेव को यहाँ पूर्वज, पूर्वोत्पन्न कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि-उत्पत्ति प्रारम्भ होने पर ही सर्वव्यापक भगवान् की शक्तियाँ विविधाश्रयों, आलम्बनों के आधार पर विविध नामों से उच्चरित होती हैं।

३. **तत् पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।**

(तत् पुरुषाय) मैं, तू, आदि विशिष्ट विशेषणों से रहित अलिंग तथा समग्र-रूप उस परमपुरुष को (विद्महे) हम जानें और (महादेवाय) देवाधिदेव उस महान् देव का हम (धीमहि) ध्यान करें, चिन्तन करें (तत्) तत् रूप वह (रुद्र:) उपदेष्टा भगवान् हमें (प्रचोदयात्) प्रेरित करे।

तत् पद निर्गुण का, अलिंग का वाचक है। प्रकृति के आकाशादि घटकों से सम्बद्ध होने पर लिंग बनता है। अत: तत्पुरुष लिंग से ऊपर की स्थिति है। जिसमें किसी प्रकार का विशेषण लग नहीं सकता। क्योंकि सब देवों अर्थात् दिव्य शक्तियों, ऋषियों (प्राणों, प्राणा वाव ऋषय:) तथा आसुरी शक्तियों का वह पूर्वज है, इस अवस्था में देव, ऋषि आदि परस्पर विभाजक रेखा नहीं बनी होती ऐसे उस अनिर्देश्य तथा अव्यक्त प्रकृति में स्थित उस महादेव का हम ध्यान करें। प्रश्न पैदा होता है कि जब वह अलिंग व अनिर्देश्य है तो ध्यान कैसा ? यह ध्यान **"प्रत्ययैकतानता"** केवल चेतना का सतत प्रवाह है जिसमें किसी प्रकार का विषय नहीं है। कहा भी है **"ध्यानं निर्विषयं मन:"** क्योंकि अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि विभाजक देवों की अभी सत्ता ही नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि महादेव की सत्ता तो रुद्र-नामों में ७वें पर आती है अत: रुद्र के आविर्भूत होने से पूर्व महादेव का ध्यान कैसा ? इस सम्बन्ध में यही कहा

जा सकता है कि यहाँ सोममूर्ति महादेव की सीमा में बद्ध महादेव से अभिप्राय नहीं है, देवाधिदेव महान् देव का ग्रहण है। और सोममूर्ति महादेव भी हो तो तात्त्विक रूप में तो वह अलिंग परमपिता परमात्मा है ही।

४. तद् गांगौच्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्।

(गाङ्गौच्याय) गांग प्रदेश की ऊँचाई पर रहने वाले महादेव को (विद्महे) हम जानें (गिरिसुताय धीमहि) पर्वत-पुत्र उस देव का हम ध्यान करें। (तत्) वह (गौरी) पार्वती (नः प्रचोदयात्) हमें प्रेरित करे।

गांगौच्य—गंगायाः प्रदेशः गांगः तस्य उच्चं तत्र भव.।

औच्यम्—Heights, Distance (मोनियर विलियम)।

वेद में रुद्र को गिरिश, गिरिशन्त (यजु० १६।२,३,४) आदि नामों से स्मरण किया गया है। महर्षि दयानन्द गिरिश की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—यो गिरिषु पर्वतेषु मेघेषु वा शेते तत्सम्बुद्धौ, यो गिरिणा मेघेन सत्योपदेशेन वा शं सुखं तनोति तत्सम्बुद्धौ। इन व्युत्पत्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् का रुद्र-रूप अन्य स्थानों की अपेक्षा पर्वत-शिखर पर अधिक सक्रिय रहता है। इसी दृष्टि से रुद्र का निवास उत्तर दिशा में हिमालय के सर्वोच्च शिखर कैलास पर मान लिया गया है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम व रुद्रादि भागवत शक्तियाँ ब्रह्माण्ड में सर्वत्र अभिव्याप्त होते हुए भी उनका अपना एक विशिष्ट केन्द्रीय स्थान भी होता है जहाँ वे आसानी से आविर्भूत हो सक्रिय होती हैं। सन्ध्या के मनसापरिक्रमा मन्त्रों में अग्नि आदि देव-शक्तियों की दिशा व स्थान का निर्देश किया गया है। अन्य मन्त्रों में भी दिशा व स्थान के निर्देश आते हैं। भगवान् की संहारक रुद्र-शक्ति ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विद्यमान है। पर पृथिवी की दृष्टि से उसका केन्द्रीय निवास-स्थान पर्वत ही है। गिरि मेघ को भी कहते हैं अतः 'गिरिश' व 'गिरिसुत' से मेवस्थायी रुद्र भी लिया जा सकता है। यह मेघ रुद्र के वशवर्ती हो अशनिपात्, अतिवृष्टि व अनावृष्टि तथा विष की वर्षा से प्राणी-संहार का कारण बनता है। हमें गिरिश व गिरिशन्त पदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में रुद्र की उत्तर दिशा क्यों बतायी है? यथा—**'तामुत्तरां दिशं सचन्ते एषा ह्येतस्य देवस्य दिक्**। श० प० २।६।२।५७ सायणाचार्य ने लिखा है—"उत्तरदिशो लोकपालत्वेन रुद्रसम्बन्धः सर्वशास्त्रप्रसिद्धः।" इसी कारण 'उदङ्आतिष्ठन् जुहोति' अर्थात् उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर आहुति देता है क्योंकि **"एतस्यां दिशि एतस्य देवस्य गृहाः स्वायामेवैनमेतद्दिशि तत् प्रीणाति"** श० प० ६।१।१।१० इस उत्तर दिशा में इस रुद्र देव के घर हैं इसी कारण इस उत्तर दिशा की ओर खड़ा होकर आहुति देने से वह रुद्र प्रसन्न होता है।

४. तत् कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि। तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्।

रुद्र के पूर्व रूप कुमार को जानें तथा कार्तिकेय रूप में उसका ध्यान करें वह कुमार रूपी स्कन्द हमें प्रेरित करे।

५. तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।

(कराटाय) गजगण्डवाले (हस्तिमुखाय) हस्तिमुख गणेश को हम जानें, वह दन्ती हमें प्रेरित करे।

कराट-करट=गजगण्ड (अमरकोष)।

कराट, हस्तीमुख तथा दन्ती ये शब्द गणेश के लिये प्रयुक्त हुए हैं। गणेश गणपति आदि शब्द वेदों में ब्रह्मणस्पति के लिये आये हैं। 'बृहस्पति देवता' पुस्तक में इस पर विचार किया गया है। गणेशने गणों के स्वामी को कहते हैं। गणेश के कराट, हस्तीमुख तथा दन्ती अवयवों का स्थूल शरीर से सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार परमपुरुष भगवान् के सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष व सहस्रपात् आदि शब्द उसकी शक्तियों के सूचक हैं, इसी प्रकार गणेश अर्थात् गणों के स्वामी में क्या-क्या शक्तियाँ होनी चाहियें ये कराट आदि शब्द दर्शाते हैं। गणों का स्वामी वही बन सकता है जिसकी मस्तिष्क-शक्ति विशाल हो, दृढ़ हो, उसका बुद्धि-बल इतना अधिक हो कि गणों पर आयी किसी भी विपत्ति का सुचारु रूप से प्रतिकार कर सके। बुद्धि की इसी विशालता व व्यापकता को दर्शाने के लिये गणेश के धड़ में कलाप्रेमी व आख्यान-प्रिय विद्वानों ने हाथी का सिर लगा दिया। दन्ती शब्द उस अवस्था को सूचित करता है जिस समय बच्चे के दूध के दांत होते हैं और अभी पूरी तौर पर टूटे नहीं हैं। इस अवस्था की कुमाराग्नि लड्डू आदि मिष्टान्न की प्रिय होती है। गणों के स्वामी को अपने गणों को खाने-पीने के लिये मिष्टान्न प्रभूत मात्रा में देकर तृप्ति करते रहना चाहिये।

६. तच्चतुर्मुखाय विद्महे पद्मासनाय धीमहि। तन्नो ब्रह्मा प्रचोदयात्।

चारों वेद ही जिसके मुख हैं पद्मासन पर स्थित उस चतुर्वेदज्ञ ब्रह्मा को हम जानें व प्राप्त हों और उसका ध्यान करें। वह हमें वेद-विद्या की प्राप्ति के लिए प्रेरित करे।

यह मन्त्र स्पष्ट व सरल है—

७. तत् केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

केशव, रश्मि वाले आदित्य को हम जानें व प्राप्त करें तथा नारायण-रूप उस परम पुरुष का हम ध्यान करें। वह विष्णु-रूप सूर्यभगवान् हमें प्रेरित करे।

८. तद्भास्कराय विद्महे प्रभाकराय धीमहि। तन्नो भानुः प्रचोदयात्।

भास्कर, प्रभाकर तथा भानु ये तीनों सूर्य के वाचक हैं।

९. तत् सोमराजाय विद्महे महाराजाय धीमहि। तन्नश्चन्द्रः प्रचोदयात्।

सोमरस से प्रदीप्त 'यद्वा सोमानां राजा' यह चन्द्रमा ही महाराज है, उसका

ध्यान करें; वह चन्द्रमा हमें प्रेरित करे।

चन्द्रमा औषधियों का अधिपति है। औषधियों में सोमरस चन्द्रमा से आता है। सब औषधियों-वनस्पतियों अर्थात् सभी प्रकार के अन्नों में कम व अधिक रूप में यह पाया जाता है। यह सोम ही आनन्द (चदि आह्लादे—चन्द्र) का हेतु है। इसी आनन्द की उपलब्धि के लिये सारी दुनिया लालायित है।

१०. तज्ज्वलनाय विद्महे वैश्वानराय धीमहि। तन्नो वह्निः प्रचोदयात्।

ज्वलन, वैश्वानर तथा वह्नि ये तीनों अग्नि के नाम हैं।

११. तत् त्यजपाय विद्महे महाजपाय धीमहि। तन्नो ध्यानः प्रचोदयात्।

(त्यजपाय) सर्वस्व त्याग के रक्षक व पालक आन्तरिक भाव को प्राप्त हों तदनन्तर महान् जप की वृत्ति का ध्यान करें, इसमें हमें ध्यान प्रेरित करे। जप व ध्यान उसी अवस्था में पूर्ण सफल होता है जब कि सर्वस्व त्याग की भावना प्रबल हो जाये। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का आदर्श फलीभूत हो जाये।

१२. तत् परमात्माय विद्महे वैनतेयाय धीमहि। तन्नः सृष्टिः प्रचोदयात्।

हम उस परमपिता परमात्मा को जानें व प्राप्त करें। इसके लिये हम सुपर्ण उत्तम उड़ान करने वाले विनता के पुत्र गरुड़ का ध्यान करें। यह सृष्टि हमें परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रेरित करे।

परमात्मा की प्राप्ति हेतु विनता—विनम्रता का पुत्र बनने की आवश्यकता है। अहंकार का पूर्ण रूप से परित्याग करने पर ही मनुष्य विनम्र बनता है। विनम्रता के साथ-साथ ऊँची उड़ान करने की क्षमता भी आवश्यक है। गरुड़ की कल्पना विनम्रता तथा दिव्य व ऊँची उड़ान की सूचक है। परमात्मा की ओर उड़ान करने के लिये यह प्रेरित करती है। त्रिविध तापों से मुक्ति के लिये ही मनुष्य में परमात्मा की ओर जाने की वृत्ति जागृत होती है।

मै०सं० २।९ प्रपाठक के अन्त में रुद्र देवता को नमस्कारपूर्वक विसर्जित किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ मन्त्र दिये हैं, जिनको हम यहाँ अविकल रूप से प्रस्तुत करते हैं—

अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो अघोरघोरतरेभ्यश्च।
सर्वतः शर्व शर्वेभ्यो नमस्ते रुद्र रूपेभ्यो नमः॥

मै० सं० २।९।५४

यः पथः समनुयाति स्वर्गं लोकं गामिव सुप्रणीतौ।
तेन त्वं भगवान् याहि पथा।　　　　मै० सं० २।९।५५
इमे हिरण्यवर्णाः स्वं योनिमाविशन्तौ।　　　　मै० सं० २।९।५६

गच्छ त्वं भगवान् पुनरागमनाय पुनर्दर्शनाय सहदेव्याय सहवृषाय सहगणाय सह पार्षदाय यथाहुताय नमो नमाय नमः शिवाय नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः।

आवाहितमावाहित, नमस्कृतं नमस्कृत, विसर्जितं विसर्जित, पथं गछ, पथं गछ, दिवं गछ दिवं गछ, स्वर्गछ स्वर्गछ, ज्योतिर्गछ ज्योतिर्गछ, नमस्ते अस्तु मामा हिंसीः।। मै० सं २।९।५७-५८

उपरोक्त मन्त्रों में रुद्र के अघोर, घोर, घोरतर तथा शर्व आदि भिन्न रूपों को नमस्कार कर भक्त प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार गौ अर्थात् सूर्य-रश्मियाँ श्रेष्ठ मार्ग से सूर्य में जा पहुँचती हैं उसी प्रकार आप भी उसी मार्ग से सूर्य-रूपी स्वर्ग में पधारिये। हे भगवन्! फिर आना, फिर दर्शन देना, अपनी सहधर्मिणी रुद्राणी, अपने वृषभ, अपने गणों तथा पार्षदों के साथ जैसे-जैसे आह्वान किया जाये वैसे-वैसे आना। आपको हमारा बार-बार नमस्कार है। आपका आह्वान किया, नमस्कार किया; अब विसर्जन कर रहा हूँ, द्युलोक, स्वःलोक तथा ज्योतिर्मय लोकों में आप पधारें। अब फिर पुनः बार-बार नमस्कार है। हमारी हिंसा न करना।

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि मैत्रायणी संहिता के काल में रुद्र देवता का कोई रूप माना जाता था जिसका वाहन वृषभ है, उसके गण तथा पार्षद हैं और आह्वान करने से वह द्युलोक आदि से आता है।

मै० सं० ३।९।४ में आता है कि—**"न ह स वै पुरा पुरुषं महादेवो हन्ति। तत् इदं रुद्रोऽन्ववातिष्ठत्। ते देवा एतां रुद्रस्यावेष्टिमपश्यंस्त्रिः परस्तादनक्ति त्रिरवस्तात् तत् षट् षड्वा ऋतवः ऋतुभ्यो वा एतद् रुद्रमवयजत्याहुतिभाजो वा ऋतवोऽस्तोमभाजः।"**

अर्थात् पुराकाल में सत्ययुग में मनुष्य बड़े तपस्वी, सदाचारी तथा लोभ-मोह आदि से रहित होते थे, अतः महादेव उनका हनन नहीं कर सकता था, परन्तु जब शनैः-शनैः मनुष्यों में लोभ-मोह आदि का प्रवेश हो गया, तपश्चर्या समाप्त हो गयी तो उनके जीवन में रुद्र का प्रवेश हो गया। तब देवों ने रुद्र को बाहिर करने के लिये इष्टि प्रारम्भ की। छः ऋतुएँ होती हैं, इनमें तीन ऋतुएँ पहिले तथा तीन बाद की, इनके मध्य में रुद्रेष्टि की। और उस इष्टि से इन ऋतुओं से रुद्र को बाहिर किया। नाना प्रकार की पुष्टिकारक सुगन्धित तथा कृमि-विनाशक औषधियों से ऋतु-सन्धि में यज्ञ किया, इससे रुद्र का शमन हो गया। ऋतुओं को रुद्रविहीन करने के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं। वे स्तुति आदि के ग्रहण करने वाली नहीं होतीं। इसीलिये कहा है कि ऋतुएँ 'आहुतिभाजः' आहुतियों का ग्रहण करने वाली होती हैं। पर 'अस्तोमभाजः' स्तोम अर्थात् स्तुति का सेवन करने वाली नहीं होतीं। एक तो ऋतु-सन्धियों में भैषज्य यज्ञ करने का विधान है दूसरे उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर प्रथम तीन ऋतुओं में स्वस्थ वा नीरोग रहने के लिये ऋत्वनुकूल साधन-सामग्री जुटाकर यज्ञ किया जाये। तत्पश्चात् अगली तीन ऋतुओं के अनुकूल यज्ञ का सम्पादन किया जावे। इस प्रकार सारे वर्ष मनुष्य नीरोग रह सकता है।

नवम ग्रध्याय

रुद्र-सम्बन्धी कथानक

नाभानेदिष्ठ (नभाक) और शिव

ऐ० ब्रा० ५।१४ जै० ब्रा० १७६ में नभाक ग्रौर शिव का वर्णन ग्राता है।

यही कथानक शिव-पुराण में नभग नाम से ग्राया है। कथानक निम्न प्रकार है!

श्राद्धदेव मनु के इक्ष्वाकु ग्रादि पुत्र हुए उनमें ९वें का नाम नभग था जिनका पुत्र नाभाग नाम से प्रसिद्ध हुग्रा। मनु-पुत्र नभग बड़े बुद्धिमान् थे, उन्होंने विद्या-ग्रध्ययन के लिए दीर्घकाल तक इन्द्रियसंयमपूर्वक गुरुकुल में निवास किया। इसी बीच इक्ष्वाकु ग्रादि भाइयों ने पिता की सम्पत्ति ग्रापस में बाँट ली। नभग के लिये कुछ न छोड़ा। कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मचारी नभग गुरुकुल से विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटे ग्रौर भाइयों से सम्पत्ति में ग्रपना दायभाग माँगा। भाइयों ने कहा कि दायभाग के बँटवारे के समय हम तुम्हें भूल गये थे, ग्रब इस समय पिताजी ही तुम्हारे हिस्से में ग्राते हैं। भाइयों के ये वचन सुन नभग को बड़ा विस्मय हुग्रा, वे पिता के पास जाकर बोले, "तात! मैं विद्याध्ययन के लिये गुरुकुल में गया था ग्रौर वहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन किया। इस बीच में भाइयों ने मुझे छोड़कर ग्रापस में सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया। गुरुकुल से लौटकर जब मैंने ग्रपना हिस्सा माँगा तब उन्होंने ग्रापको मेरा हिस्सा बता दिया। ग्रत: उसके लिये मैं ग्रापके पास ग्राया हूँ।" श्राद्धदेव ने पुत्र को ग्राश्वासन देते हुए कहा कि उनकी बात पर विश्वास मत करो। मैं तुम्हें ग्राजीविका का एक उत्तम साधन बताता हूँ, सुनो, इन दिनों बुद्धिमान् ग्रंगिरस-गोत्रीय ब्राह्मण एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं, उस कर्म में प्रत्येक छठे दिन का कार्य (षडहन्) वे ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। उसमें उनसे भूल हो जाती है। तुम वहाँ जाग्रो ग्रौर उन ब्राह्मणों को विश्वेदेव-सम्बन्धी दो सूक्तों (ऋ० १०।६१-६२ सू०) को बतला देना, इससे यज्ञ के शुद्ध रूप में समाप्त होने पर जब वे ब्राह्मण स्वर्ग में जाने लगेंगे उस समय सन्तुष्ट होकर ग्रपने यज्ञ से ग्रवशिष्ट सम्पूर्ण धन तुम्हें दे देंगे। पिता की यह बात सुनकर सत्यवादी नभग बड़ी प्रसन्नता के साथ उस उत्तम यज्ञ में पहुँचे। वहाँ छठे दिन (षडहन्) के कर्म में बुद्धिमान् मनु-पुत्र ने विश्वेदेव-सम्बन्धी दोनों सूक्तों का स्पष्ट रूप से उच्चारण

किया। यज्ञकर्म समाप्त होने पर वे आंगिरस ब्राह्मण यज्ञ से बचा अपना धन नभग को देकर स्वर्गलोक को चले गये। उस यज्ञ से अवशिष्ट धन को यह नभग ज्योंही लेने लगा, त्यों ही पशुपति भगवान् शंकर ने प्रकट होकर नभग से पूछा, 'तुम कौन हो जो इस धन को ले रहे हो यह तो मेरी सम्पत्ति है तुम्हें किसने यहाँ भेजा है ? सब बातें ठीक-ठीक बताओ।'

नभग ने कहा—यह तो यज्ञ से बचा हुआ धन है जिसे ऋषियों ने मुझे दिया है। अब यह मेरी सम्पत्ति है इसको लेने से तुम मुझे क्यों रोकते हो ? कृष्णदर्शन (शिव) ने कहा तात ! हम दोनों के झगड़े में तुम्हारे पिता ही पंच रहेंगे। उनसे जाकर पूछाओ और वे जो निर्णय दें उसे ठीक-ठीक यहाँ आकर बताओ। उनकी बात सुनकर नभग ने पिता के पास जाकर उक्त प्रश्न को उनके सामने रक्खा। श्राद्धदेव मनु को कोई पुरानी बात याद आ गयी और उन्होंने भगवान् शिव के चरणकमलों का चिन्तन करते हुए कहा कि तात ! वे पुरुष जो तुम्हें धन लेने से रोक रहे थे वे शिव हैं। यज्ञ से प्राप्त हुए धन पर उनका ही अधिकार होता है, क्योंकि यज्ञ से अवशिष्ट धन को रुद्र का भाग माना गया है। उनकी इच्छा से ही दूसरे लोग उस वस्तु को ले सकते हैं। तुम वहीं जाओ और उन्हें प्रसन्न करो वे तुम्हें वह धन दे देंगे। वहाँ पहुँचकर नभग भगवान् शिव को प्रणाम कर बोले कि यह धन तुम्हारा ही है पिता ने यह निर्णय दिया है। हे नाथ ! भ्रमवश यथार्थ बात न जानकर मैंने जो कुछ कहा है उसे आप क्षमा कीजिये। तब भगवान् कृष्णदर्शन शिव ने प्रसन्न होकर वह सब धन नभग को दे दिया और साथ ही सनातन ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान प्रदान कर कहा कि निर्विकार रहकर इस धन का उपयोग करो। ऐतरेय ब्राह्मण में इस नभग को ही नाभानेदिष्ठ कहा है।

इस उपरोक्त कथानक का रहस्य क्या है यह संक्षेप में हम यहाँ दर्शाते हैं। नाभानेदिष्ठ वह प्राण है जो कि नाभि के अत्यन्त समीप में रहता हुआ रेतस् व वीर्य को नियन्त्रित करता है। नाभि के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि—**"शरीरमध्यस्था सर्वप्राणबन्धनाङ्गम्"** शरीर के मध्य में स्थित हो सब प्राणों को बाँधने वाला अंग नाभि है। इन प्राणों में एक प्राण वह भी है जो कि रेतस् को नियन्त्रित करता है। ऐ० ब्रा० ६।१ में रेतस् को ही नाभानेदिष्ठ कह दिया है यथा—**"रेतो वै नाभानेदिष्ठो रेतस्तत् सिंचति"** अर्थात् रेतस् ही नाभानेदिष्ठ है। श० प० ३।३।४।२८ में आता है कि **"अत्र** (नाभिप्रदेशे) **वा अन्नं प्रतितिष्ठति···अत्र एव रेतस आशयः"** यहाँ नाभिप्रदेश में भक्षित अन्न प्रतिष्ठित होता है और यहाँ ही रेतस् का स्थान है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के कथनानुसार रेतस् व वीर्य को ही नाभानेदिष्ठ माना है पर हमारे विचार में रेतस् में विद्यमान प्राण ही नाभानेदिष्ठ है जो कि रेतस् को नियन्त्रित करता है। नाभिप्रदेश में जितने भी प्राण हैं वे सब मनु अर्थात् भगवान् की मानस-शक्ति से नियन्त्रित होते हैं। मनुष्य

का मन उनमें किंचिन्मात्र ही प्रभावी होता है। शैशव काल से लेकर यौवन तक वीर्य को अध्ययन व ब्रह्मचर्य-पालन में लगाना चाहिये। तदनन्तर गुरुकुल से समावर्तन के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। आंगिरस प्राणाग्नियाँ हैं। अग्नि सदा ऊर्ध्व को जाने वाली होती है अतः ये अंगरस-रूपी प्राणाग्नियाँ अपने-अपने अंगों को परिपुष्ट करते हुए ऊर्ध्व की ओर ही उनकी गति हो यह सब वीर्य पर आश्रित है। क्योंकि यह वीर्य उनका अन्न है इससे परिपुष्ट होकर अंग-रसों की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व की, उत्थान की, उन्नति की होती है। नाभानेदिष्ठ नामक रेतस् का आंगिरसों को स्वर्ग-प्राप्ति में सहायता करने का यही प्रयोजन है। परन्तु होता यह है कि गुरुकुल-वास में जब वीर्य परिपक्व हो चुकता है तो वासना-रूपी कृष्णवस्त्र को ओढ़े हुए उदर व शिश्न में स्थित यह रौद्राग्नि सब अंगों को अपने वश में करना चाहता है क्योंकि ये अंग ही उसके पशु हैं पर आंगि-रस=(अंग-रस) जो यज्ञ रच रहे हैं, वह ऊर्ध्वगति का यज्ञ है। अतः वासना से अंगों को आक्रान्त न होने देना वीर्य को मस्तिष्क की शक्ति-वृद्धि में लगाना इस कथानक का रहस्य है।

यह कथानक नाभि-स्थान में स्थित मणिपुर चक्र की ओर भी संकेत कर रहा है। चक्र का नीला वर्ण कृष्णवर्ण रुद्र को दर्शाता है। इस चक्र का अग्नि-तत्त्व आंगिरस प्राणों का जनक है। वेद में भी आंगिरस-ऋषिओं की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है (ऋ० १०।६२।५,६)। इस चक्र के उद्घाटन का फल जिह्वाग्र पर सरस्वती का आविर्भाव तथा वाक्-रचना में चातुर्य बताया गया है। इसका लोक 'स्वः' है अर्थात् स्वर्ग जहाँ आंगिरस पहुँचना चाहते हैं। उनके इस स्वर्गमन में नाभानेदिष्ठ सहायक बनता है क्योंकि गुरुकुल में ब्रह्मचर्य-पालन से नाभानेदिष्ठ रेतस् की गति ऊर्ध्व की ओर होती है। ऊर्ध्वरेतस् की अवस्था में नाभि के समीपस्थ जितने भी प्राण—पशु हैं उनका स्वामी नाभानेदिष्ठ बनता है, रुद्राग्नि उन्हें अपने वश में नहीं करती।

तै० सं० ३।१।९ में मनु-पुत्र नाभानेदिष्ठ-सम्बन्धी कथानक दिया है जो कि निम्न मन्त्र के आधार पर है। मन्त्र इस प्रकार है—

एष ते रुद्र भागो यं निरयाचथास्तं जुषस्व
विदेर्गौपत्यं रायस्पोषं सुवीर्यं संवत्सरीणां स्वस्तिम्।

हे रुद्र! यह संस्राव तेरा भाग है जो कि देवों को दी जाने वाली आहुति में से देवों से याचना कर पृथक् किया गया है। (देवेभ्यो निष्कृष्य तवैवासाधारण त्वेन याचितवानसि०—सायणाचार्य) उस याचित भाग को तू सेवन कर। हे रुद्र! तू गौओं का पालन-पोषण, धन की पुष्टि, सुवीर्य अर्थात् तदुत्पन्न उत्तम सन्तति, संवत्सर अर्थात् वर्ष-भर में होने वाली औषधियों आदि के अविनाश व कल्याण को भलीभाँति जानता है। यहाँ मनु-पुत्र नाभानेदिष्ठ के माध्यम से जो कथानक

दिया गया है उसमें आता है कि—**"तस्मा एतं मन्थिनः संस्रावमजुहोत्"** अर्थात् नाभानेदिष्ठ ने रुद्र को मन्थन-विलोडन से उत्पन्न संस्राव की आहुति दी, इससे प्रसन्न होकर रुद्र ने सब पशु नाभानेदिष्ठ के पास रहने दिये। ऐतरेय ब्राह्मण(५।६) में कुछ भिन्नता है वह यह कि **"स पुनरेत्याब्रवीत्तव ह वाव किल भगव इदमिति मे पिताऽऽहेति सोऽब्रवीत्तदहं तुभ्यमेव ददामि य एव सत्यमवादीरिति"** नाभानेदिष्ठ अपने पिता के पास से आकर रुद्र से बोला हे रुद्र देव ! मेरे पिता ने कहा है कि ये पशु आपके ही हैं, इस प्रकार सत्य बोलने से प्रसन्न होकर रुद्र देव ने वे सब पशु नाभानेदिष्ठ को दे दिये। परन्तु हम यहाँ तैत्तिरीय संहिता के आधार पर कुछ संक्षिप्त विवेचना ही प्रस्तुत करते हैं। विचारणीय यह है कि यह संस्राव-भाग क्या है जो कि मनु-पुत्र नाभानेदिष्ठ द्वारा रुद्र को दिया गया ?

तै० सं० का यह प्रकरण प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन इन तीन सवनों के मन्त्रों से प्रारम्भ होता है। सवन दूसरे शब्द में मन्थन ही है। सवन व मन्थन सोम का होता है। यह सवनत्रय बाह्य ब्रह्माण्ड में तो सतत रूप में चल ही रहा है, हम यहाँ पिण्ड में दर्शाते हैं। प्रातःसवनादि तीनों सवन मनुष्य के उदर, हृदय तथा मस्तिष्क इन तीनों क्षेत्रों में चालू हैं। ये सवन स्थूल, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सभी क्षेत्रों में होता है। हम जो अन्न खाते हैं वह तीनों सवनों में से होता हुआ वीर्य व ओज-रूप में मस्तिष्क में पहुँच उसे दिव्यता की ओर प्रेरित करता है। उदर में अग्नि सोमसवन करती है। यह प्रातःसवन है। हृदय में वायु तथा इन्द्रादि देव सोमसवन कर रहे हैं तथा तृतीय सवन सुधन्वा के पुत्र ऋभुगण कर रहे हैं। (तै० सं० ३।१।७)। सोम के सवन व मन्थन व सोम का जो संस्रवण होता है उसमें वसु, रुद्र तथा आदित्य का भाग होता है। कहा भी है **"संस्राव भागा वसवो वै रुद्रा आदित्याः संस्राव भागाः"** तै० ब्रा० ३।३।६।७ अन्न-भक्षण द्वारा जो सोम का सवन हो रहा है वह रस-रक्तादि के माध्यम से अन्त में ओज-रूप में परिणत हो जाता है। इन तीनों स्थानों में जो समुद्र-मन्थन हो रहा है। प्रश्न है कि कौन कर रहा है ? इसका उत्तर है, यह आंगिरस अंगों की प्राणशक्तियाँ सोमसवन कर रही हैं किसलिये ? स्वर्ग-प्राप्ति के लिये। अतः सोमसवनों द्वारा निचुड़ता है या दूसरे शब्दों में रस (Extract) निचुड़कर संस्रवित होता है यह संस्राव है। इस संस्राव में रुद्राग्नि का भी भाग होना चाहिये। इसलिये कहा कि **"तस्मा एतं मन्थिनः संस्रावमजुहोत् ततो वै तस्य रुद्रः पशून् नाभ्यमन्यत यत्रैतमेवं विद्वान् मन्थिनः संस्रावं जुहोति न तत्र रुद्रः पशूनभिमन्यते।** तै० सं० ३।१।६ यह संस्राव सोम का होता है इसमें निम्न मन्त्र भी प्रमाण-रूप में दर्शाया जा सकता है। वह मन्त्र है—**सत्यमुग्रस्य बृहतः संस्रवन्ति संस्रवाः।**

संयन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दोपरिस्रव। ऋ० ६।११३।५

उस उग्र तीक्ष्ण द्युलोकस्थ बृहत् साम से संस्रव सचमुच संस्रवित हो रहे हैं।

उस रस से परिपूर्ण सोम के रस सम्यक् प्रकार के चहुँ ओर प्रवाहित हो रहे हैं। वह व्याधि व तीक्ष्णता आदि का हरने वाला सोम ब्रह्मशक्ति से पवित्रता करता है। हे इन्दो ! तू हृदयस्थ इन्द्र के प्रति स्रवित हो।

इस प्रकार संस्रव व संस्राव सोम से स्रवित होता है। इसका कुछ अंश उदर आदि अंगों में विद्यमान रुद्र को भी देना होता है। जो व्यक्ति रात-दिन अध्ययन करते हैं या सतत रूप में मस्तिष्क में ही ध्यानस्थ रहते हैं उनके उदरादि अंग क्षीण हो जाते हैं, भोजन पचता नहीं। वे कुछ काल पश्चात् शरीर के क्षीण होने से काल-कवलित हो जाते हैं। अतः सभी अंगों का समन्वित विकास हो तो मनुष्य दीर्घायु होता है। अतः सोमरस (संस्राव) उदर व शिश्न आदि अंगों को भी मिलना चाहिये जहाँ कि रुद्राग्नि का निवास है।

रुद्र ने प्रजापति को बाण से बींधा

'बृहस्पति देवता' पुस्तक के प्राशित्र प्रकरण में शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर उपरोक्त विषय का विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। अब रुद्र देवता पर लिखते हुए गोपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता के आधार पर भी संक्षेप में इस विषय को प्रस्तुत करते हैं।

गोपथ ब्राह्मण उ० १।१ का प्रकरण ब्रह्मसदन के वर्णन से प्रारम्भ किया गया है। हम ब्रह्मसदन तथा प्राशित्र के प्रकरण को ब्रह्माण्ड में न दर्शाकर पिण्ड में दर्शाते हैं। कहा जाता है—**'ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्यति०'** ब्रह्मसदन से तिनके को दूर करना है। पिण्ड में ब्रह्मसदन मस्तिष्क है जहाँ कि ब्रह्म अर्थात् बृहस्पति का निवास-स्थान है। इस ब्रह्मसदन से तृण का निरसन करना अर्थात् मस्तिष्क में से बुरे विचार तथा अन्य पाप व मलादि को दूर किया जाता है। इस मस्तिष्क-रूपी ब्रह्मसदन में यजमान बैठता है। इस ब्रह्मसदन को अर्वाक् वसु का सदन भी कहा गया है यथा **'अर्वाग्वसोः सदने सीदामि'** अर्वाग् वसु के सदन में विराजमान होता हूँ। देवताओं का ब्रह्मा अर्वाग्वसु है और असुरों का पराग्वसु ब्रह्मा बनता है। 'अर्वाग्वसु' 'अर्वाक्' नीचे पृथिवी की ओर है वसु धन जिसका। कहा भी है—
"अथ यदर्वाग् वसुरित्याहातो (पर्जन्यात्) **ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते"**
श० प० ८।६।१।२०

ऊपर आकाश-स्थित पर्जन्य से वृष्टि होती है जिससे पृथिवी पर प्रजाओं के लिये अन्न की उत्पत्ति होती है, यह अर्वाग्वसु मनुष्यादि प्राणियों के हितार्थ ज्ञान, शक्ति व अन्नादि नीचे पृथिवी की ओर बरसाता है। इस दृष्टि से यह देवों का ब्रह्मा है। देव सदा दान करते हैं **"देवो दानाद्वा"** परन्तु असुरों का ब्रह्मा **'पराग्वसु'** है जिनका वसु अर्थात् ऐश्वर्य प्राणियों के हितार्थ न होकर उनसे दूर व परे जाता है। ये पणि नामक असुर हैं। 'पराक् इति दूरनाम' निघं० ३।२६। अतः यज्ञ के

विस्तार के लिये सर्वप्रथम देवों के पुरोहित अर्थात् ब्रह्मा को आसन पर बैठाता है और स्वयं यजमान बैठकर जप करता है और बृहस्पति (देवों के ब्रह्मा) से अनुज्ञा चाहता है। **"बृहस्पतिर्ब्रह्मेति···तस्मिन्नेवैतदनुज्ञामिच्छति"** इस ब्रह्मसदन का जो द्वार है उसे खोलता है जिससे देवों व दिव्य विचारों का ब्रह्मसदन में प्रवेश हो। **"एतद्वै यज्ञस्य द्वारं तदेतदशून्यं करोति"** अर्थात् यह यज्ञ का द्वार है इसे (अशून्य) भरता है। किससे?—'देवों से'। इसके अतिरिक्त एक नीचे का भी द्वार है वह अनुयाजों अर्थात् अपानादि नीचे के प्राणों का द्वार है। यह द्वार स्विष्टकृत् आहुति में सक्रिय होता है। कहा भी है—**"इष्टे च स्विष्टकृत्यानुयाजानां प्रसवादित्येतद्वै यज्ञस्य द्वितीयं तदेवैतदशून्यं करोति०"** अर्थात् स्विष्टकृत् इष्टि में अनुयाज प्राणों की उत्पत्ति होती है, यह यज्ञ का द्वितीय द्वार है। यह स्विष्टकृत् आहुति रुद्र को दी जाती है, रुद्र पशुओं का अधिपति है। इन्द्रियाँ तथा नीचे के अंग पशु हैं, स्विष्टकृत् आहुति से इन्हें अन्न मिलता है। इस प्रकार शरीर-रूपी यज्ञ के दो द्वार हैं—एक मस्तिष्क-रूपी ब्रह्मसदन में देवों के पहुँचने के लिये है और दूसरा स्थूल शरीर व नीचे के अंगों में पहुँचने का द्वार है। अतः शरीर-यज्ञ के ये दोनों द्वार सही रूप में आवागमन के साधन हों, दोनों में समन्वय हो तो यह शरीर-यज्ञ सुचारु रूप से चालू रहता है। इससे पूर्व कि प्रजापति यज्ञ प्रारम्भ करे, यज्ञ की परिधि खींचता है। उसमें विद्यमान प्राणों तथा लोकादिकों का शोधन करता है। किसलिये? यज्ञ की रक्षा के लिये। यज्ञ में असुर प्रविष्ट होकर यज्ञ का विध्वंस कर देते हैं इसलिये परिधि आदि बनायी जाती है। **"परिधीन् सम्मार्ष्टिपुनात्येवैनं त्रिमध्यमं०"** परिधियों का सम्मार्जन करता है और मध्य में जो तीन भाग हैं जोकि प्राण, अपान तथा व्यान से सम्बन्ध रखने वाले हैं—उन्हें पवित्र करता है तथा उन्हें जीतता है। कहा भी है—**"त्रय इमे प्राणाः प्राणानेवाभिजयति"** अर्थात् इन तीन प्राणों पर विजय प्राप्त करता है। आगे लोकों की दृष्टि से भी इस शरीर-यज्ञ के विभाग दिखा दिये हैं—**"त्रिर्दक्षिणार्द्ध त्रयो वै लोका लोकानेवाभिजयति"** शरीर-यज्ञ के दक्षिणार्थ (नीचे) में तीन लोक हैं। इसमें अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय लोक हैं। इसी प्रकार शरीर-यज्ञ के उत्तरार्ध में तीन देवलोक हैं। ये हैं—तीनों मस्तिष्क (मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क तथा सुषुम्णा शीर्षक)—इन तीनों पर भी विजय प्राप्त करनी होती है। इसी भाँति तीन देवयान मार्ग हैं—इस प्रकार ये संख्या में बारह हो जाते हैं जो संवत्सर का प्रतीक है। यथा—३ प्राण + ३ नीचे के लोक + ३ ऊर्ध्व के लोक + ३ देवयान मार्ग = १२।

जब इन प्राणों तथा लोकों पर विजय प्राप्त कर ली और देवयान मार्गों को उद्घाटित कर लिया तब प्रजापति यज्ञ प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्माण्ड में तो प्रजापति भगवान् के सब प्राण व लोकादि वशीभूत हैं ही। उन द्वारा प्राजापत्य यज्ञ स्वतः चालू है पर हम यहाँ मानव-पिण्ड में मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्राजापत्य यज्ञ

पर विचार करते हैं। प्रजापति प्रजनन का देवता है। रेतस् के माध्यम से वह शरीर-यज्ञ का निर्माण, उसका स्थायित्व व संचालन किया करता है। शरीर में प्राणिक, मानसिक व आध्यात्मिक आदि सभी उत्पत्तियाँ इसी रेतस् के द्वारा होती हैं। यह रेतस् ही सोम है और शरीराभ्यन्तर्वर्ती सभी देवों का यह अन्न है। प्रजापति द्वारा जो यज्ञ निष्पन्न किया जा रहा है वह ब्रह्मसदन अर्थात् मस्तिष्क में हो रहा है, अतः मस्तिष्क में विद्यमान सभी देवों को इसकी आहुति पहुँच रही है। क्योंकि यह यज्ञ मस्तिष्क में चालू है अतः शरीर के निचले उदर, शिश्न आदि अंगों को रेतस् की आहुति नहीं मिल रही है। इन निचले अंगों का अधिपति रुद्र है। एक प्रकार से रुद्र को इस ब्रह्मसदन में चल रहे यज्ञ से वहिष्कृत किया हुआ है। इससे क्रुद्ध हो रुद्र ने यज्ञ को बाण से बींध दिया। यज्ञ के जिस भाग पर रुद्र का बाण चुभा वह देवों की दृष्टि में छेद्य 'काटने योग्य' हो गया। अतः रुद्र बाण से विद्ध यज्ञ के उस सूक्ष्म भाग को निकाल बाहिर किया और यज्ञ का यही छेद्य भाग प्राशित्र कहलाया। बाह्य कर्मकाण्ड के समय बृहस्पति-रूप ब्रह्मा को जो यवमात्र पिप्पल फलमात्र चरू भक्षण के लिये दिया जाता है वह भी प्राशित्र कहलाता है। यह प्राशित्र रुद्र-बाण से विद्ध रेतस् का प्रतिनिधि है या प्रतीक है। क्योंकि इस चरू के भक्षण से आन्तरिक वासनाजनित रेतस् शान्त हो जाता है इसलिये शान्त करने के कारण इस चरु को भी प्राशित्र कह देते हैं। इस प्राशित्र के भक्षण से बृहस्पति= ब्राह्मण में जो स्वल्पमात्रा में वासना होती है, वह शान्त हो जाती है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि रेतस्-रूपी प्राशित्र को जब बृहस्पति भक्षण करता है तब यह शान्त होता है। इससे पूर्व भक्षण करने वालों में यह वासना भड़काता है। बृहस्पति मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान का अधिपति है। वह जब शान्त हो जाता है अर्थात् मस्तिष्क को वासनाजनित विकार आक्रान्त नहीं करते तब अन्य शरीर-अङ्ग भी शान्त हो जाते हैं। इसीलिये कहा कि **"बृहस्पतिप्रशमनादर्वाक् शान्तम्"** बृहस्पति के शान्त होने पर नीचे के अंग भी शान्त हो जाते हैं। मीमांसा-कोष में आता है कि यह प्राशित्र का भक्षण गृहस्थी को नहीं करना चाहिये। **"प्राशित्रा-दिभक्षणं गृहमेधीये नास्ति"** क्योंकि यदि गृहस्थी की सर्वप्रकार की कामना व वासना शान्त हो जाये तो गृहस्थाश्रम चले कैसे? इसी दृष्टि से गृहस्थी के लिये प्राशित्र-भक्षण मना किया है। यह प्राशित्र बृहस्पति भग तथा पूषा को भक्षण के लिये दिया गया। इन सबकी विस्तृत व्याख्या 'बृहस्पति देवता' ग्रन्थ के प्राशित्र-प्रकरण में की जा चुकी है।

इस प्राशित्र का प्राशन शतपथ-ब्राह्मण में जिन देवों के लिये बताया गया है इनके अतिरिक्त भी अन्य कइयों को इसके प्राशन का निर्देश गोपथ-ब्राह्मण में मिलता है। जोकि इस प्रकार है—**"तदिध्मायांगिरसाय पर्यहरंस्तत् प्राश्नात्तस्य शिरो ऽव्यपप्तत् तं यज्ञ एवाकल्पयत् स एष इध्मः समिधो ह पुरातनः"** गो० उ०

१।२ वह रेतस्-रूपी प्राशित्र प्रदीप्त अंग-रस अर्थात् आन्तरिक प्रज्वलित प्राण को दिया गया, उसे उसने खाया तो उसका सिर गिर पड़ा। उस प्राशित्र का शरीर-यज्ञ में उपयोग किया। किसलिये ? शरीर-यज्ञ को सामर्थ्य-युक्त करने के लिये। यह इध्म शरीरान्तर्गत पुरातन समिधा है जिससे यह शरीर-यज्ञ सतत रूप में अग्नि-मय रहता है। इसका रहस्य यह है कि आंगिरस अंग-रस अंगों की प्राणिक शक्ति है। यह सतत रूप से समिद्ध व प्रदीप्त रहती है जिससे यह शरीर स्थित है, इसमें अग्नि-क्रियाएँ सतत रूप से चालू हैं। इस शरीर-समिन्धन के हेतुभूत समिधा को प्राशित्र दिया जाये तो यह पुरातन समिधा और अधिक प्रदीप्त होती है। मनुष्य में अत्यधिक प्राण-शक्ति बढ़ती जाती है। वासना भी खूब प्रवृद्ध होती है। ऐसा व्यक्ति प्रायः मस्तिष्क-शक्ति की वृद्धि के लिये प्रयत्न नहीं करता क्योंकि मस्तिष्क में वासना की आंधी सतत रूप में आती रहती है। एक प्रकार से उसका सिर गिर पड़ा यह कहा जा सकता है।

आगे कहा कि **"तद् बर्हय आंगिरसाय पर्यहरंस्तत् प्राश्नात् तस्यांगा पर्वाणि व्यस्त्रंसन्त तं यज्ञ एवाकल्पयत् तदेतत् बर्हि प्रस्तरो ह पुरातनः"** गो० उ० १।२ यह प्राशित्र-बर्हि आंगिरस को दिया गया तो उसके भक्षण से उसके अंग व पर्व आदि शिथिल हो गये, उनकी चूल ढीली हो गई। उस प्राशित्र को यज्ञ में ही लगाया। यह बर्हि व शरीराभ्यन्तर्वर्ती पुरातन प्रस्तर अर्थात् देवताओं का आसन है। **प्रस्तरः**—प्रस्तृ आच्छादनं (क्रयादि)बर्हि आसन को कहते हैं। किनका आसन ? शरीर के अन्दर भिन्न-भिन्न देवों, दिव्यशक्तियों का आसन। यहाँ अंगों व पर्वों के शिथिल होने का तात्पर्य यह है कि शरीर में सब देव-शक्तियाँ अपने आसनों पर विराजमान हो परस्पर मिलकर समन्वित रूप में शरीर-यज्ञ का संचालन करते हैं। इस रेतस्-रूपी प्राशित्र के प्राशन से होता यह है कि कोई प्राणिक शक्ति वृद्धि को प्राप्त हो जाती है तो कोई नहीं। इस प्रकार इस यज्ञ के अंग-प्रत्यंग समन्वित न रहकर असंगठित हो जाते हैं। यही यज्ञ के अंग-प्रत्यंगों का विस्रंसन अर्थात् शिथिलीकरण है।

आगे अंगिरा-गोत्रोत्पन्न बृहस्पति को यह प्राशित्र जब भक्षण के लिये दिया गया तो वह इस बात से भयभीत हुआ कि इस प्राशित्र के भक्षण से मुझे कष्ट हो जायेगा तो उसने सर्वप्रथम यह मन्त्र पढ़ा कि **"सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे"** हे प्राशित्र ! मैं तुझे सूर्य की आँख से देखता हूँ क्योंकि सूर्य की आँख किसी की हिंसा नहीं किया करती प्रत्युत वह सहायक ही होती है। फिर उसे यह भय हुआ कि यदि मैं इसे हाथ से पकड़ता हूँ तो यह मेरी हिंसा कर देगा। इसलिए बृहस्पति ने कहा **"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूतः प्रशिषा गृह्णामि०"** अर्थात् सविता देव की प्रेरणा होने पर अश्वियों की बाहुओं से तथा पूषा के हाथों से प्रेरित हुआ उसकी आज्ञा से ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार सविता

देव से प्रेरित हुआ वह बृहस्पति इस प्राशित्र को देवताओं के साथ पूषा के हाथ से ग्रहण करता है। इसके पश्चात् बृहस्पति यह करता है कि किसी पृथिवी स्थान में तिनकों को हटा चौरस स्थान पर दण्डे को गाड़ता है और मन्त्र बोलता है कि **"त्वा पृथिव्याः नाभौ सादयामीति"** हे प्राशित्र ! मैं तुझे पृथिवी की नाभि में स्थापित करता हूँ। यह बाह्य कर्मकाण्ड की विधि है क्योंकि यह रेतस्-रूपी प्राशित्र-अन्न प्रबल वासना वाला होता है। उसकी इस वासना-रूपी अग्नि को वह पृथिवी पर रखकर शान्त करता है। कहा भी है—**"पृथिवी वाऽन्नानां शमयित्री तयैवैतत् शमयाञ्चकार"** बृहस्पति को फिर भय लगा कि खाते हुए मुझे यह प्राशित्र मार देगा। तब **"अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामीति"** अर्थात् अग्नि के मुख से हे प्राशित्र मैं तुझे खाता हूँ। क्योंकि अग्नि का मुख किसी की हिंसा नहीं करता। अब फिर उसे भय हुआ कि भक्षित यह प्राशित्र मेरी हिंसा करेगा तो मन्त्र बोलता है **'इन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामि'** इन्द्र के जठर में मैं तुझे स्थापित करता हूँ। इन्द्र का जठर किसी की हिंसा नहीं किया करता। इसी प्रकार वरुण के उदर में उसे स्थापित करता है। इन्द्र का जठर हृदय है और वरुण का उदर मूत्राशय है।

उपर्युक्त प्रकरण का रहस्य यह है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्राशित्र रुद्र-बाण से विद्ध अर्थात् अंगों की वासना से विद्ध होता है। उसका प्राशन अर्थात् उसका उपयोग इन्द्रादि देवों के चिन्तन के द्वारा करना चाहिये। जिस समय वीर्याधिक्य होता है तो स्वभावतः मनुष्य में वासना भड़कती है। मस्तिष्क-सम्बन्धी कार्य अध्ययन, चिन्तन व ध्यान आदि के समय भी वासना के झोंके मन को डांवाडोल करते रहते हैं। वे मस्तिष्क-यज्ञ को बिगाड़ देते हैं। मस्तिष्क-यज्ञ बृहस्पति के माध्यम से प्रजापति कर रहा है अर्थात् मस्तिष्क में ज्ञान की उत्पत्ति अथवा दिव्य ज्ञान का आविर्भाव करता होता है पर बीच-बीच में वासना-सम्बन्धी रुद्र-बाण मस्तिष्क में जा चुभता है अतः उसको निकालने का यही उपाय है कि मन में सविता, अग्नि, इन्द्र तथा वरुण आदि देवों व दिव्य विचारों का यथावसर चिन्तन करना चाहिये। यह रेतस्-रूपी प्राशित्र शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में गति करता है, या तो वासना आदि कुत्सित विचारों द्वारा गति करता है या दिव्य विचारों द्वारा ऊर्ध्वगति करता है अतः मन में दिव्य विचार उत्पन्न कर उसे शरीर में चहुँ ओर भेजा जाये। जो व्यक्ति भग अर्थात् स्त्री-योनि व सम्भोग के विचारों में डूबे रहते हैं, वे रेतस्-रूपी प्राशित्र भग को दे रहे हैं अतः वे एक प्रकार से अन्धे हैं। जो व्यक्ति पूषा अर्थात् सदा शरीर के पोषण में लगे रहते हैं, जो आंगिरस अर्थात् प्रदीप्त प्राण-शक्ति को सीमातीत रूप में प्रज्वलित करना चाहते हैं वे मस्तिष्क-शक्ति को नहीं बढ़ाते। उनका ज्ञान-विज्ञान अधूरा रहता है। इसी भाँति अन्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ब्रह्मसदन' के अन्दर जब यज्ञ चल रहा हो तो वहाँ रुद्राग्नि द्वारा विक्षेप हो जाता है। उसको कैसे दूर किया जावे

तथा शरीर व शरीराङ्गों का समन्वित विकास हो, दिव्य ज्ञान का आविर्भाव हो; यही इस प्राशित्र का तात्पर्य है। जब मस्तिष्क का अधिपति अर्थात् देवों तथा इन्द्रियादिकों का अधिपति बृहस्पति अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवों के माध्यम से इसका भक्षण करता है तो मस्तिष्क शान्त रहता है। मस्तिष्क के शान्त होने पर अन्य सब शरीराङ्ग भी शान्त हो जाते हैं।

त्रिपुर-भेदन में रुद्र का योग

तै० सं० में आता है कि असुरों[1] की तीन पुरी थीं। पृथिवी पर लोहमयी, अन्तरिक्ष में रजतमयी, तथा द्युलोक में सुवर्णमयी। देवता असुर-सम्बन्धी इन पुरियों को जीत न सके। तब उन्होंने उपसद् से इन पर विजय प्राप्त की। इसी कारण कहते हैं कि कोई इस रहस्य को जानता हो या न जानता हो, पर रहस्य यही है कि उपसद् से ही महापुरों को जीता जाता है। इस प्रकार निश्चय कर उन्होंने बाण का निर्माण किया। अग्नि को अनीक, सोम को शल्य और रुद्र को तेजन बनाया। ऐतरेय-ब्राह्मण १।२५ के अनुसार देवों के बाण के पर्णों के स्थान में वरुण को नियुक्त किया।
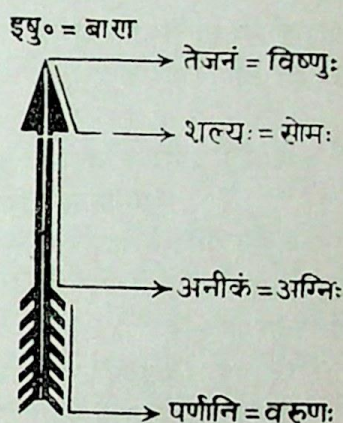
इस बाण को चित्र में हम उपर्युक्त प्रकार से प्रदर्शित कर सकते हैं। बाण के निर्माण के अनन्तर देवों ने पुनः मन्त्रणा की, कि अब इसे आसुरी पुरी पर फेंके

१. तेषामसुराणां तिस्रः पुर आसन्नयस्मय्यवमाऽथ रजताऽथ हरिणी ता देवा जेतुं नाशक्नुवन् ता उपसदैवाजिगीषन् तस्मादाहुर्यश्चैवं वेद यश्च नोपसदा वै महापुरं जयन्तीति त इषुं समस्कुर्वताग्निमनीकं सोमं शल्यं रुद्रं तेजनं तेऽब्रुवन् क इमामसिष्यतीति रुद्र इत्यब्रुवन् रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्यत्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणा अहमेव पशूनामधिपतिरसानीति तस्माद्रुद्रः पशूनामधिपतिः तां रुद्रोऽवासृजत् स तिस्रः पुरो भित्वैभ्यो लोकेभ्योऽसुरान् प्राणुदत्। तै० सं० ६।२।३

इषुं वा एतां देवाः समस्कुर्वत यदुपसदस्तस्या अग्निरनीकमासीत् सोमः शल्यो विष्णुस्तेजनं वरुणः पर्णानि तामाज्यधन्वानो व्यसृजंस्तया पुरो भिन्दन्त आयन्। —ऐ० ब्रा० १।२५

कौन ? उनके विचार में रुद्र ही इस कार्य के लिए उपयुक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि वह क्रूर है। अतः देवों ने रुद्र से बाण फैंकने के लिए प्रार्थना की। इस पर रुद्र ने यह वर मांगा कि मैं पशुओं का अधिपति बन जाऊँ। देवताओं ने उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तदनन्तर रुद्र ने वह बाण मारकर असुरों की तीनों पुरिओं का भेदन कर दिया और इन लोकों से असुरों को मार भगाया। यह कथानक का संक्षिप्त सार है। यह कथानक कुछ परिवर्तनों के साथ अन्य ग्रन्थों में भी आया है। यथा—श०प० ३।४।४।३, ऐ०ब्रा० १।२३।२५, मै०सं० ३।८।१-२, काठ० २४।१०-२५, कपि० ३८।३,४

तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त प्रकरण के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि तद्गत कई परिभाषाओं का स्पष्टीकरण हो जाये। सब परिभाषाओं का स्पष्टीकरण तो यहाँ सम्भव नहीं है। केवल उपसद् नामक परिभाषा पर हम यहाँ विचार करते हैं।

उपसद्=ग्रीवास्थ प्राण

'उपसद्' ग्रीवास्थ प्राणों को कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण १।२५ में आता है—

'आतिथ्यस्य शिरस्त्वमुपसदां ग्रीवात्वम्।'

अर्थात् आतिथ्य का स्थान सिर है और उपसदों का ग्रीवा है। प्रश्न यह है कि ग्रीवास्थ प्राणों को उपसद् क्यों कहते हैं ? इसका समाधान मैत्रायणी-संहिता में यह किया है—

'ते (देवाः) अब्रुवन् उपसीदामोपसदा वै महापुरं जयन्तीति त उपासीदंस्तदुपसदामुपसत्त्वं तानेभ्यो लोकेभ्यः प्राणुदन्त।' मै० सं० ३।८।१

वे देव बोले कि आओ हम बैठें (ग्रीवा में)। क्योंकि ग्रीवा में बैठने (उपसद्) से महापुरों पर विजय प्राप्त होती है। अतः ग्रीवा में उपसन्न होना उपसद् तत्त्व है। अब प्रश्न यह है कि गर्दन में किसने बैठना है और किसके द्वारा बैठना है ? आधुनिक भाषा में इसका समाधान यह हो सकता है कि सर्वप्रथम मन तथा प्राण के द्वारा गर्दन में बैठना चाहिये क्योंकि मन और प्राण के द्वारा बैठने से शरीर के सब देवों का बैठना हो जाता है। जिस समय मन और प्राण गर्दन में स्थित होते हैं तब इनकी संज्ञा उपसद् होती है। षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—

'उपसद्भिः शरं देवा दैत्यैर्युद्धाय प्रचक्रिरे।'

उपसद् अर्थात् ग्रीवास्थ प्राणों में स्थित होकर देवों ने दैत्यों के प्रति शर-प्रहार द्वारा युद्ध प्रारम्भ किया। सायणाचार्य ने शतपथ-ब्राह्मण के भाष्य में 'उपसीदन्' का अर्थ 'चारों ओर से घेरना' किया है। यथा—

'असुर निर्गमनप्रतिबन्धात् त्रीणि पुराण्यावृत्य न्यवसन्नित्यर्थः।'

अर्थात् देव असुरों के निर्गमन मार्ग पर प्रतिबन्ध लगाकर तथा तीनों पुरियों को चहुँ ओर से घेरकर जा बैठे। इसी प्रकार अन्यत्र एक स्थल पर लिखा है—

'उपसदनदुर्गवेष्टनेन उपेत्यावृण्वन्ति।'

अर्थात् आसुरी दुर्ग को वेष्टन कर तथा दुर्ग के समीप पहुँचकर चारों ओर से घेर लेते हैं। अब विचारणीय यह है कि तीन लोक व तीन पुरी क्या हैं? इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि ये तीन लोक व तीन पुरी ग्रीवा से ऊपर के तीनों मस्तिष्क हैं। यथा—मस्तिष्क (Cerebrum) अनुमस्तिष्क, (Cerebellum), सुषुम्णाशीर्षक (Pons, Medulla) ये शरीर के तीन लोक हैं अथवा तीनों लोकों का ये प्रतिनिधित्व करते हैं। अब उपसद्-प्रक्रिया में अपनी चेतना व प्राण को गर्दन से नीचे न ले जाकर समग्र मस्तिष्क को दिव्य भावों के वातावरण से घेर देना चाहिये। इस प्रकार यह उपसीदन् व दुर्गवेष्टन की क्रिया होगी। तदनन्तर रुद्रादि देवों द्वारा बाण-प्रहार किया जाता है। वह इस प्रकार कि सर्वप्रथम अग्नि का यजन व मेल किया जाता है। कहा भी है—

'अग्निना वै स तास्तेजसाऽभिनत् तस्मादग्निः प्रथम इज्यते यदन्यां देवतां पूर्वां यजेदवीर्यवतीः स्युः।'

अर्थात् रुद्र ने अग्नि के तेज से इन आसुरी पुरियों का भेदन किया, इसी कारण अग्नि का प्रथम यजन व संगम करना होता है। यदि अग्नि के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का प्रथम यजन होगा तो वह क्रिया वीर्यवती न होगी। इसका भाव यह है कि इन्द्रियों के अवरार्ध्य अर्थात् इन्द्रिय गोलकों और उनके सिरों (End organs) में अग्नि का निवास है और परार्ध्य में अर्थात् (Brain centres) में विष्णु है। अग्नि का प्रथम यजन किस प्रकार होगा यह हम उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ चक्षु को देखते हैं, चक्षु-गोलक में अग्नि है, अतः सर्वप्रथम समग्र मन व समग्र प्राण से गोलक में पहुँचकर दृष्टि गोलक में केन्द्रित कर वस्तु को एकटक देखें तो यह अग्नि का यजन होगा अर्थात् गोलक में स्थित अग्नि से चेतना का यजन व मेल होगा। इस प्रकार अग्नि का यजन कर मस्तिष्क की ओर ऊर्ध्वारोहण करना चाहिये। यह ऊर्ध्वारोहण अग्नि का लोकों (मस्तिष्क लोकों) की ओर अन्वारोहण है। कहा भी है—

'अग्निना वै मुखेन देवा इमांल्लोकानन्ववायन्।'

मै० सं० ३।८।१

अर्थात् अग्नि के मुख से देवों ने इन लोकों की ओर आरोहण किया। इस संहिता-वाक्य को यदि हम और अधिक स्पष्ट करें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि सर्वप्रथम इन्द्रिय गोलक में स्थित अग्नि (ज्योति) का वस्तु से योग होता है जिसे आग्नेय-याग कहते हैं। इस आग्नेय-याग के अनन्तर शनैः-शनैः मनुष्य ऊर्ध्व में केन्द्र की ओर प्रयाण करता है। ऊर्ध्व की ओर प्रयाण में मध्य भाग में नाड़ी-क्षेत्र आ जाता है। नाड़ियों में विद्यमान रस सोम है, यहाँ सोम से यजन व मेल होता है। अतः यह सोमयाग है। अन्त में, चक्षु-इन्द्रिय के केन्द्र में पहुँचने पर विष्णु आता

है क्योंकि विष्णु का स्थान परार्ध्य में है, अतः वहाँ विष्णुयाग होता है। यह सब प्रक्रिया योग-दर्शन की 'संयम' परिभाषा तथा **"बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः"** सूत्रों से व्याख्यात होती है। वरुण बाण के पर्ण हैं। वरुण द्वारा मलों, पापों आदि को दूर करते रहना चाहिये। संक्षेप में 'उपसद्' प्रक्रिया इस प्रकार होगी कि भाल, पट्ट, चक्षु, नासिका, जिह्वा आदि अग्नि-स्थानों पर अपनी चेतना को केन्द्रित करना चाहिये। शनैः-शनैः यह चेतना-प्रवाह अन्तर्मुखी हो जाता है, जहाँ अन्त में मस्तिष्क में पहुँचकर बुद्धि-केन्द्रों में प्रहार करता है और व्यापक विष्णुरूप बनता है। अब रुद्र प्रहार कर तीनों मस्तिष्कों की सीमाओं को तोड़ गिराता है। यह रुद्र व देवों द्वारा महापुरों को भेदन करने के लिए बाण-प्रहार है। परन्तु यहाँ इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि गर्दन में स्थित रहकर ही यह सब प्रक्रिया अपनानी है। ये सब साधना से सम्बन्ध रखती हैं। यह उपसद्-इष्टि है जो कि आतिथ्येष्टि के पश्चात् तीन दिनों में पूरी होती है और यह पूर्वाह्ण और अपराह्ण काल के भेद से दो प्रकार की मानी गई है और आग्नेय, सौम्य तथा विष्णु ये तीन याग मिलाकर एक उपसद्-इष्टि पूरी होती है। कहा भी है—

उपसदः पूर्वाह्णापराह्णयोरभ्यस्यमानं आग्नेयसौम्यवैष्णवयागत्रयमेका उपसत्।
—मीमांसाकोष

इस उपसद्-इष्टि की निम्न प्रकार भी व्याख्या की जा सकती है जो कि संक्षेप में इस प्रकार है—

अग्नि के प्रथम यजन का तात्पर्य यह है कि समग्र चेतना द्वारा ग्रीवा में स्थित संकल्प-बल से चेतना को ऊर्ध्व की ओर प्रेरित करना क्योंकि यह संकल्प ही अग्नि है। ऊर्जस्वती वाक्, मन में दृढ़ संकल्प ये सब अग्नि का ही रूप हैं। इन्द्रिय-विषयों को प्रवेश न करने देना, संकल्पमय विचारों का मस्तिष्क-केन्द्रों पर प्रहार यह सब रुद्र का कार्य है। दुष्ट विचार तथा भोग-विलास की इच्छाएँ आदि आसुरी शक्ति हैं। इन्हें उनके प्रति रौद्रभाव से ही रोका जा सकता है। शान्ति तथा सौम्य भाव से ये असुर वश में आने वाले नहीं हैं। इसका दूसरा भाव यह है कि इन असुरों को तीनों लोकों से बाहिर करना है। पिण्ड में मस्तिष्क द्युलोक है, यह 'हविर्धान' कहलाता है अर्थात् बाह्य जगत् से ज्ञान-रूपी हवि लेकर मस्तिष्क में रक्खी जाती है। अतः मस्तिष्क में अग्नि के माध्यम से श्रेष्ठ ज्ञान की हवि रखनी चाहिये। पापी विचारों को मस्तिष्क में प्रश्रय नहीं देना चाहिये। इसलिये कहा कि **"हविर्धानं दिव्याग्नीध्रमन्तरिक्षे सदः पृथिव्याम्०"** मै० सं० ३।८।१ हविर्धान को द्यु में रक्खे अर्थात्—दिव्यता में, ज्योति व प्रकाश में रक्खे। अन्तरिक्ष अर्थात् हृदय में आग्नीध्र—अग्नि संकल्पाग्नि को जागृत करना चाहिये तथा पृथिवी स्थानी उदर व शिश्न आदि में 'सद' वासनाओं को बैठाये रखना, इन्हें भड़कने न

देना। इस प्रकार मस्तिष्क के तीनों लोकों अथवा मस्तिष्क, हृदय व उदर, शिश्न आदि स्थानों की वासनाओं को जीतने के लिये तत्तत् स्थान में रौद्रभाव से प्रहार करते रहना पड़ता है। इसी दृष्टि से कहा कि '**अग्निना वै स तास्तेजसाभिनत्**" मै० सं० ३।८।१ अर्थात् रुद्र ने अग्नि के तेज से आसुरी पुरि का भेदन किया। ये असुर दिन में, रात्रि में, पक्ष, मास आदि में कभी भी प्रकट हो सकते हैं अतः उनको दिन आदि से निकाल बाहिर करने के लिये प्रातःकाल, सायंकाल आदि समयों में यह 'उपसद्' बैठना, ध्यान में बैठना—करते रहना चाहिये। प्रातःकाल के सन्ध्या-वन्दन व ध्यान आदि से दिन के असुर भगाये जा सकते हैं। सायंकाल के उपसद् से रात्रि, स्वप्न आदि में होने वाले असुर भगाये जा सकते हैं। 'उपसद्' का तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक इन्द्रिय के पास बैठकर वाक् अग्नि द्वारा तदिन्द्रिय-सम्बन्धी दुष्ट विचारों पर प्रहार करते रहना। इन इन्द्रियों को दुष्ट अश्व न बनने देकर सदश्व बनाना होता है। अतः उपसद्-इष्टि दो प्रकार की है।

एक उपसद्-इष्टि ग्रीवा में स्थित होकर करनी होती है। तीनों मस्तिष्कों को उद्धाटित करना उनमें निहित दिव्य ज्ञान को प्रकट करना तथा द्युलोक से आते हुए सोम को ग्रहण करना यह ग्रीवा-सम्बन्धी उपसद्-इष्टि है। दूसरी मस्तिष्क, हृदय तथा उदर व शिश्न-सम्बन्धी उपसद्-इष्टि है। इनकी सफलता सर्वप्रथम अग्नि को साधन बनाकर होती है तत्पश्चात् सोम-सौम्यता व शान्ति का अवलम्बन करना होता है और इसके बाद विष्णु का नम्बर आता है। इस प्रकार बाण के तीन भाग हैं अग्नि, सोम, तथा विष्णु। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार बाण के पीछे के पंख वरुण रूप हैं। वरुण आसुरी शक्तियों को घेरता है बाहिर निकालता है। अग्नि आसुरी पुरी की दीवारों का भेदन करती है। सोम अन्दर प्रच्छन्न रूप में निहित दिव्य धन तक पहुँचाने में सहायक होता है और विष्णु उस निधि को जा पकड़ता है। इस उपसद्-इष्टि में और भी कई बातें हैं जिन पर यहाँ विचार न कर पूर्वाह्न और अपराह्न काल में प्रयोग में आये मन्त्रों का अर्थ दर्शाते हैं—यहाँ इस बाण में प्रमुख अग्नि है, उस अग्नि को प्रदीप्त करने वाली समिधा रूप में तीन-तीन ऋचाएँ हैं जोकि निम्न प्रकार है :

पूर्वाह्न की तीन ऋचा रूपी समिधाएँ—

१. **उपसद्याय मीळहुषः आस्ये जुहुता हविः। यो नो नेदिष्ठमाप्यम्।**

ऋ० ७।१५।१, ऐ० ब्रा० १।२५

(यः) जो अग्नि (नः आप्यं) हमारा प्रापणीय तथा (नेदिष्ठं) हमारे अत्यन्त समीप है वह (उपसद्याय) उपसद्-इष्टि के योग्य हो जावे तथा (मीळहुषे) सुख की वर्षा करने वाला हो जाये इसके लिए (आस्ये) मुख में (हविः जुहुत) आहुति दो।

अब विचारणीय यह है कि हमारे अत्यन्त समीपस्थ अग्नि कौन सी है, जो मुख में हवि डालने से वृद्धि को प्राप्त होती है। मुख में दो प्रकार की अग्नियाँ

रहती हैं एक अन्न-भक्षण करने वाली और दूसरी वाक् रूप अग्नि। यहाँ त्रिपुर-भेदन में वाक् रूप अग्नि ही अधिक उपयुक्त है। यह अग्नि शत्रु-विनाश में बाण-फलक का काम करती है। शत्रु-विनाश में वाक्-प्रयोग अन्य मन्त्रों में भी आता है यथा "**पणीन् वचोभिरभियोधदिन्द्रः** ऋ० ६।३६।२ अर्थात् पणि नामक असुरों से यह इन्द्र वाणियों द्वारा युद्ध करता है।

अथर्ववेद के ब्रह्मगवी सूक्त (५।१८) में मुखस्थ वाक् को बाण तथा हृदय बल को धनुष के रूप में कल्पना कर ब्राह्मण की गौ को हथियाने वालों पर प्रहार करने का विधान हुआ है यथा—

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः॥

अथर्व ५।१८।८

अगला मन्त्र है—

२. **यः पंच चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे। कविर्गृहपतिर्युवा।**

ऋ० ७।१५।२

(यः) जो अग्नि (दमे दमे) प्रत्येक दमनकार्य में (पंच चर्षणीः अभि) दर्शाने वाली पंचज्ञानेन्द्रियों को लक्ष्य कर (निषसाद) उपसद्-इष्टि के लिये विराजमान होती है। वह (कविः) क्रान्तदर्शी है (गृहपतिः) गृहस्वामी है और (युवा) यौवन वाली है।

चर्षणी :—'कृष विलेखने' ये खोदकर बनायी गई है। या चायृ पूजानिशामनयोः निशामनं दर्शनम्।

दमे :—दमु उपशमे (दिवादि) "दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति

तै० आ० १०।६३।१

३. **स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान् पात्वंहसः।**

ऋ० ७।१५।३

(सः) वह अग्नि (नः अमात्यं) हमारे बुद्धिमान् सहायक को (वेदः) जानता है और जनाता है वह अग्नि हमारी (विश्वतः रक्षतु) सब ओर से रक्षा करे (उत) और (अस्मान्) हमारी (अंहसः पातु) पाप से रक्षा करे।

ये उपर्युक्त तीन ऋचाएँ उपसद् की पूर्वाह्ण में बोली जाती हैं ये ऋचाएँ अग्नि को प्रदीप्त करने वाली सामिधेनी मानी गई हैं। अब आगे तीन ऋचाएँ अपराह्ण के उपसद् में बोलने का विधान हुआ है जोकि निम्न है—

१. **इमां मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वनेः। इमा उषु श्रुधी गिरः।**

ऋ० २।६।१

(अग्ने) हे अग्नि! (मे) मेरी (इमां समिधं) इस ऋचा रूपी समिधा को तथा (इमां उपसदं) ग्रीवा में मेरी इस उपस्थिति को तू (वनेः) सेवन कर और (इमा

गिरः उ श्रुधी) इन स्तुति-वाणियों को सुन।

अग्नि को ऋचाओं स्तुति-वाणियों से प्रेरणा देना तथा उसकी वृद्धि के लिये मनोभावों को उद्बुद्ध करना ये उसकी वृद्धि में समिधा का काम देते हैं। इसकी सफलता उसी अवस्था में है जब कि चेतना पूर्ण रूप से ग्रीवा में केन्द्रित हो जाती है यही उपसद् है। दूसरी ऋचा निम्न है—

२. **अया ते अग्ने विधेमोर्जो नपादश्वमिष्टे। एना सूक्तेन सुजात।**

ऋ० २।६।२

(ऊर्जो नपात्) ऊर्जा को न गिरने देने वाली (एना सूक्तेन सुजात) इन उत्तम स्तुति-वचनों से उत्पन्न (अग्ने) हे अग्नि! (इष्टे) इस संगन्तव्य क्रिया-कलाप में अथवा उपसद्-इष्टि में (ते अश्वं) तेरे व्याप्तिबल को (अया) इस विधि से (विधेम) लगावें।

यहाँ अग्नि को 'ऊर्जो नपात्' ऊर्ज को न गिरने देने वाली बताया है। क्योंकि 'त्रिपुर-भेदन' में ऊर्ज की आवश्यकता होती है इसलिये अग्नि में ऊर्ज होना चाहिये। अग्नि का वाहन 'अश्व' अभिव्याप्त होने वाला तथा आगे वढ़ने वाला होता है। अगली तीसरी ऋचा इस प्रकार है।

३. **ते त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः सपर्येम सपर्यवः ;**

ऋ० २।६।३

(द्रविणोदः) दिव्य धन के दाता हे अग्ने! (सपर्यवः) परिचर्या करने वाले हम (गिर्वणसं) वाणियों से सेव्यमान (द्रविणस्युं) मस्तिष्क के दिव्य धन के इच्छुक (ते त्वा) उस तुझ को (गीर्भिः सपर्येम) स्तुतियों से सेवन करें।

इस प्रकार पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण की उपसद्-इष्टि में ये ६ मन्त्र बोले जाते हैं। मन्त्रों में भी 'उप' और 'सद्' इन पदों का प्रयोग यह दर्शाता है कि आसुरी पुरियों के भेदन के लिये उनके समीप बैठकर संकल्प-अग्नि द्वारा प्रहार करना चाहिये। यह अग्नि वाक् द्वारा प्रकट होती है। संकल्प बलवाली वाणिओं द्वारा प्रोत्साहित होकर चेतना का तीनों मस्तिष्कों में प्रवेश हो सकता है और यहाँ के केन्द्रों को उद्घाटित किया जा सकता है। इसलिये रौद्र भाव धारण की आवश्यकता है।

दशम अध्याय

पशु, पाश एवं पशुपति का विवेचन

शिवपुराण

रुद्र का एक नाम पशुपति भी है। पशुपति के पशु कौन हैं और जिन पाशों में वे पशु बद्ध हैं, वे पाश कौन से हैं ? इत्यादि बातों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम तालिका में दर्शाते हैं।
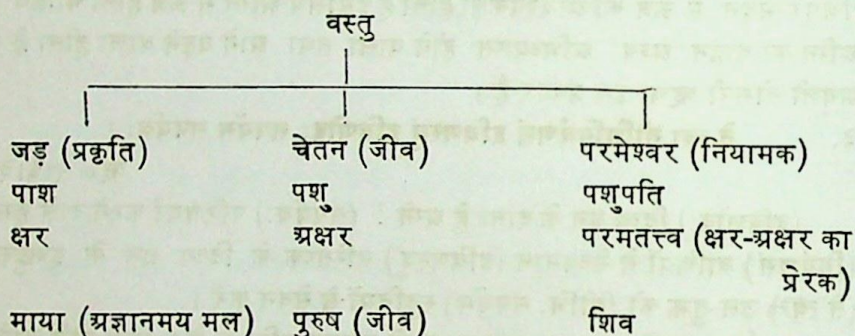
जीव पाप-पुण्य कर्म करता है और मलात्मक माया से आवृत होकर पुरुष नाम को धारण करता है। चेतन जीव को आवृत करने वाला अज्ञानमय पाश ही मल कहलाता है। उस अज्ञानमय माया के पाश से छुटकारा पाने पर जीव शिव-रूप परब्रह्म में लीन हो जाता है। प्राकृतिक भोगों को भोगने के लिये किया गया कर्म ही उसका आवरण में कारण है। मल का नाश होने से वह पाश-बन्धन टूट जाता है। विद्या, कला, राग, काल तथा नियति इन्हीं को कला आदि कहते हैं। कर्म-फल का उपभोग करने के लिये जीव प्रकृति के पाश में फंसता है। पाश-बद्ध जीव को पुरुष पशु तथा शरीर रूपी पाश में आबद्ध अन्य सभी प्राणी भी पशु हैं। कर्म—कर्म दो प्रकार के हैं पुण्यकर्म तथा पापकर्म। पुण्यकर्मों से स्वर्ग आदि सुख प्राप्त होता है पापकर्म से नरक आदि दुःख भोगना पड़ता है। फल का उपभोग कर लेने पर पापकर्म का नाश हो जाता है। यद्यपि शरीर आदि प्राकृतिक तत्त्व का चेतन से कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु अज्ञानवश जीव ने उसे अपने आप में मान रक्खा है यह प्रकृति नटी है जो जीव को नचा रही है। यह जीव शरीर रूपी खोल में प्रवेश-कर इन्द्रिय-द्वारों से भोगों को भोगता है। विद्या से ज्ञान-शक्ति को तथा कला से

क्रियाशक्ति को वह अभिव्यक्त करता है। अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, समग्र संसार इसी से उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में इसमें लीन हो जाता है। ये त्रिगुण सत्त्व, रज तथा तम नाम से प्रख्यात हैं। सत्त्व प्रकाशमय तथा सुखरूप है, रज दुःखरूप तथा क्रियाशक्ति से युक्त है। तम मोह व जड़ता का हेतु है। सात्त्विक वृत्ति वाले की ऊर्ध्वगति होती है, तामसी वृत्ति वाला अधोगति को प्राप्त होता है और राजसी वृत्ति कामनाएँ, वासनाएँ व मध्यस्थिति को सूचित करता है।

शिवपुराण में उपर्युक्त तथ्य को निम्न श्लोकों में दर्शाया है। यथा—

स पश्यति शरीरं तच्छरीरं तन्न पश्यति।
तौ पश्यति परः कश्चित्तावुभौ तं न पश्यतः॥
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः।
पशूनामेव सर्वेषां प्रोक्तमेतन्निदर्शनम्॥
स एव बध्यते पाशैः सुखदुःखाशनः पशुः।
लीलासाधनभूतो य ईश्वरस्येति सूरयः॥

शरीर रूपी पुर में अवस्थित जीव शरीर को देखता है पर शरीर इस जीव को नहीं देखता। शरीर और शरीरी इन दोनों को इनसे परे विद्यमान कोई अन्य ही देखता है परन्तु ये दोनों उसे (ईश्वर को) नहीं देखते। ब्रह्मादि देवों से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी पशु कहलाते हैं, सब पशुओं का यह निदर्शन है। माया के पाशों से बंधा यह जीव सुख-दुःखात्मक भोगों को भोगा करता है। यह पशु तो उस लीलाधर की लीला का साधन है। पिण्ड की दृष्टि से साग्नि-आत्मतत्त्व पशुपति है, प्राण पाश है, इन्द्रियाँ व स्थूल शरीर के अंगोंपांग पशु हैं। यह प्राण इन इन्द्रियों व स्थूल शरीर को परस्पर बाँधे हुए है। वस्तुतः यह समग्र प्राणिजगत् पशुकोटि में आ जाता है। इसका नियामक भगवान् पशुपति है और इस प्राणिजगत् को वह जिन साधनों से बाँधता है वे सब पाशकोटि में आ जाते हैं।

वेदों व ब्राह्मणादि वैदिक ग्रन्थों में पशु एक संज्ञा है जो कि एक विशिष्ट स्थिति में ईश्वर, जीव, प्रकृति व प्राकृतिक तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हुई है। सृष्टि-यज्ञ के समय यह परमपुरुष नारायण भगवान् भी पशु बना है। यथा—

सप्तास्यासन् परिधयः त्रिः सप्तसमिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ ऋ० १०।९०।१५

अर्थात् देवों, ब्रह्माण्डगत शक्तियों ने जब सृष्टि-यज्ञ का विस्तार किया तो उसकी परिधियाँ सात थीं और २१ समिधाएँ थीं और उनमें घृतादि यज्ञ-सामग्री के लिए पुरुष-पशु को बाँधा।

यहाँ पुरुष-पशु परमपुरुष नारायण भगवान् हैं क्योंकि वे सर्वहुत बने हैं। निराकार परब्रह्म की आहुति क्या हो सकती है? अतः ये पुर में स्थित प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं जिन्हें कि आहुति रूप में डाला गया है। एक स्थिति में निराकार परब्रह्म भी पशु

हैं जिनको परम ऋषि योगीजन भक्षण किया करते हैं अन्न पशु है (अन्नं पशवः)। श० प० ६।२।१।५) परम पुरुष भगवान् भी अन्न है कहा गया है—

'अहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादः।'

अतः इस अवस्था में परम पुरुष भगवान् भी पशु ही है। अथर्ववेद २०।८७।६ में आता है कि—**"तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य"** हे इन्द्र! जो तू सर्वत्र प्रसृत विश्व को सूर्य की चक्षु से देखता है। यह तेरा पशु-भाव है इसी दृष्टि से **'पश्यतीति पशुः'** कहा जाता है। स्वामी दयानन्द ने यजु० ३।५७ में लिखा है—**"यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः सः"** जो भोग्यपदार्थ-समूह सामने स्थित हुआ दृष्टिगोचर होता है वह सब पशु है। दूसरे स्थान पर **"दृश्यः द्रष्टव्यः"** यजुः २३।१७ दृश्यमात्र को पशु माना है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में जिनको पशुरूप में माना है उनमें कुछ इस प्रकार हैं—अग्नि, सविता, दैव्यविश, श्री, यश, शान्ति, इन्द्रियवीर्य (रस), वसु, रयि, पुष्टि, शिपि, मरुत्, मेघ, वाज, अन्न, इडा, प्राण, गृह, छन्द, आत्मा, यजमान, वज्र, ग्रावा, बृहद्रथन्तरादि सब साम स्वर, यज्ञ, बर्हि, छन्दोमाः बालखिल्य, स्रुचा में जो घृत-शेष रह जाये, गवादि पशु-पक्षी आदि इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में जड़-चेतन रूप समग्र जगत् को पशु रूप में दर्शाया है। इनके पशुत्व का स्पष्टीकरण करना अति दुष्कर है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों में पशु शब्द आने मात्र से सामान्य गौः, सिंहादि पशु का ही ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। प्रकरण के आधार पर यह निश्चय करना होगा कि किस पशु का यहाँ प्रमुख रूप से वर्णन है।

पशुओं का अधिपति रुद्र

शास्त्रों में रुद्र को पशुओं का अधिपति माना गया है। अथर्ववेद का एक मन्त्र है— **चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।**
तवेमे पंचपशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥

अथर्व ११।२।९

हे पशुपते! तुझ भव रूप के लिए चार, आठ तथा दश बार नमस्ते है। गौ, अश्व, पुरुष, अज और अवि पाँच भागों में विभक्त ये पशु तेरे ही हैं।

श० प० ६।२।१।१५ में कहा है कि **"पुरुषोऽश्वो गौरविरजो भवन्ति एतावन्तो वै सर्वे पशवः"** अर्थात् पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज ये पाँच पशु हैं अन्य सब पशु इन्हीं पाँचों में समाविष्ट हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि आकृति से पशु का निर्णय नहीं होता। ये ५ सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। सभी प्रकार का पशुत्व इन पाँचों में ढूंढना चाहिये। पशुओं को पशु क्यों कहा जाता है इस सम्बन्ध में श० प० ६।२।१।१-२ में कथानक रूप में दर्शाया गया है कि कुमार अग्नि रूपों में प्रविष्ट हुआ था प्रजापति ने अग्नि रूपों का चिन्तन किया और कुमार के दर्शन की इच्छा

की तो अग्नि-रूप कुमार ने सोचा मेरा पिता प्रजापति मुझे देखना चाहता है तो मैं ऐसा रूप धारण करूँ जिससे वह मुझे न जान सके। इस पर उस कुमार ने ये पाँच पशु देखे—**"स एतान् पञ्च पशूनपश्यत् पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत् एते पशवः।"** क्योंकि इन उपरोक्त पुरुष आदि पाँचों पशुओं को देखा **'यदपश्यत् तस्मात् पशवः'** इस देखने से ये पशु कहलाये। कुमाराग्नि ने इन्हें देखा इसलिए ये पशु कहलाये, इससे पशुत्व का स्पष्टीकरण नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण यह प्रतीत होता है कि कुमाराग्नि, बालरूप है, असंस्कृत है, केवल मात्र अन्न-भक्षण ही इसका कार्य है अतः जब तक इन पुरुष आदि पाँचों पशुओं में कुमाराग्नि का प्राबल्य रहता है तब तक ये पशु हैं परन्तु जब इन पाँचों का आलम्भन संस्कार से इनमें देवत्व की उत्पत्ति हो जाती है तब ये केवल मात्र कुमाराग्नि के आधिपत्य में नहीं रहते। इन पाँचों के देवता निम्न हैं—

"इमानेवात्मानमभिसंस्करवा इतितन्नाना देवताभ्य आलिप्सत
वैश्वकर्मणं पुरुषं वारुणमश्वमैन्द्रमृषमं त्वाष्ट्रमविमाग्नेयमजम्"

श० प० ६।२।१।५

इनमें रहते हुए अग्नि ने अपना संस्कार किया। वह इस प्रकार कि पुरुष को विश्वकर्मा देवता, अश्व को वरुण, ऋषभ (गौ) को इन्द्र, अविको त्वष्टा तथा अज को अग्नि देवता—इस प्रकार इनमें विद्यमान अग्नि ने देवताओं द्वारा अपना संस्कार कराया। पंच पशुओं में विश्वकर्मा, वरुण आदि देवताओं के आधार पर पशुत्व के पाँच विभाग किये गये हैं।

पशूपाकरण विधि में रुद्र

शास्त्रों में कर्मकाण्ड का बड़ा विस्तार है। प्रायः सभी मन्त्रों को शास्त्रकारों ने कर्मकाण्डपरक लगाया है। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी अनेक विधियाँ हैं उनमें एक पशूपाकरण विधि भी है। संक्षेप में इस विधि के स्वरूप पर विचार करते हैं। काठ० सं० ३०।१० तै०सं० ३।१।५ में आता है कि जो पशु पैदा हो चुके हैं और जो भविष्य में पैदा होंगे वे सब प्रजापति के हैं और रुद्र उनका अधिपति है **"प्राजापत्या वै पशवस्तेषां रुद्रोऽधिपतिः"** तै० सं० ३।१।५ अतः सब पशु प्रजापति तथा रुद्र दोनों के माने जाते हैं। जो व्यक्ति इनका आलम्भन (उपाकरण, हिंसा, मारण) करना चाहता है उसे प्रजापति तथा रुद्र दोनों से याचना कर स्वीकृति लेनी चाहिये बिना याचना किये और बिना स्वीकृति के जो इन पशुओं का उपाकरण करेगा उसकी ऋद्धि अर्थात् उन्नति न होगी। अतः पशु के उपाकरण से पूर्व इन दोनों से अनुमति लेनी आवश्यक है। कहा भी है—**"ताभ्यामेवैनं प्रतिप्रोच्याऽऽलभते।** तै० सं० **तेनानुमतेन**—काठ० सं० इनकी अनुमति लेने पर जो पशु का आलम्भन करता है वह ऋद्धि को प्राप्त करता है। अतः आलम्भन में यह पशु मृत्यु के लिए ले जाया

जाता है। तै० स० में कहा है—**'मृत्यवे वा एष नीयते यत् पशु०'**। काठ० सं० इस सम्बन्ध में कुछ और कहती है वहाँ आता है—**"जीवन् पशुस्स्वर्गं लोकं गमयितव्य इत्याहुर्न मृतः स्वर्गं लोकं गन्तुमर्हति०"** अर्थात् ऋद्धि चाहने वाले यजमान को चाहिये कि वह जीवित पशु को स्वर्ग में पहुँचावे क्योंकि मृत-पशु स्वर्ग में जाने में असमर्थ है।

अब इसमें कई बातें विचारणीय हैं। पशु कौन है? प्रजापति और रुद्र इन दोनों के पशुओं के अधिपतित्व से क्या तात्पर्य है? पश्वालम्भन के लिये इनसे याचना व अनुमति लेने का क्या रहस्य है? पशु का उपाकरण, आलम्भन, मारना, स्वर्ग में पहुँचाना आदि अनेक विवादास्पद विषय हैं जो एक विशद विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। पर यहाँ रुद्र देवता के प्रकरण में इनका विशद रूप में स्पष्टीकरण अप्रासंगिक होगा अतः केवल संक्षेप में अपना मन्तव्य ही यहाँ प्रस्तुत करते हैं। समग्र संसार को उत्पन्न करने वाला प्रजापति है और उसका संहार करने वाला रुद्र है, अतः प्रजापति और रुद्र इन दोनों का इस ब्रह्माण्ड में आधिपत्य है। इस व्यापक क्षेत्र में भी पशूपाकरण विधि की व्याख्या की जा सकती है। पर हम पिण्ड में इसके रहस्य को स्पष्ट करते हैं। मानव आदि प्राणियों के शरीर व अंगोपांग पशु हैं। शिश्न में प्रजापति का निवास है और उदर में रुद्राग्नि रहती है। शरीर व तदन्तर्गत अंगों में से पशुभाव को पृथक् करके (उपाकरण) उसका आलम्भन व हनन कर उस अंग को दिव्य बनाना ही उस पशु को स्वर्ग में पहुँचाना होता है। इस दिव्यीकरण में प्रजापति (शिश्न में) तथा रुद्र (उदराग्नि में) बाधा न डाले यही इन दोनों से याचना व अनुमति का तात्पर्य है। काठक संहिता के आधार पर 'जीवित पशु ही स्वर्ग में पहुँचे' इसका रहस्य यह है अंगों की अपनी शक्ति तथा प्राणों का हनन न कर उन शक्तियों का दिव्यीकरण करना सही स्थिति है। अंगों की शक्ति को कुण्ठित कर देना व मार देना सही मार्ग नहीं है। अतः अंगों में से पशुत्व को समाप्त कर उनके दिव्यीकरण की प्रक्रिया व पद्धति क्या थी यह प्राचीनकाल में गुरु-शिष्य-परम्परा में ही सुरक्षित थी जोकि अब से बहुत पूर्व ही विलुप्त हो चुकी थी। अथवा कुछ-कुछ कल्पना यह भी हो सकती है कि पशु रूप बालक के भिन्न-भिन्न अंगों में विद्यमान दिव्य शक्तियाँ जो दूषित अन्न-भक्षण से उत्पन्न चर्बी से दबी पड़ी हैं, उन शक्तियों को उद्बुद्ध करने के लिये उस चर्बी को उखेड़ना (वपोत्खेदन)। यह एक प्रकार का डाक्टरी ऑपरेशन-सा है जोकि प्राचीन काल में प्रचलित था। इस विषय का विस्तार अन्यत्र किया जायेगा।

अश्व रुद्रगणों का स्वामी—श० प० ६।३।२।७, मै० सं० ३।१।३

यजु० ११।१५ में अश्व को रुद्र देवता का गणस्वामी बताया गया है। हम यहाँ अश्व पर विशेष विचार न कर सांकेतिक रूप में अश्व क्या है यह दर्शाकर

उसके रुद्र-गणों के स्वामित्व को दर्शाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यह प्रकरण चयन-निरूपण में आता है। बाह्य ब्रह्माण्ड में यह अश्व आदित्य है तथा पिण्ड में मस्तिष्क है। आदित्य की अश्व संज्ञा उस समय होती है जब वह अपनी रश्मियों द्वारा ब्रह्माण्ड में अभिव्याप्त होता हुआ प्रजापालन तथा व्याधिजनक कृमि-कीटों और अन्य अरातियों का विनाश करता है। पिण्ड में यह मस्तिष्क अपनी प्राण-शक्ति द्वारा शरीर के सब अंगोपांगों को जो कि वैदिक भाषा में पशु कहे जाते हैं दिव्य बनाता है, उन पर आये आवरणों को विनष्ट करता है। शरीर के ये सब पशु रुद्राग्नि के अधीन हैं। इन अंगों के क्रियाकलाप, वासनाएँ, कामनाएँ आदि जबतक विनष्ट नहीं होतीं तबतक इन्हें दिव्यशक्ति-सम्पन्न नहीं बनाया जा सकता। अतः सर्वप्रथम रुद्र से याचना करनी पड़ती है कि अमुक पशु को दिव्य बनाने की वह स्वीकृति दे दे। रुद्राग्नि की स्वीकृति मिलने पर यह होता है कि उस-उस पशु में से वासनाएँ व कामनाएँ आदि उपाय व साधना द्वारा शान्त हो जाती हैं। यहाँ मन्त्र में सर्वप्रथम मस्तिष्क रूपी अश्व-पशु की याचना की गई है क्योंकि इस मस्तिष्क रूपी अश्व को अन्य ऐन्द्रियिक पशु-गणों का स्वामी बनाया जायेगा। एक तो मस्तिष्कस्थ प्राण के दिव्यीकरण में जो बाधाएँ व अराति होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं दूसरे रुद्र मन्युरूप है, वह मन्यु मस्तिष्क में संक्रान्त हो जाता है। इससे वह पापादि शत्रुओं के समक्ष झुकता नहीं और उन्हें नष्ट कर देता है। अब इस परिप्रेक्ष्य में मन्त्रार्थ को दर्शाते हैं—मन्त्र का पूर्वार्ध कर्मकाण्ड की दृष्टि से अश्व से सम्बन्ध रखता है तो उत्तरार्ध रासभ अर्थात् गर्दभ से। यहाँ हम मन्त्र के पूर्वार्ध का ही स्पष्टीकरण करते हैं। मन्त्र का पूर्वार्ध इस प्रकार है—

'प्र तूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि।'

इस उपरोक्त मन्त्र के सम्बन्ध में श० प० ६।३।२।७ में आता है कि वह अश्व को उत्क्रमण कराता है और कहता है कि 'हे अश्व ! तू शीघ्र ही पाप (अशस्तिः) का अतिक्रमण कर और रुद्र के पशुगणों का स्वामी बन और हमें सुख प्रदान करने के लिये हमारी ओर आ। कहा भी है—**"पाप्मा वा अशस्तिः...... रौद्रा वै पशवो या ते देवता तस्यै गाणपत्यं मयोभूरेहीति !** अशस्ति पाप को कहते हैं यह अश्व पाप का अतिक्रमण करने वाला हो। अश्व मस्तिष्क है अर्थात् मस्तिष्क में कभी भी पाप-विचार न पैदा हों यही यहाँ दर्शाया गया है।

मै० सं० ३।१।३ में उपरोक्त मन्त्र का तात्पर्य निम्न प्रकार से दर्शाया है वहाँ आता है **"वज्री वा एष प्राजापत्यो यदश्वः"** यह अश्व प्रजापति देवता वाला है, वज्रधारी है अर्थात् वज्र-प्रहार से शत्रुओं का संहार करता है। रुद्र अग्नि है, शरीर के ये सब अंगोपांग रूपी पशु इस रुद्राग्नि के हैं। अब मस्तिष्क को इन पशुओं का अधिपति बनाना है जिससे उन पशु-अंगों में अग्नि का चयन किया जा सके। इसके लिये रुद्र से उस पशु की याचना करनी होती है अर्थात् उन अंगों में जो स्वाभाविक

रूप में अपनी वासनाएँ व कामनाएँ हैं उनको रुद्र की कृपा से शान्त किया जाता है जिससे उनका दिव्यीकरण हो सके। यही रुद्र से याचना व स्वीकृति का तात्पर्य है।

"प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्तीरिति वज्रे ण वा एतदशस्तीररातीयन्तमवक्रामति। रौद्रा वै पशवोऽग्नी रुद्रो यद् रुद्रात् पशूननिर्याच्याग्निं चिन्वीत रुद्रोऽस्य पशूनभिमानुकः स्यात्। यदाह रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहीति। रुद्राद्वा एतत् पशून् निर्याच्याग्निं चिनुते।

अब मन्त्र का सामान्य अर्थ यह है—हे अश्व! (तू प्रतूर्वन्) पापादि शत्रुओं को प्रकृष्ट रूप में हिंसित करते हुए (ऐहि) आ और (अशस्तीः) अरातियों को (अवक्रामन्) नीचा करता हुआ (मयोभूः) हमें सुख व शान्ति देने वाला होकर (रुद्रस्य) रुद्र देव के (गाणपत्यं) पशु-संघों के स्वामित्व को (एहि) प्राप्त हो।

अग्न्याधान में सर्वप्रथम परस्पर मिश्रित अग्नियों को पृथक् करना

काठ० सं० ८।६ में आता है कि मानव-शरीर में अग्नियों का ताना-वाना परस्पर मिला रहता है। प्रमुख रूप से ये तीन अग्नियाँ हैं—

१. ओदन पचन— पृथिवी—उदर
२. गार्हपत्य— अन्तरिक्ष—हृदय
३. आहवनीय— द्यौ—मस्तिष्क

शास्त्रकार कहते हैं कि जब अग्नि का आधान करना हो तो इन तीनों अग्नियों को यथायोनि पृथक्-पृथक् कर तब अग्न्याधान करना चाहिये। यदि इन्हें पृथक्-पृथक् न कर अग्न्याधान करेगा तो पाप से आक्रान्त रहेगा और रुद्र इन्द्रिय-पशुओं का घातक हो जायेगा। इस तथ्य को आधुनिक भाषा में इस प्रकार समझ सकते हैं, यदि द्यु अर्थात् मस्तिष्क में अग्न्याधान करना हो तो मस्तिष्क को उदर तथा नीचे की वासनाओं से आक्रान्त न होने दे। प्रथम प्रयत्न यही होना चाहिये कि ये तीनों अग्नियाँ पृथक् रहें। द्यु में महान् अग्नि है तथा भूमि में भूमा अग्नि है। उपरोक्त तथ्य को शास्त्र में निम्न शब्दों में कहा है—**"सहवा इमा अग्नेस्तन्व इयमोदनपचनो वाऽन्तरिक्षं गार्हपत्यो द्यौराहवनीयो यो वा अस्यैता अव्याकृत्वाधत्ते न पाप्मना व्यावर्तते घातकोऽस्य रुद्रः पशून् भवति……यथा योनिप्रतिष्ठाप्याधत्ते…द्यौर्महासीति महानग्निमाधाय भवति भूमिर्भूम्नेति श्वः श्वो भूयान् भवति"** काठ० सं० ८।६ द्यु अर्थात् मस्तिष्क की अग्नि मनुष्य में ज्ञान-विज्ञान आदि क्षेत्रों में तथा अध्यात्म में महानता पैदा करती है। भूमि अर्थात् उदर व शिश्न की अग्नियों से भौतिक वृद्धि तथा प्रजा आदि में वहुतायत होती है।

रुद्राग्नि को पशुओं का सम्प्रिय बनाओ

यह रुद्राग्नि प्रारम्भ में इन्द्रिय आदि पशुओं को प्रिय नहीं होती सब इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक वासनाजनित क्रियाकलाप में ही संलग्न रहना चाहती हैं पर जब उन्हें रौद्र रूप धारण कर सधाया जाता है तब उन्हें अच्छा नहीं लगता। यह रुद्राग्नि उन्हें प्रिय नहीं होती। परन्तु इस रुद्राग्नि को उनका सम्प्रिय बनाना है तो उसी सम्बन्ध में मै० सं० १।६।६ का प्रकरण दर्शाते हैं। **"विप्रियो वा एष पशुभिराधीयते एष हि रुद्रो यदग्निः"** इस अग्नि का जब आधान किया जाता है तब यह रौद्राग्नि पशु इन्द्रियों की विप्रिय होती है अर्थात् प्यारी नहीं होती। अब इसे सम्प्रिय बनाना है वहाँ आता है—**"घर्मः शिरस्तदयमग्निः सम्प्रियः पशुभिर्भव पुरीषमसीति तदेनं सम्प्रियं पशुभिः पुरीषिणमकर्यत् ते शुक्रशुक्रं ज्योतिस्तेन रुचा रुचमशीथा।"**

घर्मयुक्त शिर अर्थात् शुद्ध ज्योतिर्मय यह सिर जब इन्द्रिय-पशुओं का पोषक बनता है तब यह अग्नि सम्प्रिय बनती है। इसकी रुक् अर्थात् दीप्ति से ये भी प्रदीप्त हो जाती हैं। यह अग्नि जब पुरीष—पालन-पोषण करने वाली बनती है और इसकी ज्योति शुक्र शुद्ध पवित्र होती है तब यह सम्प्रिय बन जाती है। और इसका रौद्र रूप शत्रुओं व विजातीय तत्त्वों के प्रति होता है।

अग्नि सम्प्रिय कैसे बनती है यह बाह्य यज्ञ में अग्न्याधान से दर्शाया है। इस सम्बन्ध में मैत्रायणी संहिता में एक मन्त्र आता है। मन्त्र है—

ये अग्नयो दिवो ये पृथिव्याः समागच्छन्तीषमूर्जं वसानाः।
ते अस्मा अग्नये द्रविणं दत्त्वेष्टाः प्रीता आहुतिभाजो भूत्वा
यथालोकं पुनरस्तं परेत। मै० सं० १।६।४४

जो द्युलोक की अग्नियाँ हैं और पृथिवी की अग्नियाँ हैं वे इष और ऊर्ज को धारण किये हुए परस्पर समागम करती हैं तो इस यज्ञकुण्ड की अग्नि को द्रविण देकर इष्ट, प्रीतियुक्त तथा यजमान द्वारा प्रदत्त आहुति को धारण किये हुए जिस लोक से आयी थीं उसी को चली जाती हैं। अग्नियों के समागम से जो इष (अन्न) तथा ऊर्ज (बल) रूपी द्रविण इस भौतिक अग्नि को तथा आन्तरिक अग्नि को प्राप्त होता है इससे यह हमारी आन्तरिक अग्नि रुद्र होते हुए भी इन्द्रियों को पालन-पोषण करने वाली (पुरीषमसि) होने से सम्प्रिय बन जाती है।

इन्द्रिय रूपी पशुओं में विद्यमान अग्नि दो रूपों व अवस्थाओं में रुद्र बनती है एक तो वासनाओं के प्राबल्य में दूसरे इन्द्रियों में से वासना को हटाने में। इन्द्रियों में से वासना को दूर करने में जो अग्नि संलग्न है वह इन्द्रियों की प्रिय नहीं होती। वासना को नष्ट करने में अग्नि को रुद्र बनना पड़ता है। जब इन्द्रियों से वासना समाप्त होकर दिव्यता का आविर्भाव हो जाता है तब वही रुद्राग्नि उन्हें प्रिय हो जाती है।

अग्नि का आधान किस स्थान पर ?

अग्नि का आधान किस स्थान पर करना चाहिये ? इसे बताने के लिये एक मन्त्र है। वह इस प्रकार है—

इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि ।
जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे ।।

मै० सं० १।६।४६, यजु० ३४।१५

हे जातवेद अग्ने ! हव्य का वहन करने के लिये हम तुझे इडा के पद में तथा पृथिवी की नाभि में स्थापित करते हैं। बाह्य कर्मकाण्ड में तो अग्नि का आधान हवनकुण्ड में किया जाता है। आन्तरिक क्षेत्र में वह स्थान कौन-सा है—यह दर्शाते हैं।

इडा नाडी है इसे सोम नाड़ी कहते हैं यह सुषुम्णा के वाम पार्श्व से होती हुई भ्रूमध्य में जाकर इसका अन्तिम पद होता है। अतः अग्नि का आधान एक तो भ्रूमध्य में दूसरा पृथिवी की नाभि-प्रदेश में। इस दृष्टि से नाभि से लेकर भ्रूमध्य तक का प्रदेश अग्नि के आधान का प्रदेश है। 'सन्ध्या' में भी मन और मस्तिष्क की सन्धि करनी होती है। अतः इस अग्नि का धाम नाभि से लेकर भ्रूमध्य तक का होता है। आगे कहा कि **"एर्तहि खलु वा एष सृज्यते यर्ह्याधीयते तद्यथैतस्मात् सृष्टात् पशवः प्रापतन्नेवमस्मादाहितात् पशवः प्रपतन्त्येष हि रुद्रोयदग्निः"।**

अग्नि का जब आधान किया जाता है तो यह अग्नि पैदा हुई, ऐसा समझा जाता है। उस समय इन्द्रियों को बाह्य विषयों में न जाने देकर अन्तर्मुखी बनाना चाहिये। परन्तु इन्द्रियाँ अपनी प्रकृति के अनुसार बाह्य विषयों की ओर भाग खड़ी होती हैं क्योंकि यह अग्नि उनके लिये रुद्र है। रुद्र के भय से बाहिर भागती हैं तो फिर क्या करना चाहिये इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं कि 'वारवन्तीय साम' द्वारा इन्हें रोकना चाहिये। कहा भी है—**"वारवन्तीयं गायते पशूनेव वारयते"** अर्थात् वारवन्तीय सामगान द्वारा गायक इन्द्रिय-पशुओं को बाह्य विषयों की ओर जाने से रोकता है।

आदित्यग्रह में रुद्र

तै० सं० १।४।२२ में आदित्य-सम्बन्धी **"कदाचन स्तरीरसि०** आदि तीन मन्त्र हैं जिनकी व्याख्या तै० सं० ६।५।६ में की गई है। उस व्याख्या का आधुनिक भाषा में पूर्ण स्पष्टीकरण तो कठिन है पर कुछ-कुछ दिशा-निर्देशन यहाँ किये देते हैं। वहाँ आता है कि "अदिति (प्रकृति) पुत्र की कामना वाली हुई तो साध्य नामक देवों ने ब्रह्मौदन का परिपाक किया और उस अदिति को ब्रह्मौदन का (उच्छेषण)=हुतशेष खाने को दे दिया। इससे वह गर्भवती हुई और यथा समय उसके पुत्र रूप में चार आदित्य उत्पन्न हुए। इन चार आदित्य नामक पुत्रों के होने

पर भी उसकी काम-पिपासा शान्त नहीं हुई। द्वितीयवार उसने पुनः उस ब्रह्मौदन का प्राशन किया पर इस बार उसका गर्भ रूप अण्डा ऋद्धिरहित अर्थात् असफल रहा। अतः उसने आदित्यों से ही तृतीय बार ब्रह्मौदन रूपी रेतस् का प्राशन किया तो उससे विवस्वान् नामक आदित्य की उत्पत्ति हुई। इसी विवस्वान् आदित्य से मनुष्य उत्पन्न हुए। आदित्यों ने अदिति से यह वर मांगा कि विवस्वान् आदित्य एक तो हमारी श्रेणी में गिना जाये, दूसरे इस विवस्वान् से उत्पन्न मानवी प्रजा में जो यज्ञ करने वाला हो वही समृद्धिशाली हो, क्योंकि याज्ञिक हवि हम देवों के भोग के लिये होती है। इसलिये मनुष्यों में जो यज्ञ करने वाला होगा उसको समृद्धिशाली बनाना हमारा काम है। परन्तु आदित्य देवों ने जो सृष्टि-यज्ञ रचा उसमें रुद्र को सम्मिलित नहीं किया इससे कुपित हो रुद्र ने आदित्यों के पास पहुँच उन्हें पीड़ित किया। इससे भयभीत हो वे आदित्य इन्द्रवायू आदि द्विदेवत्यों में जा प्रविष्ट हुए। ये द्विदेवत्य देवों के ग्रहण करने से ग्रह कहलाये। रुद्र ने उन ग्रह नामक देवों से आदित्यों को माँगा पर द्विदेवत्यों ने आदित्यों को रुद्र को नहीं सौंपा। लोक में भी यह देखा जाता है कि शरणागत चाहे वध्य भी हो उसे उसके शत्रु को नहीं सौंपते। ये आदित्य उच्छेषण अर्थात् उच्छिष्ट से पैदा होते हैं और द्युलोक में इनका निवास है। कहा भी है—

"उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः" अथर्व—११।७।२४-२७

इन देवों को द्विदेवत्य ग्रहण करते हैं ब्रह्माण्ड में इन्द्रवायू, इन्द्राग्नी, मित्रा-वरुणौ आदि का सम्मिलित रूप हो सकता है। इनका क्या स्वरूप है यह हमें स्पष्ट नहीं पर शरीर में विवस्वान् आदित्य का स्थान मस्तिष्क है। यह आदित्य अपनी रश्मियों द्वारा दो आँख, दो कान तथा दो नासिकादि द्विदेवत्यों में प्रवेश करता है। द्विदेवत्य प्राण मस्तिष्क के केन्द्र (Brain centers) माने जाते हैं जब तक यह आदित्य मस्तिष्क-केन्द्रों में रहता है तब तक रुद्र की संहार-शक्ति कार्य नहीं करती पर जब यह आदित्य इन्द्रिय-गोलकों में जाता है तब रुद्र के आक्रमण से आक्रान्त हो सकता है और होता भी है। इन्द्रिय-गोलकों में आया हुआ आदित्य पशु है। **"पशवो वा एते यदादित्यः परिश्रित्य गृह्णाति प्रतिरुध्यैवास्मै पशून् गृह्णाति"** यह आदित्य ही ऐन्द्रियिक पशु बनता है क्योंकि यह विषयों को ग्रहण करता है, विषयों का ग्रहण करना ही पशु-भाव है। परन्तु इन पशुओं को खुली छूट नहीं देनी चाहिये। इसलिये कहा कि **'परिश्रित्य ग्रहणाति प्रतिरुध्यैव गृह्णाति'** अर्थात् इन इन्द्रियों की बागडोर खैंचे रखनी चाहिये। यह आदित्य सोमपान से वृद्धि को प्राप्त करता है। शिर में जो चार द्रवकूप हैं वे सोमरस से भरे हुए हैं। यह द्रवकूप सोमरस का तृतीय सवन है। प्रथम सवन उदर है, द्वितीय सवन हृदय है जहाँ कि वह रक्त में मिला हुआ पवित्र होता रहता है वहाँ से वह मस्तिष्क में तीसरी बार सवन होता है। यह सवन उपांशु अर्थात् मौन रूप में होता रहता

है कहा भी है—**"एष वै विवस्वानादित्यो यदुपांशु सवनः स एतमेव सोमपीथं परिशय आ तृतीयसवनात्"** अर्थात् यह मस्तिष्क में स्थित विवस्वान् आदित्य उपांशु सवन है जहाँ कि मौन रूप में सोम सवन होकर 'सोमपीथ' अर्थात् सोमपान के लिये भरा हुआ तालाब विद्यमान हैं। इसी सोमपीथ को यह आदित्य चहुँ ओर से घेरे हुए है (परिशये) यह मस्तिष्क में स्थित सोमपीथ तृतीय सवन में आता है। इस विवस्वान् आदित्य की वृद्धि सोमपान से होती है। **"विवस्वन्तमेवादित्यं सोमपीथेन समर्धयति"**। मस्तिष्क में यह सोम ब्रह्माण्ड में विद्यमान आदित्य से व द्युलोक से भी आता है यह दिव्यवृष्टि कहलाती है। कहा भी है **"या दिव्या वृष्टिस्तया श्रीणामि"** अर्थात् द्युलोक से होने वाली सोम की वृष्टि से मैं तुझे परिपक्व करता हूँ। इसी दिव्य वृष्टि का संकेत **"सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः"** मन्त्र में हुआ है। यदि इन एन्द्रियिक पशुओं को बाहिर विषयों में भागने की खुली छूट दे देवें तो रुद्र इनकी हिंसा कर देगा। इसी बात को इस रूप में कहा है कि **"पशवो वा एते यदादित्य एष रुद्रो यदग्निः परिश्रित्य गृह्णाति रुद्रादेव पशूनन्तर्दधाति"** आदित्य ही ऐन्द्रियिक पशु है, इनमें जो अग्नि है वह रुद्र है। इस आदित्य रूपी इन्द्रिय-पशुओं को वह अग्नि रूप रुद्र रोककर (परिश्रित्य=प्रतिरुध्य) रखता है इससे रुद्राग्नि इन पशुओं की हिंसा नहीं करती। इसका तात्पर्य यह है कि विषयों में जाती हुई इन्द्रियों का मस्तिष्क से सम्बन्ध नहीं टूटना चाहिये।

सन्तकवि श्री गरीबदास वचनामृतम्

अथ शिव स्तोत्र

महादेव देवं, कैलाश वासी। जटा जूट गंगा चरण कोटि काशी।
वृषभ बैल बाहनं सकल शाह शाहनं उनमुनि अमोधं।
उमा संग पत्नी शंभु राज जोगं।
अहो आदि माया सुदेवी भवानी।
पुत्र श्याम कार्तिक गणेशो अमानी।
कल्प शंख बीते उमा गौरि माई। बाबू महादेव निरालंभ ध्याई।
निरालंभ जोगी अहोनाथ नाथा। आदि अनादि तुहीं पितृ माता।
कैलाश वासी महादेव देवं। मनो कामना सिद्धि शिव नाथ सेवं।
मौले मगन शंभु निर्बान रूपं। बज्र काछ कोपीन सत्यं स्वरूपं।
इन्द्री दमन दूत पैमाल कीना।
अमर शंभु जोगी अकल पद अकीना।
घोरं अघोरं पचीसों सकेला।
अहो शंभु जोगी सुनिर्गुण नवेला।
महाकाल कालं दयालं दयालं।
तुहीं धर्म धीरं सु नजरी निहालं।
कवल कंठ लीलं अहो गरुड़ गामी।
गले रुंडमाला परम शून्य धामी।
घटा घोर श्यामं तुही भूर भद्रं।
अहो भूत नाथा उठावै उपद्रं।
सुरतालं ख्यालं मस्त दर, दिवालं गुंजार भौंरा।
उमा संग साजै दस्त शीश चौरा।
बाजंत कानून सहनाई भेरी।
नाचै दिवंगना[1] हुरंभा[2] सुचेरी।
बाजंत बीना मधुर ताल संखा।

---

१. देवांगना
२. रंभा अप्सरा

जोगी महादेव शिव नाथ बंका
मुरली मुक्ति रूप गरजंत सिंधं।
परमहंस ध्यानं हंसे मंद मंदं।
बीना ताल बाजैं, मुकुट चन्द्र साजै, नन्दीश्वर पलाना।
सूरज कला कोटि त्रिशूल बाना।
झमके बैरागर उजागर अमोलं।
अजब राग रांगं सु होते किलोलं।
हीरे हिरंबर कनी द्वार लालं।
पद्म पोरी पारस रचे मठ कमालं।
झमकंत मंद्रं कला कोटि चन्द्रं कल बृक्ष कामा।
परानन्दनी द्वारि पूर्ण सहनाना।
गुलावास चन्द न कमल शंख फूले।
वर्णं अवर्णं समाधान भूले।
पानं अपानं उदानं वियानं समानं समाई।
जीती धनंजे सु दत्तदेव बाई।
आशा न तृष्णा न ममता न माया।
निरालंभ योगी कल्प कीन्ह काया।
मदन काम जारे, सकल दूत मारे सो योगी वियोगी।
आदि अनादं महादेव संयोगी।
पद्म कोटि झिलकें सो नौ निधि निवासा।
निरालंभ योगी सु अठ सिद्धि विलासा।
अनन्त कोटि गण संगि भूता न भूतं।
कमंद शंख साजें जु सेना सजूतं।
अहो ब्रह्म ज्ञानी अमानी अनादं।
कटें कोटि कुश्मल, जपैं संत साधं।
तुहीं ब्रह्मा विष्णु तुहीं मार्कण्डे
तुहीं नाथ नारद, तुहीं है अखंडे।
तुहीं आदि माया, तुहीं योग युक्ता।
तुहीं शंभु योगी, तुहीं विष्णु भक्ता।
तुहीं डाल मूलं समाधान सारं।
कल्प कोटि परलौ गई है अपारं।
खप्पर खीर मुद्रा अमी पान पानं।
चाबे धतूरा जु शंभु दिवानं।
गले नाग बाधं अमोघं अरागं अधर धार धारं।

अहो शंभु योगी मुक्ति के द्वारं।
अहो मौन मौनी तुहीं ब्रह्म वक्ता।
तुहीं जाप थापं तुहीं रूप लखता।
चिश्म तीन साजं निरालंभ राजं अगम धामसारं।
ऐसे शंभु योगी अभै पद उचारं।
अहो ब्रह्म बीना अभै तत्त्व चीन्हा निरालंभ सोई।
महादेव देवं अजूनी अभेवं सो मुद्रा समोई।
दोहा —शंख कल्प युग युग अटल, अजर अमर शिव शंभु।
गरीबदास गलतान है, अविगति पद आरम्भ॥
ॐ ॐ ॐ ॐ त्रिमाल मूलं, निर्बान सोई, अहो मूल माया मनो।
काम करनी कला शंख साजैं सु बरनौ अबरनी।
भगल ख्याल साजं रचे लोक माया।
परमानन्द ध्यानं तू ही देव राया॥

अथ शिव की आरती

हर नागेशा हर भूतेशा, उज्ज्वल उत्तम लावन करपन दीप।
हर हर जै महादेव, भज शंभु साहिब ओंकारा।
गंग बहै जट बहु धारा।
रिद्धि सिद्धि के दाता दानी। शिर चौर करै गोरिज रानी।
कार्तिक स्वामि गणेश गता। धन्य धन्य शंभू अगाधमता।
वृषभ बैल बाहन जाका। त्रिशूलं हे त्रिशाखा।
डोरुला अनहद बाजे। सेव करैं शंखों राजे।
चन्द्र लिलाट दिपै देवा। गन गंधर्व कर हैं सेवा।
सर्प गले गति रुंड माला। संग तपै गौरिज बाला।
रुंड माला रमता रामं। गौरज पठई है निज धामं।
अगर नाद पद निर्मोहा। हरि शून्य शिला शंभू सोई।
शकदेव सिंधु समोईला। पद अमर सुने भ्रम खोईला।
शिव द्वार तपै एक नारीला। पद गोरख नाद उच्चारीला।
जटा जूट योगी जुगता। तन लाए रहै भस्मी भूता।
को जाने शंभु लीला। शिव आक धतूरे चाबीला।
दामिनि दंत खिमें धारा। घन घोर घटा घन हर कारा।

रिमझिम रंग अजब रंगी। धन्य धन्य शंभू जै जै शंभू तू त्रिभंगी।
चौथा पद प्रकाशीला। शिव तुरिया पद के बासीला।
पुरिया पद में प्रवाना। शिव दरश परस उनमन ध्याना।
अगर अनील अलल मोरा। अगम निगम शिव का डोरा।
कुण्डल नाभि कंवल काया। धन्य शिव जोगी जीती माया।
अगर मालवै मन मानी। बाजै बाजें निज सहदानी।
कौस्तुभ मणि कुर्बान कला। धन्य धन्य शंभू जै जै शंभू तूं अबल बला।
तीन चिश्म तन साजीला। कोटि युगां एक पल में जाईला।
आसन अजर बजर तेरा। गगन मण्डल शंभू डेरा।
धन्य धन्य शंभू शिव कैलाशी। जहाँ कोटि चरण गंगा काशी।
कोटि कर्म कुश्मल धोई। हर नील कण्ठ शिव निर्मोही।
पीतम्बर गति गरुड़ ध्वजा। बाघम्बर तन खूब सज्या।
सिंगी नाद बजै नीका। राग बिरह जीवन जीका।
अलगोजै तुरही नादू। जहाँ ध्यान धरें शंखों साधू॥
ताल मृदंग बजैं बीना। मुरली की गति अति झीना।
भसम भूत भैरों ध्यावैं। कोटि कोटि गंधर्व गावैं।
सेवत हैं दाने दूता। धन्य धन्य शंभू जै जै शंभू तूं अनभूता।
इन्द्र कुबेर वरुण ध्यावें। सनकादिक नारद गावें।
ब्रह्मा विष्णु हैं अंग तेरा। तेतीसों नाचैं चेरा।
सुर नर मुनि गण गंधर्व मेला। तीन लोक शिव का चेला।
तीन लोक शंभू गाया। खप्पर खीर मुद्रा माया।
रिद्धि सिद्धि का दाता पूरा। जहाँ कोटि कला बाजैं तूरा।
बेल पत्र बाला रीझै। लिंग पूजा शिव की कीजै।
बीज बिंद शिव निहकामी। यौं लिंग पूजा है निज धामी।
निरालंभ निरबानीला। शिव तन मन धन कुरबानीला।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि दासीला। शिव अनभै पद प्रकाशीला।
सुरति सुहंगम सैलानी। शिव युगन युगन दाता दानी।
मोक्ष मुक्ति पद महमंता। शिव भक्ति मुक्ति शाखा संध्या।
अक्षय बृक्ष पद नागीला। शिव समाधान अनरागीला।
शंख तूर हैं दरबानी। जहाँ ध्यान धरे शिव सैलानी।
शंख पदम उजियारीला। जहाँ शिव योगी पद तारीला।
गरीबदास कुरबानी जांव। शिव युगन युगन जप अजपा नाम॥

सन्त कवि आचार्य सद्गुरु श्री गरीबदास जी महाराज ने ग्रंथसाहिब रूप में संकलित अपनी अमरवाणी में देवाधिदेव महादेव की शिवस्तोत्र तथा शिव आरती

द्वारा जो स्तुति व आरती की है उसमें शिव का स्वरूप पौराणिक तो है ही पर वैदिक रूप भी अछूता नहीं रहा है। हमारे विचार में पुराणों में शिव के अंग-प्रत्यंग अस्त्र-शस्त्र आदियों का जो वर्णन मिलता है वह उस सर्वव्यापक निराकार परिपूर्ण परब्रह्म को महादेव, शिव, शम्भू आदि नामों द्वारा रूपायित करने का काव्य-कलामर्मज्ञ आचार्यों व सन्तों का सत्प्रयत्न ही है। निराकार का बुद्धि में अवतरण व बुद्धिगम्य करना किसी भाग्यशाली का ही काम है। वेदों में भी अनेकों स्थलों पर देवों, दिव्यशक्तियों व भावों आदि को रूपायित किया गया है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर हम सद्गुरु श्री गरीबदास जी के शिव-सम्बन्धी उद्गारों को वैदिक विचारधारा से समन्वित करने का प्रयत्न करते हैं।

शिव के घोर और अघोर रूप

श्री आचार्य सद्गुरु महाराज शिव की स्तुति करते हुए दोनों रूपों में महादेव का स्मरण करते हैं यथा—**"घोरं अघोरं पचीसो सकेला"** अर्थात् महादेव के घोर और अघोर दोनों रूप हैं। वेदों व ब्राह्मणग्रंथादि वैदिक साहित्य में भी शिव के दो रूप बताये गये हैं। यथा—तै० सं० ५।७।२।३ में आता है कि **"रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते तनुवौ घोराऽन्या शिवान्या"** अर्थात् रुद्र भगवान् के दो शरीर हैं एक घोर दूसरा शिव अर्थात् अघोर। घोर शरीर कौन-सा है इसके लिये कहा कि **"एषा वा अस्य घोरा तनूर्यद् रुद्रः"** तै० सं० २।२।२।३ अर्थात् रुद्र तनू घोर है। यजु० १६।२ में भी आता है **"याते रुद्र शिवातनूरघोरा"** हे रुद्र भगवान् जो तेरी शिवतनू है और अघोर है। महादेव के अघोर तनू को वेदों में कई नामों से दर्शाया गया है यथा—**ओ३म् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च।** यजु० १६।४१ अर्थात् शम्भु, मयोभू, शंकर, मयस्कर, शिव, शिवतर रूपी महादेव को मेरा नमस्कार है। आचार्य श्री गरीबदास जी भी अपने स्तोत्र व आरती में महादेव को इन्हीं नामों से स्मरण करते हैं। यथा—**भोले शम्भु निर्वानरूपं—उमा संग पत्नी शम्भु राजजोगं-मनोकामना सिद्धि शिवनाथ सेवं** आदि। ये शम्भु भगवान् निर्वाण रूप हैं, ये ही राजयोग हैं, हे भोले भक्त, यदि मनोकामना की पूर्ति चाहते हो तो सबके नाथ उस शिव की सेवा करो। वे आगे कहते हैं **तू हीं ब्रह्मा विष्णु तुहीं मार्कण्डे तुहीं नाथ नारद तुहीं अखण्डे, तुहीं शंभु योगी तुहीं विष्णुभक्ता, तुहीं डालमूलं समाधानसारं।** हे देव शम्भो! योग भी तुम हो योगी भी तुम हो, तुम ही विष्णु हो और विष्णुभक्त भी तुम ही हो। ब्रह्मा, नारद, मार्कण्डेय आदि ऋषिगण भी तुम ही हो। इस संसाररूपी वृक्ष की अनन्त डालों के मूल में तुम ही तो प्रच्छन्न रूप में विराजमान हो। अथर्व १३।४।४ में आता है कि **"सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति"** रुद्र, महादेव, अर्यमा, वरुण एक

ही हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा, वही अग्नि, वही वायु, वही आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, गरुत्मान्, आदि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड-गत है सब एक ही हैं एकवृत ही हैं **"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"** उसी एक परब्रह्म के ये विविध नाम हैं। मै० सं० २।६।२ में आता है—

देवानां च ऋषीणां चासुराणां च पूर्वजम्।
महादेवं सहस्राक्षं शिवमाह्वयाम्यहम्॥

अर्थात् देवों, ऋषियों तथा असुरों से भी पूर्व विद्यमान उन सहस्राक्ष शिवरूप महादेव का मैं आह्वान करता हूँ।

घोर रूप

भगवान् शिव का घोर रूप सर्वसंहारक प्रलयंकर का है। वह उग्र है, उसकी तीक्ष्णता व उग्रता का दिग्दर्शन वेदों में बहुत हुआ है। उदाहरणार्थ मै० सं० का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो अघोरघोरतरेभ्यश्च।
सर्वतः शर्व शर्वेभ्यो नमस्ते रुद्र रूपेभ्यो नमः॥ मै० सं० २।६।१०

वह रुद्र अघोर, घोर, अघोरतर, घोरतर, शर्व रूप है। उसे मेरा बार-बार नमस्कार है। वेदों में संहार का तो पग-पग पर वर्णन आता है। रुद्र द्वारा की जाती हुई हिंसा से बचने के लिये उसे बार-बार नमस्कार किया गया है। यजुर्वेद का सोलहवाँ अध्याय तो इसी से भरा पड़ा है। प्रतिक्षण इस संसार में संहार व प्रलय हो रही है। आचार्य श्री ने "गले रुण्डमाला परमशून्य धामी अहो भूतनाथा उठावे उपद्रं" आदि वाक्यों से रुद्र द्वारा की जाती हुई हिंसा का दिग्दर्शन कराया है। गले में रुण्ड-माला उसके प्रलयंकर रूप का द्योतक है। उपद्रं उसके संहारकर्ता का द्योतक है।

जटाजूटधारी महादेव

भगवान् शिव को जटाजूटधारी माना जाता है। इस सम्बन्ध में महाराज के निम्न उद्गार द्रष्टव्य हैं—

जटाजूटयोगी जुगता। तन लाये रहे भस्मीभूता।

जटाजूटधारी शिव भगवान् अपने तन में भस्म लगाये रहते हैं। भस्म संसार को अग्निदग्ध कर संहार करने का प्रतीक है। वेद में भी रुद्र भगवान् को कपर्दी नाम से सम्बोधित किया गया है। **"यथाविज्यं धनुः कपर्दिनः"** यजु० १६।१०, ४३, ४८। आचार्य महीधर लिखते हैं—**"कपर्दो जटाजूटोस्याऽस्तीति कपर्दी रुद्रः"** कपर्द जटाजूट को कहते हैं। जटाजूट को धारण करने वाला रुद्र भगवान् है। जटाजूट में गंगा विराजती है। "जटाजूटगंगा चरणोकोटिकाशी" हिमालय के कैलास पर्वत पर इनका निवास है। भौतिक क्षेत्र में हम यह कह सकते हैं कि इस

रुद्राग्नि ने प्रबल बन इस मिट्टी को ऊपर की ओर उफाना जोकि पर्वत-रूप हो गई। यह रुद्राग्नि और अधिक न भड़के इसलिये रात-दिन आकाश से सुरगंगा हिमालय शिखर पर पड़ रही है। बर्फ-रूप में जमकर उसे ठण्डा रखती है, सीमा में रखती है। ये सहस्रों पर्वतशिखर उस महादेव के जटाजूट हैं। वेदों में भी अनेकों स्थलों पर महादेव को गिरित्र, गिरिश, आदि विशेषणों से कहा गया है। उव्वट, महीधरभाष्य में गिरिश का अर्थ किया है **"गिरौ पर्वते कैलासाख्ये शेते"** अर्थात् वह महादेव कैलास नामक पर्वत पर रहता है व शयन करता है।

नागेशा-भूतेशा

नागेश पद से केवल सर्प का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये प्रत्युत जितने भी सरीसृप-कोटि के जीव हैं वे सब इससे गृहीत होते हैं, वेद में आता है—

शिशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि"

अथर्व ११।२।२५

अर्थात् वह रुद्र भगवान् मनुष्यों को कर्मफल देने के लिये यथाकर्म शिशुमार, अजगर आदि स्थलचर, जलचर आदि सरीसृप-कोटि प्राणियों को अस्त्ररूप में फैंकता है। तक्मा ज्वरादिरोग, विष, विद्युत्, कासिका (खांसी) आदि व्याधियाँ रुद्र भगवान् के घोर रूप हैं। वह भूतनाथ व भूतेश है। वेदों में स्थान-स्थान पर इस ब्रह्माण्ड के सकल प्राणी उसी के बनाये हैं।

"तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।"

अथर्व ११।२।६

आगे भी कहा है—

"तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु।।" अथर्व ११।२।१०

आचार्य श्री महाराज जी कहते हैं—

"अनन्तकोटि गणसंगि भूता अभूतं"

विद्युत् दन्त के समान है। आकाश में घनघोर घटा हरकारे के समान है। कहा है—

"दामिनि दन्तखिमं धारा। घनघोर घटा घनहरकारा"
"नीलकण्ठ शिव निर्मोही"

वेद में उसे नीलग्रीवः तथा नीललोहित पदों से स्मरण किया गया है।
शिव विश्वरूप हैं—

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये।

अथर्व ७।९२।१

शिव की व्यापकता को आचार्य श्री सद्गुरुदेव ने निम्न शब्दों में कह दिया है—

आसन अजर बजर तेरा। गगन मण्डल शम्भू डेरा।

धन्य धन्य शम्भू शिव कैलाशी। जहां कोटि चरण गंगा काशी।

उमा, गिरिजा तथा पार्वती आदि नाम देवमाता अदिति के हैं। वेदों में दूसरे स्थल पर उमा को अम्बिका नाम से भी कहा गया है। **"शरद्वै रुद्रस्य योनिः स्वसाऽम्बिका"** काठ० सं० ३६।१४

शरद्-ऋतु में जो हननकर्त्री शक्ति प्रवाहित होती है वह अम्बिका है। कई विद्वान् स्वसा का अर्थ भगिनी नहीं करते हैं, उनका कहना है कि सु+असा असु प्रक्षेपणे अर्थात् शरद् ऋतु में जिस हननकर्त्री शक्ति को रुद्रदेव प्रवाहित करते हैं प्राणियों के प्रति फैंकते हैं वह अम्बिका है। मै० सं० १।१०।२० में **"शरद्वै रुद्रस्य योनिः"** अर्थात् शास्त्रकारों का मत है कि पति ही जाया में पुत्र रूप में पैदा होता है। **"आत्मा वै जायते पुत्रः"**।

त्रिशूल—शंकर भगवान् का त्रिशूल सृष्टि की सत्त्व, रज और तम ये तीन शाखाएँ हैं। महाराज जी कहते हैं **"त्रिशूलं हे त्रिशाखा"**

चन्द्र ललाट—महादेव जी के ललाट में चन्द्रकला विद्यमान है। मानव-पिण्ड में सुषुम्ना नाड़ी के वाम पार्श्व से जो इड़ा नाड़ी जिसे कि सोम नाड़ी भी कहा गया है वह मस्तक में पहुँचती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में गगन-मण्डल में जहाँ चन्द्रमा स्थित है वह शिव का ललाट ऋषियों द्वारा कल्पित हुआ है।

ये परम ब्रह्म शिव महाकाल के भी काल होते हुए परम दयालु भी हैं। ये जब ताण्डव नृत्य करते हैं तब ब्रह्माण्डगत अणु-परमाणु भी नाच उठते हैं। रम्भा आदि देवांगनाएँ नृत्य करने लगती हैं, सहनाई, भेरी आदि दिव्य वाद्य बजने लगते हैं। वीणा आदि वाद्यों से मधुर ध्वनि गूँज उठती है। यह नृत्य ही अनोखा है। यह तथ्य कल्पना कर सिर चकराने लगता है। देवाधिदेव महादेव को सब कुछ प्राप्त होते हुए भी उसके पास कुछ नहीं है। इसीलिए वेद (यजु० १६।४७) में उसे दरिद्र, कहा है। **"अष्टसिधि नवनिधि पद्मकोटि झिलकें सो नौ निधिवासा। निरालम्भ योगी सु अठ सिद्धि विलासा।"**

वह दरिद्र क्यों हैं ? क्योंकि उन्हें **"आशा न तृष्णा न ममता न माया"** कोई आशा, तृष्णा व ममता आदि नहीं है। दरिद्रता में ही तो योग हो सकता है। जिसके पास ऐश्वर्य व धन-सम्पत्ति की बहुलता है वह स्वभावतः उसमें आसक्त हो जाता है पर वह भोले बाबा स्वयं अकिंचन दरिद्र हैं। पर जीवों को अनन्त हाथों से धन-सम्पत्ति लुटाते हैं। स्वामी जी श्वेत वस्त्र पहनते, पीताम्बर धारण करते और उन्मनी दशा में रहते। उन्मनी ध्यान करनेवाला योगी शीत, उष्ण, सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्वों से ऊपर रहता है। जिस प्रकार पानी में रहता हुआ कमल का पत्ता पानी से अछूता ही रहता है, जिस प्रकार संसार में रहते हुए भी स्वामी जी राजा जनक के समान

संसार के मोह-माया, ममता आदि से ऊपर थे। योग के सम्बन्ध में उन्होंने अपने गुरुग्रंथसाहिब में बहुत कुछ लिखा है, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, राजयोग आदि सभी योगों का चित्रण इसमें मिल जायेगा पर स्वामी जी राजयोग को महत्त्व देते प्रतीत होते हैं और स्वयं वे उन्मनी दशा में रहते थे। शिवस्तोत्र तथा शिव की आरती में अजपाजप ध्यान, मौन, भक्ति, मुक्ति, संध्या आदि अनेकों विषय गागर में सागर रूप में भर दिये हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे। अथर्व १०।७।२७

जिस देव के ये ३३ देवता शरीर के विभिन्न हिस्सों में अंगरूप में स्थित हैं।

अन्तरिक्षस्थ रुद्र वायु-रूप में

रुद्र भगवान् अन्तरिक्ष में वायु-रूप में स्थित हो घोर-अघोर दोनों प्रकार के रूपों को धारण करते हैं। जिस समय अंधड़ व बवण्डर आकर बड़े-बड़े विशालवृक्षों को उखाड़ फैंकता है बिजली के खम्भों व मकानों को धराशायी कर देता है तो वह उसका उग्र रूप है। इस अवस्था में वह घोर कहलाता है। परन्तु जब मन्द-मन्द मलयानिल रूप में वह वायु प्रवाहित होती है जिसमें जीवन-शक्ति की भरपूर मात्रा होती है। मनुष्यों के आन्तरिक दोषों को भस्म करती है। तब रुद्ररूप वायु का यह शिवरूप होता है। जिस बाह्य ब्रह्माण्ड में वायु के अनेकों रूप सतत रूप में कार्य कर रहे होते हैं ये ही प्राणवायु शरीर में पहुँच प्राण, अपान, व्यान, समान, उदानादि पाँच प्रमुख विभागों तथा देवदत्त, कृकल आदि विभागों में विभक्त हो शरीर का संचालन करते हैं। जब ये दस विभागों में विभक्त प्राण-वायुएँ परस्पर समन्वित हो स्वच्छ कार्य का निर्वाह सुचारु रूप से करते हैं और त्रिदोष रूप में कफ-पित्त इन दोनों को समुचित समन्वित सहयोग देते हैं तो उनका वह शिव रूप है। कल्याण-कारी रूप होने से शिव कहा जाता है।

पिण्ड को दृष्टि में रखकर श्री सद्गुरुदेव के वचन द्रष्टव्य हैं—

"पानं अपानं उदानं वियानं समानं समाई।"

अर्थात् यह रुद्र भगवान् प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान में समाया हुआ है। प्राणिमात्र का जीवनाधार यही प्राणादि रूपों में प्रविष्ट होकर रुद्र भगवान् है। श्वास-प्रश्वास रूप में भगवान् शिव का अन्दर-बाहिर की ओर गमनागमन हो रहा है। अतः प्राणिमात्र का वह रुद्र भगवान् जीवनाधार ही नहीं प्रत्युत वह स्वयं ही प्राणिमात्र हो रुद्रलीला रच रहा है। श० प० ११।६।३।७ में आता है कि **"दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदस्मात् शरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति"** अर्थात् मनुष्य में १० प्राण हैं ११वाँ आत्मा है जब मृत्युकाल आने पर वे इस शरीर से निकलते हैं तो सम्बन्धी जनों को रुलाते हैं अतः रोदन के हेतु होने से इन्हें रुद्र कहा जाता है। सामान्य जन जब मरता है तो

वह भी रोता है। पर एक सिद्ध व दिव्य पुरुष इस शरीर का परित्याग करता है तो वह रोता नहीं क्योंकि वह इस भव-बन्धन से छूट रहा होता है वह तो अपने असली शिव धाम में पहुँच रहा होता है। ऐसे देवपुरुषों के लिये यह रुद्र-वायु रौद्री न होकर शिवा रूप की होती है। अपने शरीर का परित्याग करते हुए सन्त कवि गरीबदास जी ने अपने गुरु कबीर के इन उद्‌गारों को उच्चारण किया और अपने स्वरूप में स्थित हो गए थे जोकि इस प्रकार है—

हम सैलानी सद्‌गुरु भेजे, सैर करन को आयेजी।
ना हम जन्मै ना हम मरना, शब्दै शब्द समायेजी।
हमरे मरया कोई न रोवे, जो रोये पछताये जी।
हँसों कारण देह धारी हम, सो परलोक पठाये जी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, अजर अमर घर पाये जी॥

हे पृथिवी के पुत्रो! सुनो, हम तो यात्री हैं इस पृथिवी पर सैर करने को आये थे, **"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"** पूर्वों के भी गुरु उस आदिगुरु भगवान् ने हमें आदेश दिया था पृथिवी पर जाओ और वहाँ हंसों, परमहंसों, की सहायता करो। इसी कारण हमने इस पृथिवी पर जन्म लिया। वस्तुतः हमारा जन्म-मरण कुछ नहीं है, यह आवागमन तो श्वास-प्रश्वास की तरह है। जिस प्रकार नाभि से उत्थित प्राण पवन शब्द रूप को प्राप्त करता है। शब्द प्राण का ही व्यक्त रूप है। देह में विद्यमान यह प्राण अपने आदि स्रोत प्राण में जा समाया। या शब्द अपने आदि अनाहत रूप में जा मिला बात एक ही है। हम तो प्राण रूप व शब्द रूप हैं अपने आदि स्रोत में जा रहे हैं अतः हमारे मरने पर कोई रोना नहीं, जो रोयेगा वह पछतायेगा क्योंकि रोने धोने में मोह, माया, ममता का उसमें प्रवेश हो जाता है। इससे वह संसार में बद्ध हो जायेगा। यही पछताना है। अच्छा अब हम परलोक सिधारते हैं क्योंकि हम परलोकवासी हैं। वेद का ऋषि कहता है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ यजु० १७।६७

हे मनुष्यो! इस पृथिवी से अब हम उत्क्रमण करते हैं पृथिवी से अन्तरिक्ष में मैंने आरोहण किया। अन्तरिक्ष से द्युलोक में जा चढ़ा तथा द्युलोक के नाक (स्वर्ग) के पृष्ठ से मैंने अपने आदि रूप परमात्मज्योति को प्राप्त कर लिया है। ऋषियों की मृत्यु नहीं होती उनका उत्क्रमण होता है। इसी से मिलता-जुलता एक और मन्त्र है—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।
यजु० २०।२१

इस तमस् रूप पृथिवी से मैंने स्वः की ओर आरोहण किया। इसके लिये स्वः को लक्ष्य कर उत् से ऊपर उठा और उत्तर=उत्कृष्टतर स्थान को प्राप्त किया

तदनन्तर उत्तम उस सूर्यज्योति में जा मिला। अतः ऋषि-मुनियों, सन्तों व योगी पुरुषों का यह देवयानमार्ग कहलाता है। शम्भु भगवान् का स्तवन करते हुए श्री गरीबदास जी शम्भु को अपना माता-पिता कहते हैं और भवानी व उमा को आदिमाया का स्वरूप बतलाते हैं। यथा—

उमा संग पत्नी शम्भु राजजोगं।
अहो आदिमाया सुदैवी भवानी।
निरालम्भ जोगी अहोनाथनाथा।
आदि अनादि तुही पितृ माता।।

उस राजयोगी शम्भु के साथ उनकी पत्नी उमा विराजमान है वही सुदेवी उमा जिसको भवानी भी कहते हैं यह आदिमाया है। हे शम्भो! तुम तो निरालंब हो, योगी हो, नाथों के नाथ हो, तू ही आदि है, तू ही अनादि है और तू ही मेरे माता पिता हो।

इस सम्बन्ध में कुछ और विशेष विचार करते हैं सन्त गुरु गरीबदास जी ने कहीं-कहीं कुछ विरोधाभास युक्त उद्गार प्रकट किये हैं ऐसा प्रतीत होता है। आदि माया ओंकार है—ओं आदिमायाबीज है। ओं मूलमाया मनो काम करणी—इत्यादि कुछ वाक्य हैं जिनके सम्बन्ध में संशय-सा होता है कि ये वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं इनकी कैसे संगति लगायी जावे। क्योंकि ओ३म् नाम तो ब्रह्मबीज है माया बीज कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म संज्ञा जीवात्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इन तीनों के परस्पर मिले रूप की है यथा कहा भी है कि **"यदा त्रयं विन्दते ब्रह्ममेतत्"** उसी प्रकार **"ओ३म्"** संज्ञा भी शिव के सर्वसमाविष्ट रूप की है। भगवान् शिव में आदिमाया भवानी उमा जिसे अन्यत्र प्रकृति भी कहा है **"मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्"** दोनों का समष्टि रूप ओ३म् है। अतः ओ३म् माया-समाविष्ट महेश्वर उमा-समाविष्ट शम्भु भवानीयुक्त भव इत्यादि की संज्ञा है। अतः यहाँ सन्त गरीबदासजी के कथन में विसंगति नहीं देखनी चाहिये।

वह शम्भु भगवान् तो निरालम्ब जोगी है। अर्थात् उसका कोई आश्रय नहीं वही सबका आश्रय है, यह शिव ही स्वामियों का भी स्वामी है। उसी की स्तुति करो, उसी से याचना करो। यहाँ गरीबदास जी शिव को माता-पिता दोनों रूपों में मान रहे हैं किसी कवि ने भी कहा है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

वेद में रुद्र के लिये कहा है—

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः।। ऋ० ६।४६।१०

इस सकल भुवन के माता-पिता पालक रुद्र भगवान् को रात-दिन स्मरण व नाम-जाप द्वारा अपने अन्दर जागृत करो, बढ़ाओ। उस महान् श्रेष्ठ गति वाले उत्तम सुखदाता रुद्रदेव को क्रान्तदर्शी ऋषि व सद्गुरु से प्रेरित हुए अपनी समृद्धि व उन्नति के लिये आह्वान करते हैं। इस प्रकार वेदमन्त्र भी उस रुद्र भगवान् को भुवन का माता-पिता बताता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि **"पितर"** शब्द माता-पिता दोनों के लिये प्रयुक्त होता है।

सकल संसार का तथा सकल व्याधियों का आदिमूल कामदेव--

भगवान् जब सृष्टि का निर्माण करते हैं तो सबसे पूर्व काम की उत्पत्ति होती है। वेदश्रुति कहती है—**"कामस्तदग्रे समवर्तत मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्"** सबसे पूर्व काम की सत्ता होती है, यह काम मन का रेतस् है। सृष्टि की सिसृक्षा ही काम है। यदि काम ही न हो तो सृष्टि बने कैसे ? इसलिए सृष्टि के लिये काम का होना आवश्यक है। प्रश्न पैदा होता है कि फिर रुद्र भगवान् ने काम को भस्म क्यों किया ? श्री गरीबदास जी कहते हैं—

"मदन काम जारे सकल दूत मारे सो योगी वियोगी"

शिव ने कामदेव जिसे मदन भी कहते हैं को भस्मीभूत कर दिया। दक्षप्रजापति के सकल दूतों को मार दिया। वह तो योगी है और वियोगी भी है क्योंकि तोड़-फोड़ संहार आदि कर सबको वियुक्त व विमुक्त करता रहता है। इसलिये वह वियोगी भी है। सृष्टि की उत्पत्ति में मूलकारण काम का होना आवश्यक है पर मोक्ष-प्राप्ति के लिये काम को भस्म भी करना चाहिये। मनु महाराज ने लिखा है—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ मनु० २।२

कामात्मता ठीक नहीं है परन्तु संसार में अकामता हो नहीं सकती। क्योंकि यदि कोई इच्छाहीन हो तो संसार चले कैसे ? कोई भी व्यक्ति पुत्रादि पैदा न करे तो संसार का उच्छेद हो जाये। इसलिये काम का होना भी आवश्यक है। वेदादि का ज्ञान तदनुकूल धर्म का आचरण, वैदिक कर्मयोग ये सब काम पर आश्रित हैं इसलिये सृष्टि-संचालन के लिये धर्मानुकूल काम आवश्यक ही है। अतः प्रश्न पैदा होता है कि शिव ने कामदेव को भस्म क्यों किया। इसका समाधान यह है कि रुद्र भगवान् तो प्रलयंकर है। प्रलय के लिये तो काम को समाप्त करना ही पड़ेगा। इसलिये त्रिनेत्रधारी महादेव ने काम को भस्म कर दिया था। शिवपुराण में प्रसंग आता है कि ऋषिमुनि तथा देव जब भगवान् शंकर के पास पार्वती के साथ विवाह करने के लिये प्रार्थना करने गये तो भगवान् शंकर ने कहा कि यदि मुझमें काम पैदा हो गया तो तुम सब कामाभिभूत होकर पतित हो जाओगे। यह तीसरा नेत्र

जिससे काम को भस्म किया था भ्रुवों के मध्य ललाट में होता है। मनुष्य के भाल में भी अग्नि की सत्ता मानी गई है। मन्त्र कहता है कि "अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्" ललाट में अग्नि होती है और कृकाट अर्थात् गर्दन के पिछले हिस्से में यम विराजमान होते हैं। इसी कारण फांसी की सजा गर्दन के पिछले भाग में फन्दा डालकर दी जाती है। मनु महाराज ने काम के सम्बन्ध में यह भी लिखा है—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ मनु० २।४

इस संसार में कोई भी क्रिया बिना काम के नहीं होती। यह सब क्रियाएँ काम की ही उपज हैं। काम का इतना महत्त्व है पर रुद्र भगवान् ने तो युगधर्मानुसार सब क्रियाएँ समाप्त कर प्रलय करनी है अतः उसे तो काम को भस्म करना पड़ा।

रुद्र भगवान् का ओ३म नाम—

वेदों में ओ३म् की बड़ी महत्ता है। शास्त्रों का यह कहना है कि बिना ओ३म् के उच्चारण के वेदमन्त्र नहीं रहता। यह ओ३म् भी रुद्र भगवान् का नाम है गोपथ ब्राह्मण १।१२५ में आता "रुद्रो देवता ओंकारो वेदानाम्" वेदों का देवता ओ३म् है जो कि रुद्र देवता है। अर्थात् यह नाम रुद्र देवता का है जिससे कि सब वेद प्रकट हुए हैं। श्री गरीबदास जी लिखते हैं—

ॐ ॐ ॐ ॐ त्रिमात्र मूलं निर्वानि सोई अहो मूल माया मनो।
काम करनी कला शंख साजें सुबरनौ अबरनी।

ओ३म्—अकार उकार मकार इन तीन मात्राओं का मूल यही रुद्र देव है जो कि स्वयं निर्वाण रूप हैं। यह निरञ्जन निर्वाण रूप रुद्र इस माया का मूलकारण मन बनता है, यह बड़ी आश्चर्यकारक बात है। मनु महाराज कहते हैं—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च॥ मनु० २।७६

प्रजापति भगवान् ने वेदत्रयी का पीड़न करके ओ३म् इन तीन मात्राओं को दोहन किया। वेदत्रयी का सार भूः भुवः तथा स्वः हैं।

ध्यान का महत्त्व

श्री गरीबदास जी ने शिव के ध्यान को बहुत महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं—

परमानन्द ध्यानं तू ही देव राया।

हे देव ! तुम ही राजा हो तुझ परमानन्दस्वरूप का ध्यान सब कष्टों से पार पहुँचाने वाला है। यह शम्भु कैसा है।

संख कल्प युग-युग अटल अजर अमर शिव शम्भु।

वह सबका कल्याण करने वाला शम्भु शंखों कल्पों अनन्त युगों में वह अटल, अजर तथा अमर रहता है। सृष्टि-प्रलय के मध्य में यह सारा जगत् चक्कर काटता रहता है। जीवात्मा भी शिवपाश में बंधा भ्रमता रहता है। पर भगवान् शिव एकरस एकरूप ही रहता है। जगत् तो महाकाल का ग्रास बनता रहता है पर यह रुद्र भगवान् तो "महाकाल कालं" महाकाल का भी काल है।

"अहो शम्भु योगी मुक्ति के द्वारम्"

हे शम्भो ! तुम योगी हो, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ तुम ही मुक्ति के द्वार हो। वेद का ऋषि कहता है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

मैं उस महान् पुरुष को जो शिवरूप है को जानता हूँ उसका वर्ण आदित्य के तुल्य ज्योतिर्मय है, वहाँ तम का स्थान नहीं। उसी को जानकर मृत्यु के पार पहुँचा जा सकता है इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं है। यह शम्भु भगवान् ही चौथे तुरीय पद को प्रकाशित कर सकते हैं। सन्तजी कहते हैं—

"चौथा पद प्रकाशीला शिव तुरिया पद के वासीला।"

वह शिव तुरीय पद के वासी हैं। ये आगम-निगम तो उस शिव के डोरे हैं जो अनन्त दूरी तक पहुँचे हुए हैं फिर भी उसका पार नहीं पा सके हैं।

"अगम निगम शिव के डोरा"

अथवा आगम-निगम रूपी डोरे को पकड़कर ऊपर-ही-ऊपर चढ़ते जाओ अन्त में उस शिव के पास जा पहुँचोगे।

"कोटि कर्म कुश्मल धोई हर नीलकण्ठ शिव निर्मोही।"

वह शिव तो स्वयं निर्मोही है उसे किसी का मोह नहीं है पर यदि उसके पास पहुँच जाओगे तो कोटि जन्मों के कर्म कश्मल कर्मों के मैल को वह धो देगा। अन्त में सन्त गरीबदास जी कहते हैं—

गरीबदास कुरबानीजांव। शिव युगन युगन जप अजपानाम।

हे दयासिन्धो शम्भो ! मैं गरीबदास तुम पर कुर्बान होता हूँ। हे शिव ! मैं युगोंयुगों तक अजपाजाप करता रहूँ। ओ३म् शम्।

एकादश अध्याय

क्षात्र-वर्ण में रुद्र

जिस प्रकार मानव-जाति को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों में विभक्त किया गया है उसी प्रकार वेद के देवताओं को भी इन वर्णों में बाँटा गया है। श० प० १४।४।२।२३ में क्षात्रवर्ण के देवताओं का परिगणन किया गया है जो कि इस प्रकार है—**"यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति"** अर्थात् इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान इत्यादि ये आठ देवता क्षात्र-शक्ति के प्रतिनिधि हैं। इस दृष्टि से अन्य ब्राह्मण आदि वर्णों से यह क्षात्र-वर्ण अधिक है, इससे अधिक अन्य वर्ण नहीं है। इस प्रकार रुद्र क्षात्र-शक्ति में आता है पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि रुद्र ब्राह्मणवर्णी अग्नि से उत्पन्न हुआ है। अग्नि का ही यह तीसरा रूप है। आँखों में जो लाल-लाल नसें हैं वें रुद्र के ही कारण हैं। इन्हीं के माध्यम से यह मध्यम प्राण रुद्र को अपने अधीन किये हुए है। कहा भी है—**"तद् या इमा अक्षँ लोहिन्यो राजयः। ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तो०"** श० प० १४।५।२।३ क्रोध के समय आँखों से जो अग्नि की चिंगारी निकलती है वह इन आँखों की लाल-लाल नसों से रुद्र वाहिर को आ रहा होता है और जिसके प्रति क्रोध किया जाता है उसमें आग लगा देता है।

राजसूय में रुद्र के प्रतीक द्यूतकार व गोघातक—श० प० ५।३।१।१०

राजसूय यज्ञ करने वाले राजा को प्रजा के प्रत्येक वर्ग को अपने अनुकूल बनाना होता है। प्रजा में जुआरी (अक्षावाप) तथा गोघातक या शिकारी (गो-विकर्तक) ये दो वर्ग भी होते हैं। इन दोनों को शास्त्रकार रुद्र के रूप कहते हैं। समृद्धि की कामना वाले राजा को भी इन्हें अपने अनुकूल बनाना होता है। यदि इन्हें अनुकूल न बनाया जाये तो प्रजा में ये अपने दुष्कर्म को फैलाकर राष्ट्र का पतन कर देवें। अतः इनको प्रसन्न करने व सीमा में रखने तथा इनके शमन के लिए राजसूय यज्ञ में इनको भी स्थान दिया गया है वह यह है कि इन दोनों के घरों से गवीधुक लाकर और दोनों को मिलाकर रुद्र-सम्बन्धी चरु का निर्माण किया जाता है। यह चरु का निर्माण द्यूत स्थान में होता है। दोनों के घरों से लाया

हुआ गवीधुक एक प्रकार से दो रत्नों के समान बहुमूल्य है **"ते वा एने द्वे सती रत्ने एकं करोति सम्पदः कामाय"**। गोघातक तथा द्यूतकार इन दोनों में रुद्राग्नि का वास होता है और द्यूतभवन अग्निशाला है और जुए के पासे (अक्ष) ये अंगारे हैं। कहा भी है—

'अग्निर्वै रुद्रोऽधिदेवनं वा अग्निस्तस्यैतेऽङ्गारा यदक्षास्तमेवैतेन प्रीणाति०।'

क्योंकि ये क्रूरकर्मा होते हैं। राजसूय यज्ञ में इनके घरों से लाये हुए गवीधुक से निर्मित चरु द्वारा यजन होता है, अतः ये अपनी प्रतिष्ठा समझकर राजा के अनुकूल रहते हैं। यही रुद्र का शमन है, यही उसका प्रीणन है। हमें इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिये कि रौद्र कर्म करने वालों की प्रकृति को परिवर्तित करना अति दुष्कर है। हाँ, समय-समय पर उनका शमन अथवा प्रीणन कर वश में किया जा सकता है। प्राचीन काल में द्यूत को बहुत बुरा नहीं माना जाता था, महाराजा युधिष्ठिर ने जुए में अपना सर्वस्व तथा द्रौपदी तक को दाँव पर लगा दिया था। नल आदि अन्य राजा-महाराजाओं का द्यूत खेलना प्रसिद्ध ही है। आजकल भारतवर्ष के सभी राज्य लाटरी द्वारा जूआ ही खेल रहे हैं। वेदों की शिक्षा **"अक्षैर्मादीव्यः"** जूआ न खेल इस आदेश को देकर जूआ खेलने के अत्यन्त विरुद्ध है। इसके आगे शतपथ ब्राह्मण में एक विवादास्पद वाक्य आता है—**'इमां सभां घ्नन्ति···एवाऽनुमता गृहेषु हन्यते'** श० प० ५।३।१।१० यहाँ हन् धातु का प्रयोग बहुत विवादास्पद है श० प० ५।४।४।२ में सायणाचार्य इस हन् धातु का समाधान निम्न प्रकार करते हैं—

देवनकाले यामेव पणवेनकृत्वा गां दीव्यध्वमिति द्यूतकरणप्रैषं ब्रूयात् ततोऽस्य पणवेनांगी कृतां गामानीय घ्नन्ति हन्तिश्चानयनमात्रार्थो न मारणार्थः"

(आहनन मात्रार्थो वा) अर्थात् जूए के समय दाँव पर लगायी गौ द्यूत-सभा में लाकर उसका हनन करते हैं। यहाँ हनन मारना नहीं है, केवल लाना अर्थ है। यहाँ यह विचारणीय है कि गौ के साथ हन् धातु का प्रयोग क्यों किया जाता है? इसमें रहस्य यह है कि गौ अपने खूँटे को आसानी से नहीं छोड़ती, दूसरे खूँटे पर लाठी आदि के भय से बड़ी कठिनाई से जाती है, भैंस आदि अन्य पशुओं को अपने खूँटे से अधिक मोह नहीं होता। भगवान् पाणिनि ने 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' सूत्र से यह निर्देश कर दिया है कि गौ के साथ हन् धातु का प्रयोग सम्प्रदान अर्थात् दूसरे को देने अर्थ में होता है न कि मारने अर्थ में। (गोघ्न=गौ को देना)

राजसूय में रुद्र—तै० सं० १।८।१४

राजसूय में राजा के अभिषेक के समय रुद्र को भी हवि दी जाती है। कल्प में आता है—**'आग्नीध्रे प्रेरकं जुहोति। रुद्र यत्ते क्रयी परं नाम तस्मै हुतमसि यमेष्टमसि स्वाहेति'** यहाँ रुद्र को क्रयी नाम से सम्बोधित किया गया है। सायणा-

चार्य क्रयी नाम के स्पष्टीकरण में लिखते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् रुद्र को जपादि द्वारा प्रसन्न कर लेते हैं तो रुद्र भगवान् उनकी अभीष्ट कामना पूर्ण कर अपना भक्त बना लेते हैं इस प्रकार फल-प्रदान द्वारा भक्त को क्रय कर लेते हैं अतः रुद्र भगवान् क्रयी हैं। शतपथ ब्राह्मण के शतरुद्रिय प्रकरण में भी रुद्र-सम्बन्धी कई मन्त्रों के जप का विधान किया गया है। और यह भी कहा है कि दरिद्र, नील-लोहित आदि नामों के उच्चारण मात्र से वे महादेव प्रसन्न हो जाते हैं अतः ये रुद्र भगवान् भक्तों को क्रय करने, अपना श्रद्धालु भक्त बनाने में अति निपुण हैं इसलिए इनका नाम क्रयी है। यहाँ राज्याभिषेक में '**रुद्र यत् ते क्रयी परं नाम०**' मन्त्र पढ़-कर अभिषेक से बचे हुए पात्र में स्थित जल से आहुति दी जाती है। सायणाचार्य लिखते हैं—"**अभिषेकशेषभूतं पात्रस्थं जलं हुतमस्तु**"। हुतशेष की आहुति क्यों दी जाती है? क्योंकि यज्ञ-समाप्ति पर अवशिष्ट सब पदार्थ रुद्र के माने गये हैं। कहा भी है—

"**उच्छेषणेन जुहोति। उच्छेषणभागो वै रुद्रः भागधेयेनैव रुद्रं निरवदयते**" तै० ब्रा० १।७।८। उच्छेषण का अर्थ है अवशिष्ट पदार्थ। तै० ब्रा० में आगे कहा कि उत्तर दिशा में जाकर आग्नीध्र में आहुति देवे क्योंकि उत्तर दिशा रुद्र की दिशा है अतः इस दिशा में आहुति प्रदान द्वारा रुद्र के प्रकोप का शमन करता है। आगे कहा कि—"क्रयी नाम से आहुति इसलिए दी जाती है कि राजा के शत्रु का विनाश हो जाये तथा हमारे प्रति रुद्र का जो प्रकोप हो वह शान्त हो जाये। कहा भी है "**तेन वा एष हिनस्ति यं हिनस्ति तेनैवैनं सहशमयति**" तै० ब्रा० १।७।८ आगे 'यमेष्टमसि' पद का प्रयोजन यह बताया कि इससे यजमान राजा की अपमृत्यु दूर होती है। "**यमादेवास्य मृत्युमवयजते**"।

रुद्र के पुत्र मरुत्

वेदों में मरुतों को रुद्र का पुत्र कहा गया है। उदाहरणार्थ—

ऋ० १।८५।१, ५।६०।५, ६।६६।३ आदि मन्त्र द्रष्टव्य हैं। इसी भाँति रुद्रियाः, रुद्राः, रुद्रस्य मर्याः आदि पदों से मरुतों को रुद्र-सम्बन्धी दर्शाया गया है। इन मरुत् नामक रुद्रों की माता पृश्नि है। तत्सम्बन्ध में उदाहरणार्थ निम्न मंत्र ऋ० १।८५।२, ५।५७।३, ५।८।५ आदि अवलोकनीय हैं। निरुक्त के आधार पर मरुत् अन्तरिक्षस्थानी हैं। पिण्ड में यह हृदय प्रदेश है। हम पिण्ड अर्थात् आन्तरिक क्षेत्र में मरुतों का रुद्र-पुत्रत्व संक्षेप में दर्शाते हैं। मनुष्य में वसु प्राण जब रुद्र रूप को धारण कर लेते हैं तब रुद्र और पृश्नि के संयोग से इन मरुतों की उत्पत्ति होती है। मरुतों की माता पृश्नि है। निरुक्त के आधार पर पृश्नि बाह्य ब्रह्माण्ड में अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्युलोक है। पिण्ड में यह हृदय तथा मस्तिष्क है। जिस प्रकार द्युलोक में ज्योतिर्मय नक्षत्र जड़े हुए से प्रतीत होते हैं (संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः)

उसी प्रकार मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न प्रदेश नानाविध ज्योतियों व शक्तियों के केन्द्र हैं। क्योंकि ये ज्योतियाँ नाना वर्णों की होती हैं। इसलिये निरुक्तकार ने द्यौ को पृश्नि अर्थात् नाना वर्णों वाली माना है। रुद्र-प्राण जब मस्तिष्क में स्थित भिन्न-भिन्न प्रदेशों से सम्पर्क करता है तब मस्तिष्क में प्रकाशित दिव्य-विचारों का आविर्भाव होने लगता है। चामत्कारिक नाना विज्ञानों व अध्यात्म शक्तियों का उद्गम होने लगता है। मन्त्र है—

द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः।
रुद्रो यद् वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥

ऋ० २।३४।२

द्युलोक के विविध प्रदेशों में जिस प्रकार नक्षत्र (स्तृभिः) जड़े हुए हैं उसी प्रकार सप्तविध अन्न का भक्षण करने वाले तथा ज्ञानरस का पान करने वाले ये मरुत् नामक प्राणशक्तियाँ मस्तिष्क रूपी द्युलोक के विभिन्न स्थानों में चिनी हुई हैं (चितयन्त) ये मरुत् मेघोत्पन्न वर्षा के तुल्य दिव्य ज्ञान की वृष्टि करते हुए विद्युत् के समान चमकते हैं। रोचमानवक्षस्थल वाले हे मरुतो! वीर्यसिंचन करने वाला जो तुम्हारा पिता रुद्र है उसने द्यु रूपी मस्तिष्क (पृश्न्याः) के शुद्ध व देदीप्यमान ऊधस् में तुम्हें पैदा किया है। यह मस्तिष्क ऊधस् भी है। यह मस्तिष्क दिव्यज्ञान रूपी रस से तभी भरपूर होता है जब रुद्र-प्राण का उससे सम्पर्क होता है। जिस प्रकार मेघाच्छन्न आकाश से वृष्टि के साथ बिजली चमकती है उसी प्रकार मस्तिष्क में समय-समय पर दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्ति की स्फुरणा होती रहती है। विद्युत् के समान अकस्मात् दिव्य ज्ञान का अवतरण हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक और मन्त्र है—

ते क्षोणीभिररुणेभिर्नाञ्जिभी रुद्रा ऋतस्य सदनेषु वावृधुः।
निमेघमाना अत्येन पाजसा सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम् ॥

ऋ० २।३४।१३

वे रुद्र-प्राण गतिशील अरुण वर्ण के विद्युत्-प्रकाशों की तरह ऋतम्भरा प्रज्ञा के केन्द्रों (ऋतस्य सदनेषु) में वृद्धि को प्राप्त होते हैं और दिव्य ज्ञान को प्रकट करते हैं। निरन्तर गतिशील व व्यापक बल से ज्ञान-रस व अमृत-रस से शरीरावयवों को नितरां सिंचित करते हुए उत्तम आनन्दप्रद सुरूपवान् वर्ण को धारण करते हैं।

क्षोणीभिः—क्षि निवासगत्योः (तुदादि) ल्युटि रूपम्।

अञ्जिभिः—अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु "सर्वधातुभ्य इन्" उणा०।४।१२३

वे मरुत् प्राण-वायु जब रुद्र रूप को धारण कर लेते हैं तो तब आन्तरिक ज्ञान-केन्द्रों पर पड़े आवरणों, दुर्वासनाओं तथा अन्य सर्व प्रकार के शत्रुओं को विनष्ट कर देते हैं। तभी बुद्धि-केन्द्रों (Brain Centres) में ऋततत्त्व का प्रवेश होता है।

दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्ति विद्युत्-प्रकाश की तरह चमककर सब कुछ प्रकाशित कर देती है। और तब धर्म-मेघ की स्थिति हो जाती है।

वे मरुत् नामक रुद्र मस्तिष्क रूपी द्युलोक में क्या करते हैं, यह निम्न मन्त्र में दर्शाया है—

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधिचक्रिरे सदः।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः।।

ऋ० १।८५।२

वे मरुत् मातृगर्भ में रुद्र द्वारा सिंचित हुए महिमा को प्राप्त होते हैं और रुद्र-रूप धारणकर मस्तिष्क रूपी द्युलोक में स्व-स्थान को अधिकृत कर लेते हैं। उस अर्क अर्थात् अर्चनीय बुद्धि सूर्य की अर्चना करते हुए इन्द्रिय वीर्य को उत्पन्न करते हैं पृश्नि-माता वाले ये रुद्र अत्यधिक श्रीसम्पन्न हो जाते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र का तात्पर्य हृदय-प्रदेश में भी सुसंगत हो जाता है। ये मरुत् नामक दिव्य प्राण जब रुद्रकोटि में आते हैं तब हृदयप्रदेशस्थ आसुरी शक्ति का विनाश कर उस इन्द्र-सम्बन्धी स्थान को अपने अधिकार में ले लेते हैं और अर्चनीय व पूजनीय इन्द्र की वे अर्चना करते हैं। शत्रु-विजय के लिये इन्द्र के सहायक बन जाते हैं। इन मरुतों को यहाँ 'पृश्निमातरः' कहा है।

मानव-शरीर में ब्राह्मणादि चारों वर्णों की सत्ता है। वक्षस्थल तथा हृदय क्षत्र-शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। लोकों की दृष्टि से यह हृदयप्रदेश अन्तरिक्ष है। रुद्र प्राण का यह स्थान है। जिन व्यक्तियों में प्राण रुद्र रूप को धारण कर लेता है उनमें रुद्र-प्राण हृदयस्थली से सम्पर्क कर मरुत्-प्राणों की उत्पत्ति करता है। इन मरुत्-प्राणों के सम्बन्ध से मनुष्य भी मरुत् कहलाते हैं ये राष्ट्र में सैनिक का कार्य करते हैं। इस दृष्टि से भी इन पर विचार किया जा सकता है। यथा—

"युवानो रुद्रा अजराः" ऋ० १।६४।३ ये मरुत् नामक रुद्र अजर-जरारहित तथा युवा हैं। **'रुद्रस्य मर्याः'** ऋ० १।६४।२ ये मरुत् रुद्र के मनुष्य हैं। **'रुद्रा अवोवृणीमहे'** ऋ० १।३९।७ हे रुद्रो! हम तुमसे अपनी रक्षा की याचना करते हैं अर्थात् तुम हमारी रक्षा करो।

श्री पं० सातवलेकर जी ने एक रुद्र से परमात्मा को ग्रहण किया है और अनन्त जीवों को उसका पुत्र माना है। वे लिखते हैं "एक रुद्र अद्वितीय परमेश्वर ही है और अनन्त रुद्र जीवात्मा हैं"—'रुद्र देवता का परिचय' पृष्ठ २३।

ये अनन्त रुद्र जीवात्मा हैं, ये प्राणी अर्थात् जीवन धारण करने वाले हैं। ये मर्य, मर्त्य (Mortals) हैं। पृष्ठ २७। इत्यादि कथन से हम पूर्ण सहमत नहीं हैं। यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रुद्र से परमात्मा का रौद्र रूप ही ग्राह्य है उसके मित्र, वरुण व सोम आदि रूपों का यहाँ ग्रहण नहीं होगा। इसी प्रकार **'रुद्रस्य मर्याः'** आदि पदों से सामान्य मरणधर्मा, जीवमात्र का ग्रहण नहीं

होगा। जिन जीवों में रुद्रशक्ति सक्रिय है उनका ही यहाँ ग्रहण होगा। मरणधर्मा तो सभी जीव हैं पर सौम्य स्वभाव वाले जीव रुद्र के पुत्र कैसे हो सकते हैं? वे भगवान् के सोम रूप के पुत्र कहलायेंगे। अतः रुद्र के पुत्रों को हम क्षात्र-शक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में भी कुछ मन्त्रों के अर्थ यहाँ दर्शाते हैं—

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः॥

ऋ० १।८५।१

उत्तम कर्म करने वाले नियमबद्ध गति में वेग से चलने वाले जो ये रुद्र के पुत्र हैं वे स्वर्गगामी पुण्यशाली ज्योतिर्मय पुरुषों के समान शोभायमान लगते हैं। ये मरुत् द्यावापृथिवी की वृद्धि व सर्वप्रकार की उन्नति का उपाय करते हैं।

दुष्टों का घर्षण करने वाले ये वीर मरुत् ज्ञानगोष्ठियों में हर्षित होते हैं।

जनयः—नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतींषि। श० प० ६।५।४।८

यामन्—नियमेन पंक्तिबद्धाः यान्ति यत्र।

उपरोक्त मन्त्र में मरुतों को रुद्र के पुत्र कहा गया है। ये निरंकुश दुष्टकर्मा व अत्याचारी नहीं हैं अपितु 'सुदंससः' उत्तम व श्रेष्ठ कर्म करने वाले हैं। यामन् शब्द का अर्थ सामान्य मार्ग नहीं है यह वह मार्ग व गति है जिसमें कि नियमबद्ध होकर चला जाता है। सम्भवतः सैनिकों की परेड को यह यामन् पद दर्शाता है।

स्वामी दयानन्द ने 'यामः' का अर्थ जहाँ 'गमनं' किया है वहाँ 'मर्यादा' अर्थ भी उन्होंने किया है। जो सैनिक परेड आदि के समय पंक्तिबद्ध हो मर्यादा में चलते हैं उनकी गति व मार्ग को यह 'यामन्' पद दर्शाता है—ये सैनिक मूर्ख नहीं हैं, पर ज्ञानी तथा सुपठित हैं इसी कारण वे ज्ञानगोष्ठियों में भाग लेते हैं और इसी में आनन्द मानते हैं। जनयः पद के शतपथ ब्राह्मण के व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि पुण्यशाली लोग इन दिव्य ज्योतिर्मय नक्षत्रों में जन्म लेते हैं। निम्न मन्त्र भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। मन्त्र है **'यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव"**।

ऋ० ९।११३।९

हे इन्दो! हे सोम! जहाँ कामनानुसार विचरण होता है जो कि द्युलोक के तीनों लोक हैं अथवा ज्योतिर्मय द्युलोक हैं। और जहाँ दिव्य ज्योतियों से प्रकाशमान लोक हैं वहाँ मुझे तू अमर बनाकर रख।

मरुत् नाना प्रकार के अलंकार धारण करते हैं इससे वे सुन्दर व शोभायमान प्रतीत होते हैं।

नहि वः शत्रुर्विविदे अधिद्यवि न भूम्यां रिशादसः।
युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे।।

ऋ० १।३६।४

हिंसकों व अत्याचारियों को नष्ट करने वाले हे मरुतो! तुम्हारा कोई शत्रु न तो द्युलोक अर्थात् आकाश में और नाहीं पृथिवी पर दृष्टिगोचर होता है। हे रुद्र-रूप मरुतो! तुम्हारी परस्पर मिली हुई सुसम्बद्ध सेना शत्रु के घर्षण के लिए शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाये।

मरुत् जब रुद्र-रूप धारण कर लेते हैं तब ब्रह्माण्ड में उनको रोकने वाला उनका शत्रु नहीं रहता।

आइये, रुद्र-पुत्र मरुत्-सैनिकों के सम्बन्ध में एक और मन्त्र पर दृष्टिपात करते हैं—

तां आ रुद्रस्य मीढुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः।
यत् सस्वर्ता जिहीडिरे यदाविरव तदेन ईमहे तुराणाम्।।

ऋ० ७।५८।५

सुख की वर्षा करने वाले रुद्रदेव के इन मरुत्-सैनिकों की परिचर्या करता हूँ। वे मरुत् हमें बार-बार जब भी मिलें नम्रभाव से मिलें। जिस उपताप-जनक कटुवचन से अथवा प्रकट रूप पाप से घृणा करते हैं या क्रुद्ध होते हैं क्षिप्रकारी उन मरुतों के शमन के लिए हम उस पाप को दूर करते हैं।

मन्त्र में रुद्र के सैनिकों का यह स्वरूप बताया कि वे स्वभाव से नम्र हैं प्रजा-जनों से बड़े प्रेम से मिलते हैं पर उनके प्रति कटुवचन बोलना तथा किसी भी प्रकार का भी पाप करना उन्हें क्रोधित कर देता है अतः उनसे सदा मीठे वचन बोलना चाहिए और जिस पाप से वे घृणा करते हैं उस पाप को हमें दूर कर देना चाहिये।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अग्नि ही रुद्र रूप को धारण करती है। तत्सम्बन्धी दो एक मन्त्र यहाँ प्रदर्शित करते हैं—

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।

ऋ० २।१।६

हे अग्नि! तू ही महान् द्युलोक (सूर्य) से अवतरित हो रुद्र-रूप को तथा असुर प्राणबल-सम्पन्न रूप को धारण करती हो और तू ही (पृक्षं) संग्राम में प्रकट होने वाले मरुत्-सम्बन्धी (शर्धः) बल के स्वामी हो।

पृक्ष इति संग्रामनाम। निघं० २।१० पृची सम्पर्के।

उपरोक्त मन्त्र में अग्नि ही रुद्र रूप को धारण करती है मरुतों का बल आदि इसी अग्नि का ही बल है।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्।

ऋ० १।२७।१०

स्तुति द्वारा अन्तःकरण में उद्बुद्ध होने वाले हे अग्नि देव! तू उन-उन स्थानों में प्रवेश कर जहाँ यज्ञीय रुद्र के दर्शन के लिए यजमान स्तुति कर रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि हृदय प्रदेश में सर्वप्रथम अग्नि उद्बुद्ध होती है, संकल्प-अग्नि प्रज्वलित होती है तत्पश्चात् हृदय की अन्तस्तम गहराई में पहुँचकर जो स्तुति की जाती है उससे रुद्र के दर्शन होते हैं।

एक मन्त्र में मरुतों की कृपा से बाह्य भौतिक क्षेत्र में तथा आन्तरिक क्षेत्र में वृष्टि का निम्न प्रकार विधान हुआ है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः।
मिहं कृण्वन्त्यवाताम्। ऋ० १।३८।७

देदीप्यमान तीक्ष्ण बलवान् रुद्र के पुत्र ये मरुत् मरुप्रदेश व ऊसरभूमि में भी वायुरहित वृष्टि कर देते हैं। यह सोलह आने सत्य है।

यह मन्त्र बाह्य भौतिक क्षेत्र में तो स्पष्ट है पर अध्यात्म में ये ऊसरभूमि वाले व्यक्ति के मस्तिष्क में भाग्योदय होने पर ज्ञान व शक्ति की वृष्टि कर देते हैं। 'अवाताम्' वायुरहित वृष्टि से क्या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। क्योंकि मरुत् रौद्र अवस्था में अंधड़-बवण्डर आदि पैदा करने वाले होते हैं।

वेदमन्त्रों में अनेकों स्थलों पर मरुतों को रुद्र के पुत्र कहा गया है यह हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। ये मरुत् रुद्र के सैनिक तो हैं ही पर इन्द्र के भी ये सहायक बनते हैं। इन्द्र भी इन्हें पुत्र के तुल्य मानता है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है।

स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान्।
सनीडेभिः श्रवस्यानि तूर्वन्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥

ऋ० १।१००।५

वह महान् इन्द्र पुत्रतुल्य इन रुद्र-मरुतों के साथ वीरपुरुषों के संग्राम में शत्रुओं का अभिभव करता है तथा स्वाश्रय में विद्यमान मरुतों द्वारा दिव्य श्रवण के हेतुभूत ज्ञान व शक्तिविशेषों को नीचे उतारता हुआ अर्थात् सूक्ष्मता से स्थूलता में प्रकट करता हुआ वह मरुतों वाला इन्द्र हमारी रक्षा करने वाला होवे।

नृषाह्ये—शूरवीरैः सोढुमर्हे संग्रामे।

इन्द्र और मरुत् के प्रसंग में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जब साधना द्वारा इन्द्र अर्थात् दिव्य मन उद्घाटित हो जाता है और प्राण रुद्र रूप को तथा बुद्धि दिव्य ज्ञान के लिए सक्षम हो जाती है, तब इन्द्र और मरुतों का सहयोग मानव में विद्यमान अतिभयंकर आसुरी शक्ति को विनष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं। यहाँ रुद्र-प्राण इन्द्र के पुत्रतुल्य हो गये हैं।

यो नो मरुतो वृकताति मर्त्यो रिपुर्दधे वसवो रक्षता रिषः।
वर्तयत तपुषा चक्रियाभि तमव रुद्रा अशसो हन्तना वधः॥

ऋ० २।३४।९

हे मरुतो ! जो भेड़िये व वज्रतुल्य कठोर मानव शत्रु अथवा मरणधर्मा अनात्मतत्त्व हमें धारण किये व जकड़े हुए हैं। हे वसु प्राणो ! तुम उसकी हिंसा से हमारी रक्षा करो। दुष्टों को रुलाने वाले हे रुद्र प्राणो ! प्रतप्त चक्री पर चढ़ा उसे खूब घुमाओ। आत्मतत्त्व का भक्षण कर जाने वाले का जो प्रहार व शस्त्र है उसको मार गिराओ।

वृकः—विकर्तनात् नि० ५।४।२१। **अशसः**—भक्षकस्य।

अध्यात्म क्षेत्र में इसका तात्पर्य यह है कि मर्त्य नाम से आत्मा से अतिरिक्त यह स्थूल व सूक्ष्मशरीर, उसकी वासनाएँ व दुर्विचार आदि सबका ग्रहण किया जा सकता है। ये वासनाएँ आदि भेड़िये व वज्र के समान हैं। इनसे छुटकारा मरुत्-प्राण जो कि रुद्र-रूप हैं, वे ही दिला सकते हैं। जिस समय कोई दुर्वासना आ घेरे तो उसे तदंग पर केन्द्रित न होने दें। आन्तरिक अग्नि चक्र पर चढ़ा चक्री की भाँति इधर-उधर उसे घुमाये।

रुद्र के पुत्र मरुतों के सम्बन्ध में उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र हमने यहाँ दिये हैं और भी मन्त्र हैं जिनमें मरुतों को रुद्र-रूप में दर्शाया गया है। हमें यहाँ इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि सर्वशक्तिमान् उस प्रभु का रौद्र रूप ही रुद्र है जो कि सर्वत्र अभिव्याप्त रुद्र है पर उस सर्वशक्तिमान् की शक्तियों का प्रकटन, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल आदि भौतिक शक्तियों के माध्यम से होता है। उसी प्रकार मरुतों के सम्बन्ध में उसका रुद्र-रूप अन्तरिक्षस्थ है। अन्तरिक्ष में जो वायु प्रवाहित हो रही है वही रौद्र रूप की होकर बाह्य ब्रह्माण्ड में मरुतों की सृष्टि करती है। पिण्ड में हृदयप्रदेशरूपी अन्तरिक्ष में वसु से अगली स्थिति रुद्र-प्राण की है। यह हृदयप्रदेशस्थ रुद्र शारीरिक मरुतों को उत्पन्न करने वाला है। और राष्ट्र में रुद्र-प्राण से सम्पन्न सैनिक ही मरुत् नाम से कहे जाते हैं।

द्वादश अध्याय

वागाम्भृणी और रुद्र

अम्भृण ऋषि की वाक् कहती है कि मैं वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों के साथ विचरती हूँ और अन्य एक मन्त्र में यह कहती है कि जब किसी राष्ट्र में ब्रह्मद्वेषी तथा हिंसक पैदा हो जाते हैं तो मैं रुद्र को आदेश देती हूँ कि अपना धनुष तान और इन ब्रह्मद्वेषी शत्रुओं का हनन कर। यह ऋग्वेद १० में मण्डल का १२५वां सूक्त है जिसमें वागाम्भृणी ऋषिका है और देवता आत्मा है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मतत्त्व तो सब देवताओं के साथ संलग्न है सबका आधार वही है। अतः यह कहा जा सकता है कि अम्भृण प्राणतत्त्व की यह वागात्मा है जो कि मन्त्रों द्वारा अपना स्वरूप स्पष्ट कर रही है। सर्वप्रथम अम्भृण क्या है यह देखना चाहिये। अम्भृण की निम्न व्युत्पत्ति हो सकती है। **"अपो बिभर्ति यः"** (अप उपपदे डुभृञ् धारणपोषणयोः (जु०) धातोर्बाहुलकाद् नः प्रत्ययः) अर्थात् जो आपस्तत्त्व को धारण किये हुए हैं। इस आपस्तत्त्व से ही यह वाक् उत्पन्न होती है। मन्त्र में आता है **"अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे"** अर्थात् मैं इस ब्रह्माण्ड के पिता को मूर्धा में पैदा करती हूँ और मेरी योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान समुद्र के अन्दर आपस्तत्त्व में है। आगे कहा कि **"ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि"** अर्थात् उस जलीय समुद्र के अन्दर से मैं सब भुवनों पर आसीन हूँ। मैं अपने प्रवृद्ध बल से अथवा अपनी जलीय चेतना के बल से द्युलोक को स्पर्श करती हूँ। और आगे एक मन्त्र में कहा कि "मैं ही जब सब भुवनों का निर्माण प्रारम्भ करती हूँ तो वायु-वेग से वहती हूँ तथा अपने इस प्रवाह में मैं द्युलोक तथा पृथिवी लोक इन दोनों को अपनी महिमा से लांघ जाती हूँ।" अब उपरोक्त वर्णनों के आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह समुद्र के अन्दर जल में पैदा होती है—यह जलीय समुद्र अन्तरिक्ष का है और पिण्ड में यह हृदयप्रदेशस्थ है। इस हृदयप्रदेश से उत्पन्न हो यह देदीप्यमान ज्वाला के सदृश चहुं ओर तो प्रसृत होती ही है पर द्युलोक तथा मस्तिष्क में ऊर्ध्व को जा छूती है। यह सर्वव्यापक आत्मा न होकर आत्मा की एक विशिष्ट वाक्शक्ति है। जो सब भूतों व प्राणियों में स्थित है **"वाचीमा सर्वा भूतानि"**। यही दूसरे शब्दों में गौरी है। कहा भी है **"गौरी मिमाय सलिलानि तक्षती"** सृष्टि-निर्माण करते हुए यह सलिलों का

तक्षण करती है परम व्योम अर्थात् दिव्यता के परमाकाश में जिसके सहस्रों अविनाशी अक्षर-शाखा-प्रशाखायें हैं। साँप-बिच्छु, कृमि-कीट आदि क्षुद्र प्राणियों का जब सर्जन करती है तब यह भवानी है और जब प्राणिसमूह का विनाश करती है तब यह शर्वाणी है। जब किसी को यह देवी ऋषित्व, ब्रह्म-पद आदि प्रदान करती है तो यही सरस्वती नाम से उच्चरित होती है। जहाँ यह आसुरी शक्ति का विध्वंस करने वाली है वहाँ उन्हें पैदा करने वाली भी यही है। उनमें उग्रता उत्पन्न करना इसी का काम है। महान् से महान् प्राणी से लेकर क्षुद्र से क्षुद्र कीट-पतंग तक सभी प्राणी इसी की कृपा से अन्न पाते हैं। भक्तों को दुःख-दारिद्र्य से उभारने वाली दुर्गा यही है। कहने का तात्पर्य यह है अनेकत्र प्रविष्ट इस महिमामयी महती शक्ति को जो भी नाम दो वह इसी को दर्शाने वाला होगा। यह शक्ति यथावसर सीमित क्षेत्र में या व्यापक क्षेत्र में अपना आविर्भाव करती है।

मध्यस्थान स्थित अर्थात् अन्तरिक्षस्थ समुद्र में से आविर्भूत होने वाली इसी जगदम्बा को भक्त लोग अम्बिका कहते हैं। उनकी भक्त लोग इस भाँति स्तुति करते हैं—हे सर्वजगन्मयी जगन्मातः! तुम असीम ऐश्वर्यशालिनी तथा अनुपम हो, मन, वाणी से अतीत, अज्ञान व अन्धकार को दूर करने वाली, जन्म, जरारहित, कालातीत, हे अम्बिके! तेरी जय हो। नाना विधानों में विराजमान, समस्त देवताओं की आराधनीय समस्त विश्व का विस्तार करने वाली हे अम्बिके! तेरी जय हो। परमकल्याणमयी मातः! आपको मेरा नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्व आपसे उत्पन्न हुआ और आप में ही लीन हो जायेगा। हे देवि! आप मुझ भक्त का मनोरथ सिद्ध कीजिये। तुम्हें मेरा शतशः प्रणाम है।

वेदमन्त्रों द्वारा वह जगदम्बा स्वयं क्या कहती हैं यह भी आप सुन लेवें—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

हे भक्तजन! ध्यान देकर सुन, मैं ही रुद्रों, वसुओं आदित्यों और विश्वदेवों के साथ इस संसार में विचरती हूँ। मैंने ही द्वन्द्व रूप में विद्यमान मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि तथा अश्वियों को धारण किया हुआ है।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥

मैं ही निचोड़े जाने वाले सोम को धारण किये हुए हूँ। त्वष्टा, पूषा तथा भग ये मेरे ही एक अंग हैं। जो यजमान सवन कर रहा है, परिश्रम करता है और जो धन प्राप्त हो उसे यज्ञीय हवि समझता है, ऐसे सुप्राव्य शोभन रूप में रक्षणीय यजमान को मैं धन देती हूँ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

मैं राष्ट्री बन राष्ट्र में ऐश्वर्यों का संगम करती हूँ। यज्ञिय देवों में सर्वप्रथम मुझे ही सब जानते हैं। बहुतों अर्थात् सभी चलायमानों में स्थिर रूप में विद्यमान सब में प्रविष्ट हुई मुझको देवों ने पुरु रूप में माना है।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

हे श्रद्धालु भक्तजन! सुन, तुझे मैं श्रद्धेय बात बताती हूँ कि जो सुनता है, देखता है, प्राणापान ले रहा है, वह सब मेरी कृपा से ही अन्न खा रहे हैं। जो मुझे नहीं मानता वह नष्ट हो जायेगा, यह सत्य अपने मन में धार ले।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

और सुन! मैं ही देवों तथा मनुष्यों में प्रविष्ट हुई स्वयं बोल रही हूँ, वे नहीं बोलते, मैं ही बोल रही हूँ। जिसे चाहती हूँ उसे उग्र बना देती हूँ, जिसे चाहती हूँ उसे ब्रह्मा, या ऋषि या उत्तम मेधा से युक्त कर देती हूँ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥

जब ब्रह्मद्वेषी हिंसक व हत्यारे इस जगत् में बढ़ जाते हैं तब मैं रुद्र को आदेश देती हूँ कि अपने धनुष को उन ब्रह्मद्वेषियों पर तान। मैं मानव-समूह के विनाश के लिये संग्राम पैदा कर देती हूँ। मैं ही द्यावापृथिवी में प्रविष्ट हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥७॥

इस संसार के मूर्धा में आदित्यरूपी तुम्हारे पिता को मैंने पैदा किया है। मेरा अपना उत्पत्ति-स्थान आपस्तत्त्व से भरे अन्तरिक्षस्थ समुद्र में है तथा भक्तजनों के हृदयप्रदेश में है। वहीं से मैं सब भुवनों में विराजमान होकर सब पर शासन कर रही हूँ। और इस द्युलोक को मैं अपने प्रवृद्धतम बल से स्पर्श कर रही हूँ।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ॥८॥

ऋ० १०।१२५।१-८

मैं जब सब भुवनों का निर्माण प्रारम्भ करती हूँ तो वायुवेग के समान इधर-उधर दौड़ती हूँ। द्यावापृथिवी से परे तक मेरा आवागमन रहता है। यह सब मेरी महिमा है।

अम्बिका—शरद् ऋतु

शरद् ऋतु भी अम्बिका है। त्र्यम्बक महादेव पर लिखते हुए अम्बिका पर भी लिखा है। यह शरद् अम्बिका रुद्र की बहिन व माता दोनों ही है। शरद् ऋतु जुकाम, फ्लु आदि व्याधियों के वायरस व कृमि-कीट आदि पैदा करने वाली होने

से यह माता है। अथवा **रुद्र** तथा शरद् ऋतु दोनों मिलकर क्षुद्र प्राणियों की हिंसा करते हैं इसलिये यह रुद्र की भगिनी भी है। इसके अतिरिक्त हमें अम्बिका का एक रूप और भी दृष्टिगोचर होता है। वह यजु० २३।१८ तथा अश्वमेध प्रकरण में अम्बा, अम्बिका तथा अम्बालिका नामों में परिगणित हुआ है। यहाँ अम्बिका कौन है, उसका स्वरूप क्या है, यह अश्वमेध-प्रकरण पर विचार करते हुए लिखेंगे।

सोमक्रयणी वाक् का रुद्र द्वारा आवर्तन—

यजु० ४।१९,२० इन दो मन्त्रों में सोमक्रयणी वाक् का वर्णन आता है **"वाग् वा एषा यत् सोमक्रयणी"** तै० सं० १।२।४ इस वाक् में चित्त, मन; बुद्धि आदि आन्तरिक ज्ञान-वृत्तियाँ सब समाविष्ट हैं। यह वाक् सप्तशिरों वाली धी रूप है। यह मस्तिष्क के सप्त शिरों (सप्तशीर्ष्णी धियं Seven Brain centres) से चलकर समस्त शरीर में फैली हुई है। इसी वाक् को इस उन्नीसवें मन्त्र में 'उभयतः शीर्ष्णी' कहा है अर्थात् मस्तिष्क में एक सिरा है तो दूसरा शरीर के बाह्य स्थान (End organs) में है। यह वाक् मस्तिष्क में विद्यमान देवों तथा ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करती है तो बाह्य जगत् से संसार का ज्ञान प्राप्त करती है। इसीलिये इसे 'उभयतः शीर्ष्णी कहा है। निरुक्त में उभयतः शीर्ष्णी की व्याख्या प्रायणीय तथा उदयनीय इन दो पारिभाषिक शब्दों से की है यथा—**'द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये'** नि० १३।७ ये दोनों पारिभाषिक शब्द हैं, इनकी व्याख्या अन्यत्र करने का प्रयत्न करेंगे। यह वाक् सोम लाने के लिये द्युलोक में जाती है क्योंकि **"दिवि वै सोम आसीत्"** शतपथ। सोम द्युलोक में है। पिण्ड में हमारा मस्तिष्क द्युलोक है। मस्तिष्क द्युलोक में केन्द्रित हो यह वाक् वहाँ से बाह्य लोक में ऊर्ध्व को प्रयाण करती है।

यह विषय 'आत्मसमर्पण' पुस्तक के सोमाहरण प्रकरण में विस्तार से दर्शाया है। मन्त्र में आता है कि **"सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि'—सुप्राची न एधि सोमं वोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीची न एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह'** श० प० ३।२।४।१७ अर्थात् हे वाक् तू सोम ग्रहण कर हमारी ओर लौट आ। यह वाक् सोम लेकर कैसे लौटे ? इसके लिये ३।२० मन्त्र में कहा कि **'रुद्रस्त्वावर्तयतु'** अर्थात् रुद्र तुझे सोम के सहित लौटा लावे। रुद्र तो क्रूर है। क्या रुद्र के भय से वह सोमक्रयणी वाक् लौट आयेगी ? तै० सं० १।२।४ में कहा कि **"रुद्रस्त्वाऽऽवर्तयतु मित्रस्य पथा"** अर्थात् रुद्र तुझे मित्र-मार्ग से लौटा लावे। पिण्ड में इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार हो सकता है कि रुद्र की सत्ता उदर में है। जब हमारी वाक् रूपी चेतना मस्तिष्क तथा ऊर्ध्व में केन्द्रित हो जाती है तब वह वहाँ अनन्तकाल तक तो रह नहीं सकती। रुद्र रूप यह उदराग्नि शारीर-धर्म से अभिलाषिणी हो चेतना को हठात् ऊपर से नीचे उतार लायेगी। 'रुद्रस्त्वावर्तयतु'

मन्त्र-पद का यही भाव यहाँ प्रतीत होता है। रुद्र जठराग्नि है। रुद्र-मूर्ति पर जो बिल्वपत्र चढ़ाये जाते हैं उसका रहस्य यह है कि जाठराग्नि में जो विकृति आ जाती है दस्त व खूनी दस्त आदि आ लगते हैं तो उसे बिल्वचूर्ण आदि देने से जाठराग्नि ठीक हो जाती है। श० प० ४।३।४।२५ में आता है कि **"अथ गौः प्राणमेवैतमात्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नं हि प्राणः तां रुद्राय होत्रेऽददात्"** होता रूप रुद्र को गौ देता है। इससे प्राणों की रक्षा होती है। गौ क्या है? अन्न है। गौ अन्न भी है, प्राण भी है। अन्न तो प्राण है ही अब उपरोक्त पंक्ति इस प्रकार लगायी जा सकती है। गौ पृथिवी है। इस गौ रूप पृथिवी पर उत्पन्न अन्न भी गौ है। यह अन्न हम भक्षण करते हैं तो यह हमारा प्राण बनता है। इसलिये अन्न, प्राण ये सब भी गौ रूप ही हैं। यह अन्न कहाँ दिया जाता है? उदराग्नि में। उदराग्नि रुद्र है, एक प्रकार से अन्नरूपी गौ रुद्र को दे रहे हैं यही कहा जा सकता है। यह उदराग्नि रूप रुद्र होता है सबको आह्वान करने वाली है। यह उदराग्नि ही तो पृथिवी पर अन्नादि उत्पन्न करवाती है।

ब्रह्मवर्चस् तेज की प्राप्ति के लिए सोमा रौद्र चरु

मै० सं० २।१।५-६ तै० सं० २।२।१०, काठ० ११।५

जो व्यक्ति ब्रह्मवर्चस्वी बनना चाहता है अर्थात् यह चाहता है कि मुख में ब्रह्मतेज प्रादुर्भूत हो जाये तो उसे यह चाहिये कि श्वेत गौ के घी में श्वेत चावलों का चरु तैयार करे और इस चरु से यजन करे यह सोमारौद्र इष्टि कहलाती है। इस सम्बन्ध में एक आख्यान इस प्रकार है कि स्वर्भानु नामक असुर ने जब सूर्य को तम से आच्छादित कर दिया तो वह सूर्य रोचमान न रहा। इस पर देवताओं ने प्रायश्चित्त रूप में इसी सोमारौद्र-इष्टि से सूर्य के तम को दूर कर दिया। यह एक प्रकार की प्राकृतिक घटना है। प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्राकृतिक नियमों से सूर्य के तम को दूर करती हैं। सूर्य में जो काले धब्बे हैं वह स्वर्भानुकृत तम है और सूर्य में निरन्तर जो सोमरस पड़ रहा है वह सूर्याग्नि में घृत का काम करता है। इससे सूर्य रूपी अग्नि खूब प्रवृद्ध होती है, प्रज्वलित हो वह रुद्र का रूप धारण कर लेती है। रश्मी रूपी ज्वालायें चहुँ दिशाओं में अनन्त दूरी तक प्रसृत हो जाती हैं तब सूर्य में उठने वाला धुंआ व काले धब्बे (स्वर्भानु) आदि विलीन हो जाते हैं यही सौर मण्डल की सोमारौद्र इष्टि है। मनुष्य में बुद्धि-सूर्य पर जो शमल (मैल) आ जाता है, बुद्धि कुण्ठित हो जाती है तो बुद्धि पर से उस तम व मल को दूर करने के लिये वह सोम और रुद्र-सम्बन्धी आन्तरिक शक्तियों के समन्वित व सन्तुलित रूप को उजागर करे। इसके लिये सोमारौद्र चरु तैयार कर सर्वप्रथम यजन करे। जो शेष चरु बचे उसका भक्षण करे तो शनैः-शनैः बुद्धि का तम-मल दूर होकर बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है। शास्त्रों तथा विद्या-विज्ञानों के गूढ़ रहस्यों को समझने और

उसे स्मरण रखने की शक्ति पैदा हो जाती है। यही ब्रह्मवर्चस् तेज है। सोमा-रौद्र इष्टि की पद्धति शास्त्रों में इस प्रकार दर्शायी है।

चावलों को घृत से प्रोक्षण करते हैं, मार्जन करते हैं (घृतेन प्रोक्षन्ति, घृतेन मार्जयन्ते) अगले दिन प्रातःकाल जब यज्ञ करना हो तो चरु को तैयार करने और स्नान आदि के लिये न तो घर से जल लावे और न हीं घर को जल ले जावे। क्योंकि घर के जल तथा गृहपात्र हस्त आदि के स्पर्श से शुद्ध, पवित्र नहीं रहते। यह इष्टि व यज्ञ 'परिश्रित्' स्थान में करें। परिश्रित् चहुँ ओर से घिरे हुए स्थान को कहते हैं। एकान्त तथा चहुँ ओर से घिरे हुए स्थान में यज्ञ आदि करने से ही ब्रह्म-वर्चस् तेज की उत्पत्ति होती है। आगे कहा **"यावदस्य प्राणा अभि यावानेवा-स्यात्मा तस्मात् तमोऽपहन्ति"** काठ० ११।५ अर्थात् जितने इसके प्राण और जितना इसका आत्मा उस ब्रह्मवर्चस् के प्रति समर्पित होता है उतना ही तम उससे दूर होता है। इसी को दूसरे शब्दों में कहा **"यावदेवास्य ब्रह्मवर्चसं तत् सर्वं करोति"** तै० २।२।१० अर्थात् जब तक ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति हो तब तक वह सब उपाय करे। आगे आता है **साकं रश्मिभिः प्रचरन्ति साकमेवास्य रश्मिभिः शमलमप-घ्नन्ति"** मै० सं० २।१।५

अर्थात् रश्मियों के साथ इसका प्रचरण होता है ज्यों-ज्यों प्रातःकाल रश्मियों का उद्गम होता जाता है त्यों-त्यों अन्धकार दूर होता जाता है उसी प्रकार इस इष्टि द्वारा शनैः-शनैः इसकी बुद्धि का भी तम दूर होता जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि यह इष्टि तिष्य[1] नक्षत्र वाली पूर्णिमा को करनी चाहिये।

प्रश्न पैदा होता है कि यह इष्टि तिष्य नक्षत्र की पूर्णिमा को क्यों करे? इसका उत्तर यह है कि तिष्य नक्षत्र रुद्र है और पूर्णिमा का चन्द्रमा सोम है। तिष्य नक्षत्र को पुष्य[2] भी कहते हैं इसी नक्षत्र के कारण पौष मास होता है। तिष्य व पुष्य नक्षत्र की पूर्णिमा से पहिले की ओषधियाँ सौमी कहलाती हैं। क्योंकि तब तक ये सूखी नहीं होती इनमें सोमरस भरा पूरा होता है पर तिष्य नक्षत्र की पूर्णिमा के पश्चात् ओषधियाँ शुष्क होने लगती हैं, सूख जाती हैं अतः उस समय ये रौद्री कहलाती हैं। इनमें रस का परिपाक तो हो जाता है पर सूख जाती हैं। आगे कहा है कि **"संप्रत्येवैना उपासरत् प्राचीनं वै सोमीरोषधयः प्रतीचीनं रौद्रीः। नहि प्राचीनं शुष्यन्ति शुष्यन्ति प्रतीचीनं"** मै० सं० २।१।५ अर्थात् तिष्य नक्षत्र की पूर्णिमा से पहिले की ओषधियाँ सूखती नहीं बाद की सूख जाती हैं। जो व्रीहि

---

१. तिष्या पूर्णमासे याजयेत्। मै० सं० २।१।५
तिष्या पूर्णमासे निर्वपेत्। तै० सं० २।२।१०

२. तुष्यन्त्यस्मिन्निति तुष् ल्यप्। निपातनात् साधुः।
पुष्यनक्षत्रं पौषमासः। शब्दकल्पद्रुमः।

चरु निर्माण के लिये ली जाती है उससे तिष्य पूर्णमास के दिन चरु-निर्माण किया जाता है। इसी तथ्य को शास्त्रों में स्पष्ट किया है। **"तिष्य पूर्णमासे निर्वपेत्** तै० सं० २।२।१० अर्थात् चरु का निर्माण तिष्य नक्षत्र वाली पूर्णिमा को करे। तात्पर्य यह है कि जैसा अन्न हम खाते हैं तदनुकूल ही हमारे शारीरिक घटकों का निर्माण होता है। भिन्न-भिन्न नक्षत्रों, भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न औषधियों व वनस्पतियों के अन्दर रसों का संचार व उनका परिपाक होता है। हरी-भरी रस से परिपूर्ण औषधि अन्य गुण रखती है और शुष्क औषधियाँ अन्य गुणवाली होती हैं। शुष्क औषधियाँ प्रायः रुद्राग्नि के गुणवाली होती हैं। अतः इन सूक्ष्मताओं को ध्यान में रखकर औषधि आदियों का चुनाव करना चाहिये।

आगे कहा कि इस इष्टि में मनु-सम्बन्धी ऋचाओं का प्रयोग होता है क्योंकि जो मनु ने कहा है वह औषध ही कहा है—

"मनोर्ऋचो भवन्ति, मनुर्वैयत् किं चावदत् तद् भेषजमेवावदत्।"

मानवी ऋचाएँ निम्न हो सकती हैं—

(ऋ० ८।२७-३१ सूक्त। मनुसम्बन्धी ऋचाएँ शक्ति के लिए हैं और नाराशंसी ऋचाएं शान्ति, शमन, रोग शमन के लिये होती हैं। (एताः=मनुसम्बन्धिन्यः शक्वरी भवन्ति शक्त्यै—मै० सं०

तै० सं० २।२।१० में कहा कि जिस व्यक्ति को चर्मरोग होने का भय हो वह भी इस इष्टि से यजन करे उसे मनु की दो ऋचाएँ प्रयोग में लानी चाहियें।

मै० सं० २।१।५ में चर्मरोग, किलास अर्थात् श्वेतकुष्ठ को बताया गया है। इस चर्मरोग के शमन के लिये तै० सं० में सोमापौष्य चरु भी बताया गया है। यह सौमारौद्र इष्टि प्रजा (सन्तति) की कामना से भी की जाती है। अभिचार के प्रयोग में काले व्रीहि का प्रयोग करना चाहिये। मै० सं० २।१।६ में आता है—

"सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहीणामभिचरन्"

कृष्णाव्रीहयो भवन्ति, तमो वै कृष्णं, मृत्युस्तमो मृत्युनैवैनं ग्राहयति०

किसी के प्रति अभिचार का प्रयोग करने वाले को चाहिये कि वह काले तिल-चावलों का चरु तैयार करे, काला रंग मृत्यु का रूप है। इससे इष्टि करने से शत्रु मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसमें बहेड़े की समिधाओं का उपयोग होता है। बीमार के लिये सोमारौद्र चरु आमिक्षा (तप्ते पयसि दध्यानयने सति यद् घनीभूतं वस्तु जायते साऽऽमिक्षा) की तैयार की जाती है।

काठ० सं० १०।६ में आता है कि बकदाल्भ्य ने धृतराष्ट्र का विनाश करने के लिये काले चावलों से अभिचार प्रारम्भ किया था। वह कथा संक्षेप में इस प्रकार है—'नैमिषीयारण्य में दीर्घ सत्र से उठकर ऋषि लोग कुरुपांचाल में बकदाल्भ्य के यहाँ पहुँचे थे। बकदाल्भ्य ने अपना घर उन्हें सौंप दिया और अपने रहने के लिये धृतराष्ट्र के पास घर माँगने गया।

"अहं धृतराष्ट्रं वैचित्रवीर्यं गमिष्यामि स मह्यं गृहान् करिष्यतीति।"

परन्तु धृतराष्ट्र घर न देकर गौ देने लगा, बातों-बातों में उसे ब्रह्मबन्धु भी कह दिया। इस पर क्रुद्ध हो बकदाल्भ्य ने काले तिलों से रुद्र के लिये अष्टाकपाल चरु बनाया। 'सोऽग्नये रुद्रवतेऽष्टाकपालं निरवपत् कृष्णानां व्रीहीणामभिचरन् अग्निर्वै रुद्रो रुद्रायैवैनमपिदधाति" बकदाल्भ्य अभिचार का प्रयोग कर धृतराष्ट्र का नाश करना चाहता है। यह गुप्तचरों से ज्ञात होने पर वह भागा-भागा बकदाल्भ्य के पास गया और उसकी अनुनय विनय की। कहा भी है—

"यत् किंच धृतराष्ट्रस्यासीत् तत् सर्वमवकर्णं विद्राणमभिव्यौच्छत् ता विप्रश्निका=(जो कि प्रजाओं में विविध प्रकार के प्रश्नों को पूछते फिरते हैं। यहाँ विप्रश्निका का दैवज्ञ अर्थ उपयुक्त नहीं है) अविन्दन् ब्राह्मणो वै त्वायमभिचरति तस्मिन्नाथस्वेति।"

इस प्रकार अभिचार के प्रयोग में रुद्राग्नि सहायक होती है।

श० प० ५।३।२ में सौमारौद्र यजन का हेतु यह बताया कि जो अयज्ञिय व्यक्तियों, निकृष्ट साधनों से अर्थ-प्राप्ति में संलग्न अर्थ-लोलुपों को यज्ञ कराता फिरता है उसमें बुद्धिमालिन्य उत्पन्न हो जाता है। उसका ब्रह्मवर्चस् जाता रहता है। इस ब्रह्मवर्चस् तेज को पुनः प्राप्त करने के लिये उसे चाहिये कि सौमारौद्र इष्टि करे। अथवा जो व्यक्ति यशः प्राप्ति के योग्य है पर उसे किसी कारणवश नहीं प्राप्त हो रहा है और अनूचान (सांगवेदाध्यायी अनूचानः—सायणाचार्यः अङ्गोपाङ्गों सहित वेदों का ज्ञाता) अपनी विद्वत्ता का फल नहीं प्राप्त कर सका उसको एक प्रकार से निराशा, हीनता आदि तम आ घेरता है, उसे दूर करने के लिये भी सौमारौद्र इष्टि करने का विधान किया है। उसे चाहिये कि अपने घर में रत्नों के ऊपर यह सौमारौद्र इष्टि करे। **उपरिष्टाद् रत्नानां सौमारौद्रेण यजते"** प्रश्न यह है कि सौमारौद्र इष्टि करने से मनुष्य के मन पर पड़ा तम (ग्लानि, हीनता तथा अज्ञान) कैसे दूर हो सकता है? इसका समाधान हमें यही प्रतीत होता है कि इस इष्टि से उसके स्वभाव आदि में परिवर्तन हो जाता है किन्हीं के प्रति सौम्यभाव तथा किन्हीं के प्रति रौद्रभाव ये दोनों आवश्यक हैं। सोम और रुद्र इन दोनों का यथोचित समन्वय होना चाहिये। मन में इस स्वभाव को पैदा करने के लिये तदनुकूल अन्न ही आवश्यक है। सफेद चावल तथा सफेद गौ का घी इन दोनों से सौमारौद्र इष्टि कर तत्पश्चात् शेष का वह भक्षण करे। इसका परिणाम यह बताया **"सोऽपहतपाप्मा ज्योतिरेव श्रिया यशसा भवति"** श०प० ५।३।२।३ अर्थात् सौमारोद्र इष्टि करने वाला पापरहित होकर श्री और यश से ज्योतिरूप बन जाता है। उसमें तेज आ जाता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि विशेष नक्षत्रों में विशेष काल में संग्रहीत औषधि-वनस्पति तदुत्पन्न चरुविशेष प्रभावशाली होते है। नक्षत्रों का शरीर पर प्रभाव पड़ता है, यह इससे स्पष्ट है।

सरस्वती रुद्रों द्वारा हमारी रक्षा करे

यजुर्वेद २६ अ० ८ मन्त्र में आता है कि सरस्वती रुद्रों के द्वारा हमारी रक्षा करे। समग्र मन्त्र इस प्रकार है—

आदित्यै र्नो भारती वष्टु यज्ञं सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत्। इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त।।

यह भारती आदित्यों के साथ हमारे यज्ञ की कामना करे। सरस्वती रुद्रों के साथ हमारे यज्ञ की रक्षा करे आह्वान की गई यह इडा वसुओं के साथ समान प्रीति वाली होकर हमारी तथा यज्ञ की रक्षा करे। इस प्रकार ये तीनों देवियाँ हमारे यज्ञ को अमृत देवों में पहुँचावे।

यह मन्त्र का सामान्य अर्थ है इस मन्त्र के तात्पर्य का संक्षेप में स्पष्टीकरण करते हैं। मन्त्र में भारती, सरस्वती तथा इडा इन तीन देवियों से यज्ञ-रक्षा की प्रार्थना की गई है। यह यज्ञ आध्यात्मिक, राष्ट्रीय व शिक्षा आदि क्षेत्रों का हो सकता है। निघं० ८।२।१० में "तिस्रो देवी:" की व्याख्या करते हुए लिखा है **"भरत आदित्यस्तस्य भाः"** अर्थात् भरत आदित्य है उसकी 'भा' दीप्ति भारती है। निघण्टु में भारती को वाक्-नामों में पढ़ा है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य की यह प्रभा वाक् रूप में है जोकि पृथिवीस्थ औषधि-वनस्पतियों तथा मानव आदि प्राणियों को धारण-पोषण करती हुई बोल रही है कि यह सब आदित्य का प्रभाव है। पृथिवी पर आकर यह भारती इडा रूप में परिवर्तित हो अन्नों में तद्रूप हुई अन्न नाम से कही जाती है। अतः इडा पृथिवी तथा पृथिवीस्थ औषधि-वनस्पतियों का एक सामान्य नाम है। सरस्वती सरण-प्रसरण करने वाली माध्यमिका वाक् है। मानव-शरीर में भारती वाक् मस्तिष्क में धिषणा रूप में या प्रज्ञा रूप में रहती है जोकि सप्त द्वारों में बिखरकर शरीर यज्ञ का कार्य निर्वाह करती है। सरस्वती जिह्वा में स्थित विद्या की अधिष्ठातृदेवी है। इसी प्रकार इड़ा शरीर की अन्नाभिलाषिणी वाक् है। भारती वाक् आदित्यों के सम्पर्क से नवनवोन्मेषशालिनी भरण-पोषण के नये-नये आयामों व आविष्कारों की जननी है। सरस्वती तभी सक्रिय व सफल होती है जब उससे रुद्रों का सम्पर्क होता है। इडा से मिल वसु-प्राण शरीर के स्वास्थ्य तथा शरीरगत शक्तियों के वास के हेतु बनते हैं। शिक्षा-यज्ञ में सरस्वती उसी अवस्था में सफल होती है जब रुद्र-प्राणों द्वारा उसकी रक्षा हो। रुद्र-प्राणों से रक्षित सरस्वती अपने वरद पुत्रों की रक्षा में सहायक होती है। आजकल शिक्षणालयों में दादागिरि करने वाले गुण्डातत्त्वों ने सरस्वती का एक प्रकार से विलोप कर दिया है। सरस्वती की सच्ची उपासना करने वाले कुछ विरले ही छात्र दृष्टिगोचर होते हैं और वह भी दीनहीन दशा में होते हैं। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर मन्त्र कहता है—**"सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत्"** अर्थात् रुद्रों के साथ यह सरस्वती हमारी रक्षा करे। हे सरस्वती के उपासको! सरस्वती की आराधना के साथ अपने अन्दर रुद्र-प्राणों को भी उजागर करो तभी अपनी तथा सरस्वती की रक्षा कर सकोगे।

त्रयोदश अध्याय

अन्तरिक्षस्थ ११ रुद्रों की उत्पत्ति

श० प० ६।१।२।७ में आता है कि **"स (प्रजापतिः) मनसैव वाचं मिथुनं समभवत् स एकादशद्रप्सान् गर्भ्यभवत् त एकादश रुद्रा असृज्यन्त तानन्तरिक्ष-उपादधात्"** वह प्रजापति मन द्वारा वाक् के साथ मिथुन भाव को प्राप्त हुआ तो वीर्य की ११ बूंदों से गर्भवाला हो गया, इससे ११ रुद्र पैदा हुए। उसने इन ११ रुद्रों को अन्तरिक्ष में स्थापित किया। बाह्य जगत् में मनस्थानी अन्तरिक्ष तथा वाक् स्थानी पृथिवी इनके परस्पर सम्मिलन से वायु की उत्पत्ति होती है। इसी एक प्रकार की वायु से ११ प्रकार की वायुएँ पैदा होती हैं जो कि रुद्र नाम से कही जाती हैं।

अध्यात्म में ये ११ रौद्र-प्राण निम्न प्रकार हैं—

"दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश एते यदास्मात् मर्त्यात् शरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति। श०प० ११।६।३।७

मनुष्य में १० प्राण हैं जोकि निम्न प्रकार हैं—"प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, देवदत्त, कृकल, धनंजय, नाग, कूर्म। ये १० प्राण मुख्य प्राण के साथ मिलकर हृदयस्थ मन में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। वहाँ से ही अपने-अपने विशिष्ट स्थानों में शक्ति का संचार करते हैं अर्थात् ये दसों प्राण मन और वाक् (स्थूल शरीर) के सम्पर्क से उत्पन्न होकर शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों के कार्यवाहक बनते हैं। यहाँ आत्मा शब्द से प्राणात्मा का ग्रहण करना चाहिये।

तैत्तिरीय शाखा के आधार पर त्रिलोकी के ११, ११ रुद्रों का स्वरूप-विवेचन

द्यावापृथिवी के तीनों लोकों में ११, ११ रुद्रों का निवास है संक्षेप में उनके स्वरूप-विवेचन के लिए तैत्तिरीय शाखा के आधार पर निम्न मन्त्र की व्याख्या यहाँ दर्शाते हैं। मन्त्र है—

"ये देवा दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थाप्सुषदो महिनैकादशस्थ ते देवा यज्ञमिमं जुषध्वमुपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणो जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिमभि सवनापाहि विष्णुस्त्वां पातु विशं त्वं पाहीन्द्रियेणैष ते योनि-र्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः। तै० सं० १।४।१०।१

इस मन्त्र का विनियोग आग्रयण ग्रह में किया गया है। आग्रयण यहाँ सोम है। सोम को ग्रहण करने वाले पात्र व अंग आदि भी आग्रयण ग्रह कहलाते हैं। यह विनियोग आपस्तम्ब के मत में है। बौधायन के मत में दूसरा ही मन्त्र है वह मन्त्र भी रुद्र-सम्बन्धी है, उसे भी हम यहाँ लिख देते हैं मन्त्र है—

"त्रिंशत्त्रयश्च गणिनो रुजन्तो दिवं रुद्राः पृथिवीं च सचन्ते। एकादशासो अप्सुषदः सुतं सोमं जुषन्तां सवनाय विश्वे। उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणो ऽसि स्वाग्रयणोजिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिमभि सवना पाहि विष्णुस्त्वां पातु विशं त्वं पाहीन्द्रियेणैष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः। तै० सं० १।४।१०।१

इन मन्त्रों के आधार पर निम्न विवेचन इस प्रकार है। पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक इन तीनों में ११, ११ रुद्रों का निवास है। तालिका में वे इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

प्राणादि		लोक-देवता	ब्रह्माण्ड	पिण्ड
|		|	|	|
१. प्राण अपान व्यानादि—१०	+	अग्नि	पृथिवी	उदर
२. ,, ,,	+	वायु	अन्तरिक्ष	हृदय
३. ,, ,,	+	आदित्य	द्युलोक	मस्तिष्क

ये प्राणादि दसों प्राण प्रत्येक लोक में उसके अग्नि आदि अधिष्ठातृदेव से मिलकर जब रुद्ररूप को धारण कर लेते हैं तब उपर्युक्त मन्त्रों का विनियोग सार्थक होता है। इन मन्त्रों का विनियोग आग्रयण ग्रह में किया गया है। आग्रयण सोमात्मा को कहते हैं। पृथिवी आदि जिस लोक में अथवा शरीर के जिस अंग में सोम को ग्रहण किया जायेगा वह अंग अथवा वह लोक आग्रयण ग्रह कहलायेगा। सोम को आग्रयण इसलिये कहते हैं कि जिस व्यक्ति में यह सोम आ पहुँचता है अथवा उसके जिस अंग में यह सोम अवतरित हो जाता है वह व्यक्ति अपने साथियों में अग्रणी व श्रेष्ठ बन जाता है। सोम के आने से उसका रौद्र रूप कुछ कम हो जाता है। तै० सं० ६।४।११ में आता है कि देवता यज्ञ में जो कुछ करते असुर भी वही करने लगते। देवों ने आग्रयण प्रमुख ग्रहों को देखा और उन ग्रहों को ग्रहण कर लिया इससे वे असुरों के आगे निकल गये। इसी प्रकार जो विद्वान् व्यक्ति आग्रयण ग्रहों का अवलम्बन करता है वह 'अग्रमेव समानानां पर्येति' वह अपने समकक्ष व्यक्तियों का अगुआ हो जाता है। आग्रयणाग्रा की सायणाचार्य यह व्युत्पत्ति देते हैं—**आग्रयणमग्रं प्रथमं येषां त आग्रयणाग्राः।** इस प्रकार सोम को यहाँ आग्रयण कहा है। यह सोम द्युलोक में सर्वत्र फैला हुआ है वहाँ से यह पृथिवी पर आता है। पृथिवी को मन्त्र में 'उपयाम' कहा है। कर्मकाण्ड की भाषा में यह स्थाली अर्थात थाली है जिसमें ऊपर से आते हुए सोम को ग्रहण किया जाता है इसीलिए कहा—

'हे सोम ! त्वमुपयामेन स्थालीरूपेण पार्थिवपात्रेण गृहीतोऽसि ग्राग्रयणनामासि" तै० सं० १।४।११ सायणाचार्य। यह सोम दो धाराग्रों में ग्राता है कहा भी है **'ग्राग्रयणं द्वयोर्धारयोर्ये देवास इति।** का० ६।६।१४

कल्प में भी कहा है—**'ये देवा दिवीत्युपरिष्टादुपयामया पुरस्तादुपयामेन वा यजुषां द्वाभ्य धाराभ्यां स्थाल्यामाग्रयणं गृह्णाति०'।** ग्रब प्रश्न है कि ये दो धारायें कौन-सी हैं? हमारे विचार में एक सूर्यरश्मि द्वारा दूसरे चन्द्ररश्मि द्वारा। इन दो धाराग्रों में यह सोम पृथिवी पर ग्राता है ग्रथवा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्रसृत सोम की एक धारा द्युलोक के बृहत् नामक साम के माध्यम से सतत रूप में सूर्य में पड़ रही है जिससे यह सूर्य देदीप्यमान है। दूसरी धारा पृथिवी की ग्रोर ग्राती है ग्रौर पृथिवी के सामरथन्तर द्वारा पृथिवी पर ग्राकर ग्रौषधि-वनस्पतियों की तथा ग्रन्य प्राणियों की उत्पत्ति में कारण बनती है। मानव-पिण्ड में भी इसी प्रकार दो धारायें सोम की ग्रा रही हैं एक मस्तिष्क में तथा दूसरी उदर में। शास्त्रकार कहते हैं कि—**'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान्गृह्णीयाद् यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान् यदि जगत् सामाऽऽग्रयणाग्रात् यद्युभयसामा यथाकामी"।** इसका तात्पर्य है कि यदि रथन्तर नामक पार्थिव प्राण=(साम) में सोम को ग्रहण करना है तो इन्द्र तथा वायु जो कि ग्रन्तरिक्ष के ग्रधिपति हैं जिनके क्षेत्र व माध्यम से सोम द्युलोक से पृथिवी की ग्रोर ग्रा रहा है उन इन्द्रवायू को ग्रागे कर सोम का ग्रहण करे। यह प्रक्रिया क्या होगी यह याज्ञिक काल में प्रचलित थी ग्रब विस्मृत हो चुकी है। जब रथन्तर साम के माध्यम से यह सोम हमारे पार्थिव रूप उदर में ग्रा पहुँचेगा तो वहाँ विद्यमान प्राणादि ११ रुद्र उस सोम का सेवन करते हैं जिससे उदर की सब व्याधियाँ ग्रादि दूर होकर तदन्तर्गत सब ग्रंग परिपुष्ट होते हैं। यदि यह सोम की धारा बृहत्साम ग्रर्थात् मस्तिष्क प्राण की ग्रोर प्रवाहित हो रही है तो 'शुक्राग्रान्' शुद्ध तथा प्रदीप्त मस्तिष्क के ग्रंगों से उसका ग्रहण करे। यदि सोम जगती छन्द में लेना हो तो ग्राग्रयण ग्रात्मा होगा ग्रर्थात् ग्रात्मा को ग्रागे करे। जगती छन्द में सब छन्दों का समावेश हो जाता है, **"जगती सर्वाणि छन्दांसि"** श० प० ६।२।१।३० ग्रतः सब छन्दों का ग्राग्रयण ग्रह ग्रात्मा ही हो सकता है। जब ग्रात्मा ग्राग्रयण ग्रह बनता है ग्रगुग्रा होता है तब सोम को ग्रहण करने के लिए मौन रहना होता है। सब इन्द्रियाँ ग्रन्तर्मुखी हो इस शरीर-यज्ञ का निर्वाह करती हैं। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में इस प्रकार कहा—

> वाग् वै देवेभ्योऽपाक्रामद् यज्ञायातिष्ठमाना ते देवा वाच्यपक्रान्तायां तूष्णीं ग्रहानगृह्णत साऽमन्यत वागन्तर्यन्ति वै मेति साऽऽग्रयणं प्रत्यागच्छत्तदाग्रयणस्याऽऽग्रयणत्वम्। तस्मादाग्रयणे वाग् विसृज्यते यत् तूष्णीं पूर्वे ग्रहा गृह्यन्ते। तै० सं० ६।४।११

ये देव ग्रर्थात् इन्द्रियाँ जब इस शरीर-यज्ञ में प्रवृत्त हुई तब यह वाक् उन

देवों को छोड़कर चली गई तब ये इन्द्रिय-देव चुपचाप अपने-अपने ग्रहों अर्थात् अपने-अपने केन्द्रस्थानों में जा बैठे। वाक् ने यह देखा कि ये देव मेरी उपेक्षा कर रहे हैं तो वह आत्मरूप आग्रयण के पास जा पहुँची। यह अवस्था **"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।"** विचारशून्य की अवस्था है। यहाँ आग्रयण आत्मा को कहा गया है क्योंकि **'साऽऽग्रयणं प्रत्यागच्छत् तदाग्रयणस्याग्रयणत्वम्'** यह वाक् आत्मरूप आग्रयण के प्रति जाती है अतः आत्मा आग्रयण है। कहा भी है **'आत्मा वा एष यज्ञस्य यदाग्रयणः'** तै० सं० ६।४।११। आत्मतत्त्व का स्थान हृदय है, हृदय अन्तरिक्ष है। इस प्रकार इन तीनों क्षेत्रों अर्थात् तीनों लोकों में यह सोम अवतरित होता है। अथवा यह कह सकते हैं कि अन्तरिक्ष में तो सोम व्याप्त रहता है वहाँ से उसकी दो धारायें चलती हैं एक मस्तिष्क (द्युलोक) की ओर और दूसरी नीचे उदर पृथिवी की ओर आती है। इसी दृष्टि से शास्त्रों में सोम की दो धाराओं का वर्णन हुआ है। इस सोम को तीनों लोकों में विद्यमान रुद्र प्राण सेवन करते हैं तो उस सोम के प्रभाव से वे दिव्यशक्ति-सम्पन्न हो तत्स्थान में विद्यमान व्याधि तथा अन्य आसुरी शक्तियों का विनाश करते हैं।

राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में रुद्र—तै० सं० २।३।५

शास्त्रों में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति सोम के रोहिणी में अत्यधिक आसक्ति से दर्शायी है। तै० सं० २।३।५ में आता है कि प्रजापति की ३३ दुहिताएँ थीं जिनमें सात कृत्तिकाएँ तथा २६ अश्विनी आदि अन्य तारायें मिलकर ३३ हो जाती हैं। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में सात कृत्तिकाओं के निम्न प्रकार नाम गिनाये हैं— अम्बा, दुला, नितत्नि, रभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, चुपुणीका। कथानक का सार यह है कि प्रजापति के मना करने पर भी सोम रोहिणी में ही आसक्त रहा अन्य पत्नियों की उसने अवहेलना की जिससे राजयक्ष्मा की उत्पत्ति हुई। सोम चन्द्रमा है, उसका पक्षों में वृद्धि, ह्रास आदि इस कथानक द्वारा निर्दिष्ट हुआ है और अनेक विद्वानों ने इस प्राकृतिक घटना को दर्शाया भी है। हम यहाँ मनुष्य में इसके रहस्य को दर्शाते हैं। मनुष्य में सोम वीर्य है यह मनस् का रेतस् है। **'मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'**। अतः सोम से मन तथा रेतस् दोनों का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि जहाँ मन होगा वहाँ रेतस् भी होगा। मन यदि मस्तिष्क में है तो रेतस् की गति भी स्वभावतः मस्तिष्क की ओर होगी। यदि मन 'रोहिणी' = स्त्री-योनि में अधिक आसक्त है तो रेतस् के क्षय से मनुष्य में राज्ययक्ष्मा की उत्पत्ति स्वाभाविक है। रोहिणी सन्तति रूप में रोहण करती है, रज का स्राव भी करती है। अतः रजोगुण-प्रधान लाल रंग से चिह्नित रुद्राग्नि अत्यधिक सम्भोग से क्रुद्ध हो सोम (वीर्य) को खा जाती है इससे मनुष्य को राजयक्ष्मा की बीमारी आ घेरती है। राजयक्ष्मा को दूर करने का उपाय अमावस्या से प्रारम्भ करने का विधान हुआ है।

एक उपाय तो यह है कि शरीराभ्यन्तर्वर्ती सभी नक्षत्रों (अंगोपांगों) को समान दृष्टि से देखना एकसमान व्यवहार करना **'यज्जायाभ्योऽविन्दत्तज्जायेन्यः'** क्योंकि जाया के कारण यह व्याधि पैदा होती है अतः इसे 'जायेन्य' भी कहते हैं। इसे दूर करने का एक उपाय तो यह है **'समावच्छ एव न उपाय'** अर्थात् सबसे एकसमान व्यवहार करना। 'रोहिणी' स्त्री-योनि है, इससे वीर्य शरीर से बाहिर जाता है पर अन्य नक्षत्र तो शरीर के अन्दर हैं वहाँ उन्हें वीर्य की उपलब्धि हो तो बीमारी का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा उपाय यह है कि आदित्य-सम्बन्धी चरु का निर्माण कर अमावस्या से इष्टि आरम्भ करे। क्योंकि अमावस्या के दिन सोम आदित्य में गया हुआ होता है। अमावस्या के दिन आदित्य-किरणें सोम से प्रतिक्षिप्त हो भूमि पर न आकर आदित्य के प्रति लौट जाती हैं। इस इष्टि में निम्न मन्त्र बोलने का विधान हुआ है।

पुरोनुवाक्या—नवो नवो भवति जायमानो०

याज्या—यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति०

यह इष्टि अमावस्या से क्यों प्रारम्भ की जाती है ? इसका संक्षिप्त समाधान यह है कि पूर्णिमा के दिन पार्थिव समुद्र तथा शरीरान्तर्गत वीर्य आदि द्रव भाग ज्वार से प्रभावित होते हैं। पूर्णिमा में वीर्य स्वभावतः उफनकर बाहिर भागने का प्रयत्न करता है। पर अमावस्या के दिन वह शान्त रहता है जो व्यक्ति रात-दिन वासनाओं में लिप्त रहता है उसकी अलग बात है परन्तु प्रकृति काल तथा नक्षत्र आदि जीवन-निर्माण में मनुष्य के सहायक भी होते हैं। इस दृष्टि से अमावस्या वीर्यस्तम्भन व वासना के शान्त करने में सहायक है। शनैः शनैः वीर्यरक्षा तथा उसकी नवोत्पत्ति से राजयक्ष्मा भी दूर हो जाता है।

पाटा औषधी में रोग-विनाशक रुद्र—

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥ अथर्व २।२७।६

(रुद्र) व्याधि आदि शत्रुओं को रुलाने वाली है पाटा (पाठा) हे औषधे ! (जलाष भेषज) सुखकर औषध। (नीलशिखण्ड) नील वर्ण की शृंग वाली तथा (कर्मकृत्) प्रतिकार कर्म करने वाली (प्राशं) जो व्याधि मुझे खा रही है या मुझे घेरे हुए है उसका तू (प्रतिप्राशः) उलटा खा जाने वाली या उसे व्याप्त करने वाली हो और (जहि) उन्हें नष्ट कर दे तथा हे औषधे ! तू उन्हें (अरसान् कृणु) नीरस व सारहीन कर दे।

जलाषभेषज—जलाषं—सुखनाम (निघं० ३।६)

प्राशं—प्रकृष्टतया आशं अश् भोजने (क्र्यादि०) यद्वा—अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते **च** (स्वादि०)।

इस सूक्त में पाटा औषधि के गुण व शक्ति का वर्णन है। आयुर्वेद-ग्रन्थों में भी इसका निम्न प्रकार वर्णन हुआ है उदाहरणार्थ भावप्रकाश निघण्टु का उद्धरण यहाँ देते हैं—

पाटोष्णा कटुकातीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः।
हन्ति शूलज्वरर्छदि कुष्ठातिसारहृदरुजः।
दाहकण्डू विष-श्वासकृमिगुल्मगरव्रणान् ।।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि यह औषध अनेकों रोगों की विनाशक है।

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनुसंहितः।।

अथर्व १३।६।२६

(स रुद्रः) वह रुद्र भगवान् (वसुवनिः) ऐश्वर्यप्रदाता (वसुदेये) ऐश्वर्य के देने में तथा (नामोवाके) 'नमः' पद को जिसके लिए कहा जाता है—ऐसे में (वषट्कारः) ओज व बल वाला स्वाहा (अनुसंहितः) अनुरूप मिला हुआ है।

वसुवनिः—वसूनां धनानां सम्भाजकः।

वसुदेये—वसूनि द्रव्याणि देयानि यस्मिन्।

नमोवाके—'नमः' शब्दस्य वचनानि यस्मिन्।

अनुसंहितः—आनुकूल्येन मिलितः। **सं**+हि गतौ वृद्धौ च (स्वादि०)

वेद में नमः का प्रयोग रुद्र के लिए ही आता है। अन्य देवों के प्रति अति न्यून है जो नगण्य है। रुद्र में सदा वषट्कार की सत्ता रहती है 'वषट्कार के उच्चारण तथा क्रिया आदि में सदा ओज व बल होना चाहिये।

रुद्र से रजत (चाँदी) की उत्पत्ति

शास्त्रों में रजत की उत्पत्ति रुद्र से मानी है। उदाहरणार्थ तै० सं० १।१।५।१ का प्रकरण यहाँ दर्शाते हैं। "देवों तथा असुरों में परस्पर संघर्ष हो रहा था देवों ने अपना सब ऐश्वर्य अग्नि को सौंप दिया और कहा कि जब हम युद्ध में विजयी हो जायेंगे तब वापिस ले लेंगे कृपया यह हमारा ऐश्वर्य आप सम्भालकर रखें। वह ऐश्वर्य देखकर अग्नि के मन में खोट पैदा हुआ वह सब ऐश्वर्य लेकर भाग खड़ा हुआ। देव विजयी हुए, उन्होंने देखा कि अग्नि हमारा ऐश्वर्य लेकर भागा जा रहा है उन्होंने दौड़कर उसे जा पकड़ा और अपना ऐश्वर्य छीन लिया। ऐश्वर्य छिन जाने से वह रोया। रोने से जो आँसू गिरे वे रजत रूप में परिणत हो गये। और क्योंकि अग्नि ने रुदन किया इसलिए उसका नाम रुद्र पड़ा, कहा भी है—**'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्।'** रजत के सम्बन्ध में यहाँ एक और बात कही जो विचारणीय है, वह यह है **'तस्माद् रजतं हिरण्यमदक्षिण्यमश्रुजं हि यो बर्हिषि ददाति पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ति"** तै० सं० १।१।५।१ यह रजत

हिरण्य की कोटि में है पर यह दक्षिणा में नहीं देना चाहिये क्योंकि यह अग्नि की आँसुओं से पैदा हुआ है पर जो यज्ञ में दक्षिणा रूप में देता है उसके घर में वर्ष की समाप्ति तक कोई न कोई रोने का कारण पैदा हो जायेगा।

इस कथानक का रहस्य यही प्रतीत होता है कि सृष्टि-निर्माण के समय देवों अर्थात् ज्योतिर्मय तत्त्वों तथा असुरों-तमःप्रधान तत्त्वों में जो संघर्ष होता है उसमें दोनों के मेल में ज्योतिर्मय तत्त्व अधिक होते हैं क्योंकि संघर्ष से अग्नि पैदा होती है उसके अन्दर छीनाझपटी तथा अग्नि की गरमी से सृष्टि-निर्माण के वे तत्त्व पिघलते हैं ये ही अग्नि के अश्रु हैं। इस रजतोत्पत्ति की प्रक्रिया को कथानक का रूप दे दिया गया है। पर दक्षिणा में चाँदी क्यों नहीं देनी चाहिये यह विचारणीय है। सुवर्ण की उत्पत्ति में भी प्रायः ऐसी ही प्रक्रिया होती है पर सुवर्ण दक्षिणा में दिया जाता है चाँदी नहीं देनी चाहिये ऐसा शास्त्रों का तात्पर्य है। मत्स्य-पुराण व निर्णयसिन्धु आदि में भी इसी की पुष्टि की गई है, वहाँ आता है—**'शिवनेत्रोद्भवं यस्माद् रजतं पितृवल्लभम्। अमंगलं तद्यत्नेन देवकार्येषु वर्जयेत्।** क्योंकि शिव के नेत्र से उत्पन्न चाँदी पितरों को प्यारी है इससे वह देव-कार्यों में मंगलप्रद नहीं है अतः देव-कार्यों में वह दक्षिणा रूप में वर्जित है।

रुद्र के विभिन्न रूपों का शरीरांगों से सम्बन्ध

रुद्र के महादेव, पशुपति आदि जो विभिन्न रूप हैं उनका मानव-शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में निवास है या सम्बन्ध है, ऐसा मन्त्रों से ज्ञात होता है। उदाहरण के रूप में शुक्लयजु० ३९।८ तथा तै० सं० १।४।३६ मन्त्रों के आधार पर तालिका में इस प्रकार रख सकते हैं।

शुक्लयजु०			तै० सं०		
१. अग्नि	···	हृदय	१. चित्त	···	सन्तान
२. अशनि	···	हृदयाग्र	२. भव	···	यकृत्
३. पशुपति	···	सम्पूर्ण हृदय	३. रुद्र	···	तनिमा
४. भव	···	यकृत्	४. पशुपति	···	स्थूल हृदय
५. शर्व	···	दोनों मत्स्न (हृदय-पार्श्व के अवयव)	५. अग्नि	···	हृदय
६. ईशान	···	मन्यु	६. रुद्र	···	लोहित
७. महादेव	···	अन्तःपार्श्व	७. शर्व	···	दोनों मत्स्न
८. उग्रदेव	···	वनिष्ठु (आन्त्र विशेष)	८. महादेव	···	अन्तःपार्श्व

इस उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि शुक्लयजुर्वेद तथा तैत्तिरीय संहिता के रुद्र-रूपों के निवास स्थानों में कुछ भिन्नता है। इन शरीराङ्गों के स्वरूप व

कार्यों के आधार पर रुद्र के अपने भिन्न-भिन्न रूपों का स्वरूप विवेचन व उनके कार्यों का सम्यग् ज्ञान हो सकता है।

अभिचार

रुद्र-सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा अभिचार कर्म का विधान शाखासंहिताओं में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। प्रश्न है कि अभिचार कर्म क्या है?

शब्दकल्पद्रुम में आता है कि "अभिचारः (पुं०) आभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्यकरणं—अभिचर—भावे घञ्। हिंसाकर्म इत्यमरः। अथर्ववेदोक्तं मन्त्रयंत्रादिनिष्पादितमारणोच्चाटनादिहिंसात्मकं कर्म। इति भरतः। शत्रु के वध के लिए उसको लक्ष्य कर कार्य करना अभिचार कर्म कहलाता है। इस अभिचार कर्म में अथर्ववेदोक्त मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। अथवा मन्त्रादि साधनों द्वारा मारण-उच्चाटनादि हिंसाकर्म किया जाता है। इस अभिचार कर्म में मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटण तथा वशीकरण आदि कर्म परिभाषित हुए हैं। इस कर्म में कई प्रकार के मन्त्रादिकों का प्रयोग होता है व कुछ विशेष विधियों का भी अवलम्बन किया जाता है। यह विषय यहाँ प्रमुख रूपेण विचारणीय नहीं है इसलिए इस अभिचार कर्म के सम्बन्ध में इतना ही निवेदन कर 'शत्रु-विनाश में रुद्र-सम्बन्धी अभिचार' प्रकरण को दर्शाते हैं।

शत्रु-विनाश में रुद्र-सम्बन्धी अभिचार

तैत्तिरीय संहिता १।३।१४ में आता है कि जो व्यक्ति अपने शत्रु का विनाश करना चाहता है उसे चाहिये कि वह रुद्र-सम्बन्धी अभिचार इष्टि करे। सर्वप्रथम वह रुद्र को देने के लिये आठ कपालों वाला पुरोडाश तैयार करे और रुद्राग्नि में उसकी आहुति दे। अभिचार इष्टि के पूर्ण होने पर शत्रु तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा या विपत्ति में पड़ जायेगा। कहा भी है—"**अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपदेभिचरन्नेषा वा अस्य घोरा तनूर्यद्रुद्रस्तस्मा एवैनमावृश्चति ताजगार्तिमार्च्छति**" तै० सं० २।४।२

अग्नि ही घोर बनकर रुद्र रूप को धारण करती है। इस अभिचार में पुरोनुवाक्या तथा याज्या रूप में जिन दो मन्त्रों का विनियोग होता है वे निम्नप्रकार हैं—

पुरोनुवाक्या—रुद्र देवता की स्तुति, आराधना व गुण-वर्णन।

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विधतः पासि नुत्मना॥

हे अग्ने! तुम जब रुद्र रूप को धारण करती हो तब तुम असुर अर्थात् उग्र बल वाली होती हो, तुम महान् द्युलोक से सम्बन्ध रखती हो, मरुतों के तुम बल

हो, मरुतों के सम्पर्क से ईश बनती हो। प्राणों के लिये कल्याणमयी बन अरुण वर्ण के वायुवेग वाले अश्वों=(प्राणबलों) द्वारा गति करती हो। हे विधाता! तुम पुष्टिप्रदाता पूषा बन स्वयमेव अपने भक्तों की पालना व रक्षा करती हो।

यहां मन्त्र द्वारा अग्नि के उस रुद्र रूप की आराधना की गई है जो असुर बन भक्त के शत्रु का विनाश करती है और भक्त का पालन-पोषण करती है। इससे अन्तरिक्ष तथा बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना की गई है, ऐसा समझना चाहिये।

शंगयः—शं+गयः।

याज्या—रुद्राग्नि के यजन का मन्त्र।

अब याज्या मन्त्र निम्न प्रकार है—

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥

द्यावापृथिवी का सत्ययजन करने वाले अध्वर के देदीप्यमान होता रुद्र को हे भक्तजनो! तुम उसे होता रूप में स्वीकार कर लो।

यह होता रुद्र अग्निरूप है, इस रुद्राग्नि को जो कि हिरण्यमय रूप वाले हैं उसे अपनी अज्ञान व अचेतना की अवस्था के विस्तार से पूर्व ही अपनी रक्षा के लिये नियुक्त कर लो।

तनयित्नोः—तनु विस्तारे णिजन्तात् इत्नुच्।

अचित्तात्—अविद्यमानं चित्तं यत्र तस्मात्। चेतनारहितात्। चिती संज्ञा ने। मनुष्य में अचेतना की अवस्था कई अवसरों पर पैदा होती है। काम, क्रोध, भय आदि विकारों में जरा, व्याधि आदि के समय मनुष्य का चित्त डांवाडोल हो जाता है। मन डूब जाता है, बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। वह शत्रु के भय से भयभीत हो अपनी संज्ञा तक खो बैठता है। मन्त्र कहता है कि अचित्त की अवस्था न आवे, इससे पूर्व रुद्र को अपना बना लो।

इस प्रकार उपरोक्त दो मन्त्रों का विनियोग होता है। रुद्र देवता का जप व नामस्मरण द्वारा आह्वान करने वालों को इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि रुद्र के आह्वान पर अपने किसी शत्रु, व्याधि व पशु का नाम निर्देश अवश्य करें जिसका वह रुद्र आकर हनन करे। यदि किसी पशु व शत्रु का नाम निर्देश नहीं किया तो यजमान ही उसका पशु हो जायेगा। यह सब अभिचार-इष्टि में होता है। तै० सं० ६।६।४ में ११ यूपों के वर्णन-प्रसंग में 'उपशय' का वर्णन हुआ है। यह 'उपशय' भी एक यूप माना गया है पर इस उपशय यूप का कोई पशु नहीं है अतः यजमान को चाहिये कि वह पशु व किसी शत्रु का निर्देश अवश्य कर दे नहीं तो यजमान ही पशु हो जायेगा। और रुद्र का प्रकोप उस पर पड़ जायेगा। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में इस प्रकार कहा—**"सर्वे वा अन्ये यूपाः**

पशुमन्तोऽथोपशय एवापशुस्तस्य यजमानः पशुर्यन्न निर्दिशेदार्तिमार्च्छेद् यजमानोऽसौ ते पशुरिति ते पशुरिति यं द्विष्याद् यमेव द्वेष्टि तमस्मै पशुं निर्दिशति"
अर्थात् ११ जो यूप हैं सब पशु वाले हैं जिनमें पशु बांधे जाते हैं उनमें केवल एक उपशय यूप ऐसा है जिसका कोई पशु नहीं है। यदि यजमान किसी पशु का निर्देश न करेगा तो स्वयं यजमान उस रुद्र का पशु हो जायेगा और रुद्र का कोपभाजन बन जायेगा। अतः यजमान को चाहिये कि जिससे वह द्वेष करता है और जो उससे द्वेष करता है उसका नाम निर्देश कर दे। आगे यह भी कहा कि यदि यजमान का कोई शत्रु व व्याधि आदि न हो तो कहा—

"यदि न द्विष्यादाखुस्ते पशुरिति ब्रूयान्न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यान्।"
तै० सं० ६।६।४

अर्थात् शत्रु के अभाव में "आखुस्ते पशुः" चूहा तेरा पशु है, इससे वह ग्राम्य तथा आरण्य पशुओं का हनन नहीं करेगा।

यह अभिचार के प्रयोग में याज्या रूप में पहिले दर्शाया गया था अब सामान्य रूप में इसकी व्याख्या करते हैं।

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ ऋ० ४।३।१

(अध्वरस्य) सृष्टियज्ञ के (राजानं) देदीप्यमान (रोदस्योः) द्यावापृथिवी के (सत्ययजं) सत्य का संगम अर्थात् मेल कराने वाले (हिरण्यरूपं) हिरणमय रूप वाले उस (होतारं रुद्रं अग्निं) होता रुद्राग्नि को हे भक्तजनो! (वः) तुम लोग (अचित्तात् तनयित्नोः पुरा) अज्ञान के फैलने से पहिले-पहिले (अवसे) अपनी रक्षा के लिए (आकृणुध्वम्) चुन लो।

सत्ययजं—सत्यं यजति यः तम्।

अचित्तात्—न चित्तं यस्मिन् तस्मात् चेतनारहितात्।

तनयित्नोः—तनु विस्तारे इत्नुच्।

अध्वर न+ध्वर ध्वरति हिंसाकर्मा। अध्वर वे यज्ञ हैं जिनमें हिंसा नहीं होती। ये निर्माणयज्ञ हैं। इनमें भी कुछ-कुछ हिंसा होती है पर प्रमुखता निर्माण की होती है। हिंसा उन्हीं की होती है जो निर्माण में बाधक हैं विजातीय तत्त्व हैं। विजातीय तत्त्वों—आसुरी शक्तियों को नष्ट करने में हिंसा नहीं है। ऐसा अध्वर यज्ञ सृष्टि-निर्माण का भी यज्ञ है, जिसमें रुद्र भगवान् द्यावापृथिवी के निर्माण में सत्य तत्त्वों को ला-लाकर जोड़ते हैं। ये रुद्र हिरण्यरूप हैं, सुवर्णीय आभा वाले हैं जो कि सृष्टि के प्रारम्भ की हिरण्यगर्भ की अवस्था को द्योतित करते हैं। अथवा ये अध्यात्म के आन्तरिक विज्ञानमय क्षेत्र को सूचित करते हैं। अतः अचित्त—अचेतनता की अवस्था आने से पूर्व अन्तर्मुख होकर उस हिरण्यरूप रुद्र के दर्शन कर लेने चाहिए। ज्यों-ज्यों मनुष्य बहिर्मुखी होता जाता है त्यों-त्यों अचित्त का

वातावरण फैलता जाता है। परन्तु मनुष्य जब अचित्त अवस्था में आ पहुंचता है और पाप करने लगता है तो उस रुद्र भगवान् का प्रकोप उस पर आ पड़ता है। इस अवस्था में वह रुद्र भगवान् को किस मुंह से बुलावे ? इसी तथ्य को निम्न मन्त्र में दर्शाया है—

"ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने" ऋ० ४।३।६

हे अग्ने ! बता, मनुष्य-घाती उस रुद्र भगवान् को मैं कैसे मुंह दिखाऊं, उसकी स्तुति कैसे करूं ? और (ब्रवः) कद् रुद्राय सुमखाय हविर्दे ऋ० ४।३।७ (सुमखाय) सृष्टि-यज्ञ के रचयिता (हविर्दे) दातव्य वस्तुओं को हवि रूप में निरन्तर देने वाले उस रुद्र को कैसे मनाऊं ? हे अग्नि ! तू मुझे बता मेरा मार्गदर्शन कर।

उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति में अग्नि है वही ऐसी प्रार्थना कर सकता है और वही उस हिरण्यरूप के दर्शन पा सकता है।

"रुद्र यत् ते जनिम चारु चित्रम्" ऋ० ५।३।३

हे अग्नि ! तेरा रुद्र रूप में अद्भुत तथा सुन्दर जन्म होता है। "स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः" ऋ० ५।५१।१३ वह रुद्र हमें पाप से बचाकर हमारा कल्याण करे। रुद्र भगवान् पाप से कैसे बचायेगा ? भयंकर दण्ड देकर। परन्तु दण्ड कौन लेना चाहता है ? कोई नहीं। पर जिस व्यक्ति में उस रुद्र भगवान् के दर्शन की तीव्र अभीप्सा जागृत हो चुकी है वह भयंकरतम दण्ड से भी घबरायेगा नहीं। वह दण्ड को अपने कल्याण का साधन समझेगा।

"अधा पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वसः" ऋ० ५।५२।१६ (शिक्वसः) शक्तिमान्, अन्तर्ज्ञान से प्रकाशमान अथवा वीर्य के स्वशक्ति-स्थानों में सिंचन में समर्थ व्यक्ति (इष्मिणं) पुत्र की चाहना वाले (पितरं) उस पालक पिता रुद्र को (वोचन्त) बोलते हैं अर्थात् उससे वार्तालाप कर सकते हैं।

शिक्वसः—प्रकाशमानस्य (स्वामी दयानन्द) शीक्ृ सेवने (भ्वा०) क्वनिप् धातोर्ह्रस्वत्वं छान्दसम्।

इष्मिणं— इष इच्छायाम् मक् प्रत्यये इष्मः ततो मत्वर्थे इनिः। इष्मः-पुत्रेच्छा विद्यते यस्मिन् सः।

तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य। ऋ० ५।४२।११

हे भक्त ! (तमु ष्टुहि) निश्चय से उसकी स्तुति कर (यः) जो (स्विषुः) उत्तम बाण वाला है और (सुधन्वा) उत्तम धनुर्धारी है (यः) जो (विश्वस्य भेषजस्य) समग्र औषध-समूह का (क्षयति) निवास-स्थान है (महे सौमनसाय) महान् सौमनस्य के लिए (रुद्रं यक्ष्व) रुद्र का यजन कर और (असुरं देवं) उस देव असुर-प्राणबल सम्पन्न रुद्र को (नमोभिः) नमस्कार-वचनों से (दुवस्य) परिचर्या कर अर्थात् उसे प्रसन्न कर।

मनुष्य को जीवन में सौमनस्य के लिए रुद्र का यजन करने का आदेश दिया है। यह इतनी विचित्र उक्ति है कि वह श्रेष्ठ धनुर्धारी होता हुआ संहारक है। व्याधिजनक कृमि-कीट उसी के रूप हैं और फिर व्याधियों को नष्ट करने की औषध भी उसी के पास है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्याधियाँ पैदा करता है वह उनके हरने के उपाय भी जानता है।

नमोभिर्वा ये दधते सुवृक्तिं स्तोमं रुद्राय मीडहुषे सजोषाः। ऋ. ५।४१।२

(सजोषाः) सामन प्रीति सेवी परस्पर प्रेम से रहने वाले (ये) जो सज्जन (मीडहुषे रुद्राय) सुख की वृष्टि करने वाले रुद्र के लिये (नमोभिः) नमस्कार-वचनों के साथ (सुवृक्तिं) दोषों को श्रेष्ठ रूप में दूर करने वाले (स्तोमं) स्तुतिसमूह को (दधते) धारण करते हैं।

सुवृक्तिम्—सुष्ठुवृजते त्यजन्ति दोषान् यस्मात् तम् (वृजी वर्जने)।

यजन्ते अस्य सख्यं वयश्च नमस्विनः स्व ऋतस्य धामन्।
विपृक्षो बाबधे नृभिः स्तवान इदं नमो रुद्राय प्रेष्ठम्।। ऋ.७।३६।५

(नमस्विनः) उस रुद्र भगवान् के प्रति नमने वाले भक्तजन (ऋतस्य) सूक्ष्म रूप ऋत-प्रदेश के (स्वधामन्) अपने धाम में (अस्य) इस रुद्र की (सख्यं) मित्रता को और (वयश्च) उसमें व्याप्ति, अपने अन्दर उसकी उत्पत्ति व व्याप्ति को (यजन्ते) प्राप्त करते हैं। (नृभिः स्तवानः) मनुष्यों द्वारा स्तुति किया गया वह रुद्र (वृक्षः) अपने सम्पर्क व सम्बन्ध को (विबावधे) विशेष रूप से बांधता है। (इदं प्रेष्ठं नमः रुद्राय) यह हमारा अत्यन्त प्रिय नमस्कार व नमन का भाव रुद्र के प्रति है।

वयः—वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। बाबधे—बध्नाति—बन्ध बन्धने (क्र्यादि०) धातोर्लिट् तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घः। व्यत्ययेनात्मनेपदम्।

पृक्षः—पृची सम्पर्के (रुधादि०) औणादिक क्सः प्रत्ययः। यद्वा पृषु सेचने।

यहाँ इस मन्त्र में यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि रुद्र की सख्यता व मित्रता उस समय होती है जब मनुष्य ऋत के धाम में पहुंच जाता है। ऋत का धाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है। जिससे मनुष्य को सत्यासत्य का ज्ञान हो जाता है। ऐसी अवस्था में ही मनुष्य रुद्र से सम्पर्क करता है अपने में उसे धारण करता है और वह रुद्र उस ऋत से प्रकाशित भक्त का मित्र बनकर उसकी सब कामनाओं को पूर्ण करता है।

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चरानमीवो रुद्र जासु नो भव।।

ऋ० ७।४६।२

(सः) वह रुद्र (क्षम्यस्य) सहने योग्य (जन्मनः) इस पार्थिव जन्म के (क्षयेण) निवास द्वारा तथा (दिव्यस्य) दिव्यता के (साम्राज्येन) साम्राज्य द्वारा (चेतति)

मनुष्य को जताता है, बोध दिया करता है। हे रुद्र (अवन्तीः) रक्षा साधनों द्वारा (अवन्) हमारी रक्षा करता हुआ तू (नः दुरः उप) हमारे गृह के द्वारों के समीप (चर) विचर। हे रुद्र! (नः जासु) हमारे उत्पत्ति करने वाली स्त्रियों में व सन्ततियों में (अनमीवः भव) रोगरहित हो अर्थात् उन्हें नीरोग कर।

क्षम्यस्य—क्षन्तुमर्हस्य—(क्षमूष सहने) भ्वादि०(जाः—या जनयति सा, जा अपत्यनाम) (निघं० २।२)

चेतति—संज्ञापयति, दुरः—द्वाराणि (निघं. ६।६)

मानव-जन्म में बड़े कष्ट हैं वेदमन्त्र कहता है कि यह कष्टदायक जन्म सहने योग्य है एक तो यह कर्मफलप्रदाता है, दूसरे इस जन्म के कष्टों से दुःखित हो मनुष्य दिव्य जन्म की ओर झुकता है। सांख्यदर्शन इसी पर आधारित है। (दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा०)। वह रुद्र दिव्यता का साम्राज्य भक्तजन के समक्ष खोल देता है।

मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीडितस्य।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

ऋ० ७।४६।४

हे रुद्र! (मा नः वधीः) हमें मत मार (मा परा दाः) न परे फैंक (ते हीडितस्य) तुझ अनादृत व क्रुद्ध के (प्रसितौ) प्रकृष्ट अधिक बन्धन में (मा भूम) हम न हों। (जीवशंसे) जीवों द्वारा प्रशंसनीय (बर्हिषि) परिबृंहण में, सर्वातिशायी उन्नति में (नः आ भज) हमें रख (यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः) हे देवो! तुम सब कल्याणों द्वारा हमारी रक्षा करो।

प्रसितौ—प्र+षिञ्् बन्धने। हीडितस्य अनादृतस्य, हेड़ अनादरे।

प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते॥

ऋ० १०।९२।५

(ययिना) गतिशील (रुद्रेण) रुद्र के प्रभाव से (सिन्धवः) ये समुद्र नदी नद आदि (प्रयन्ति) प्रकृष्ट रूप से चल रही हैं। और ये सिन्धु (महीं) इस महान् पृथिवी को (अरमतिं) मनुष्यों द्वारा न रमण की जाती हुई रूप में (तिरः दधन्विरे) अन्तर्धान किये रहते हैं। (येभिः) जिन अन्तरिक्षस्थ तथा भूतल समुद्र के प्रभाव से (परिज्मा) पृथ्वी के चारों ओर (परियन्) गति करता हुआ उस विस्तृत (ज्रयः) शक्तियों का वेग (विश्वमुक्षते) विश्व को सिंचन करने अर्थात् पैदा करने वाले जठरे इस रुद्र भगवान् के उदर में (विरोरुवत्) विशेष रूप से निरन्तर शब्द करता रहा है।

ययिना—या प्रापणे। **तिरः** अन्तर्धाने! **परिज्मा** परितः सर्वतो ज्मायां भूमौ गच्छति यः सः। **अरमतिं** अरमणम्। **ज्रयः** वेगः ज्रयति गतिकर्मा निघं०२।१४

उस रुद्र भगवान् के पीछे-पीछे ये सब नदी-नद अनुचर की तरह गति कर रही हैं। इन्होंने इतनी भूमि अपने जल के तह के नीचे दबायी हुई हैं कि जहां मनुष्यों का रमण नहीं है। अपने जल की पाट से भूमि को अन्तर्धान किया हुआ है। यह विश्व उस रुद्र भगवान् के जठर में सिंचित हुआ उबल रहा है, पक रहा है। जिससे एक विशेष शब्द निरन्तर निकलता रहता है और उसी रुद्र के प्रभाव से वायु आदि नाना शक्तियों के वेग बहते रहते हैं।

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टनः।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः॥

ऋ० १०।९२।९

(शिक्वसे) शक्ति देने वाले (क्षयद्वीराय) वीर पुरुषों के आश्रय (रुद्राय) रुद्र भगवान् को (वः) तुम (अद्य) आज (स्तोमं) स्तुतिसमूह (नमसा) नम्र भाव से झुककर (दिदिष्टन) देवो। (येभिः) जिन (एवयावभिः) विज्ञान-रक्षण तथा गति आदि प्राप्त कराने वाले (निकामभिः) नित्य तथा नियत कामनाओं द्वारा वह (स्ववान्) ज्योति रूप व आत्मीय जनों वाला (स्वयशा) अतिशय यश वाला वह (शिवः) शिव (दिवः सिषक्ति) द्युलोक का सेवन करता है।

सिषक्ति—सिंचति, समवैति, सेवने वा (स्वामी दयानन्द) षच समवाये, सिषक्तु—सेवताम् निरु० ३।२१

स्वयशाः—शक्तिमते, सिंचनशीलाय—शीकृ सेचने (भ्वा०) शक्लृ शक्तौ।

दिदिष्टन—दिश अतिसर्जने (तुदादि०)।

निकामभिः—निश्चिताभिः कामनाभिः।

यह सूर्य ही द्युलोकस्थ शिव है। सूर्य की आराधना शिव-स्तुति है। ज्ञान-विज्ञान, शक्ति तथा जलादि का पृथिवी पर सिंचन करता रहता है, हमारी कामनाओं को वह निश्चित रूप से पूरी करता है। अतः हमें पवित्र भावना से उसकी स्तुति करते रहना चाहिये।

परा रुद्रावति ख्यतम् ऋ० ८।२२।१४

यह रुद्र भगवान् रुद्रों द्वारा मनुष्यादि प्राणियों को दुःख-सुखादि दिया करता है। इसका तात्पर्य यह है कि सांप, बिच्छू आदि हिंसकप्राणी तथा चोर, डकैत आदि उसी रुद्र भगवान् द्वारा प्रेरित होते हैं। इस तथ्य को दर्शाने वाले कई मन्त्र हैं। उदाहरणार्थ कुछ इस प्रकार हैं—

शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः० ऋ० ७।३५।६
रुद्रं रुद्रेभिरावहा बृहन्तम्० ऋ० ७।१०।४
रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृडयाति नः० ऋ० १०।६६।३

ये कुछ मन्त्र-पद हमने यह दर्शाने के लिये दिये हैं कि यह रुद्र भगवान् रुद्रों

को प्रेरित करता है। प्रश्न पैदा होता है कि इन सांप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु हमें काटने आवें तो यह समझकर कि ये रुद्र भगवान् ने भेजे हैं हम निष्क्रिय हो उनसे अपने को कटवा लें ? कभी नहीं, हममें भी रौद्र-शक्ति है, हम आक्रमणकारी का मुकाबिला करें और उसे अपने ऊपर हावी न होने दें। मनुष्य स्वभावतः पतन की ओर जाता है। भोग-विलास में फंस निर्बल व निष्क्रिय हो जाता है, उसे ऊंचा उठाने के लिये ही समय-समय पर भगवान् आक्रमण कराता है। दूसरे—पाप का फल देने के लिये तीसरे दुष्टों को नष्ट करने के लिये भी ये आक्रमण हुआ करते हैं।

रुद्र-तनु के लिये व्रत

मै० सं० ३।७।१०, काठ० २४।६, तै० सं० ६।२।२

जो एकव्रती हो अर्थात् जिसने केवल यही व्रत लिया हो कि मेरा तनु (शरीर) रुद्र-तनु बन जाये उसे निम्न प्रक्रिया अपनानी चाहिये।

यद्येकव्रतः स्यात् पत्नीमन्तरियात्। मै० सं० ३।७।१०

यदि एकव्रती हो तो सबसे पूर्व पत्नी को पृथक् कर दे अर्थात् 'नॉस्त्रियमुपेयात्' स्त्री-सम्भोग न करे।

यॉते अग्ने रुद्रिया तनूरिति व्रतं व्रतयति।

हे अग्ने ! जो तेरा रुद्रिय तनु है वह मेरा हो जाये। इस प्रकार वह अपने शरीर को रुद्र-रूप बनाने के लिये व्रत लेता है।

एषा वा अस्मिन्नेतर्हि देवता तां प्रीणाति।

इस एकव्रती के अन्दर जो अग्नि-रूप रुद्र विद्यमान है उसका प्रीणन करता है। 'तस्यां हुतं व्रतयति' उस अग्नि-रूप रुद्र में अपने को आहुति बना समर्पित करता है। रात-दिन रुद्राग्नि का चिन्तन तथा उसके प्रति समर्पित रहता है।

देवताभिर्वा एष सायुज्यं गच्छति यो दीक्षते।

जो दीक्षा लेता है वह उन देवताओं का सायुज्य हो जाता है।

उपरोक्त तथ्य को काठ० सं० २४।६ में इस प्रकार कहा कि 'अग्निर्वै दीक्षितः' दीक्षित पुरुष अग्नि-रूप होता है। **"अग्निर्वै रुद्रोऽग्निनैष तन्वं विपरिधत्ते"** रुद्र स्वयं अग्नि है जब अग्नि में अपनी आहुति दे दी तो एक प्रकार से अग्नि द्वारा अपने शरीर का परिवर्तन कर लिया ऐसा समझ लेना चाहिये। आगे कहा कि दीक्षित पुरुष अग्नि रूप होता है यदि जल द्वारा मार्जन करता है तो अग्नि शान्त हो जायेगी। अतः दीक्षित पुरुष को मदन्ती=तप्त जल से मार्जन करना चाहिये इससे उसकी अशान्ति भी दूर होगी और तेज भी बना रहेगा। इसी तथ्य को निम्न रूप में कहा कि—**"यो दीक्षते यच्च शीताभिर्मार्जयेत शमयेयुः, अधो यथेदमद्भिरग्निरुपसृष्ट एवं स्यादथ यत् तप्ताभिर्मार्जयते शान्त्या अधो तेजो वै मदन्तीस्तेज एवावरुन्धे"** मै०सं० ३।७।१० अर्थात अग्निमय दीक्षित पुरुष शीत जलों से मार्जन

करता है तो ये जल अग्नि का शमन कर देंगे तो क्या करना चाहिये ? जलों के साथ अग्नि का संसर्ग कर देना चाहिये। अतः अपने अन्दर की शान्ति के लिये इस तप्त जल द्वारा मार्जन करना चाहिये। मदन्ती=तप्त जल तेज-रूप होते हैं इससे अपने अन्दर का तेज बना रहेगा।

मै० सं० ३।६।१ **'अग्निना वा एष तन्वं विपरिधत्ते यो दीक्षते अग्नी रुद्रो यदग्निना पुनर्यथायथं तन्वं न विपरिदधीत रुद्र एनमभिमानुकः स्यात्।'**

अर्थात् जो दीक्षित होता है वह अग्नि से अपने वस्त्र व शरीर का परिवर्तन कर लेता है। यदि अग्नि से ठीक-ठीक तनु का परिवर्तन नहीं हुआ तो रुद्र उसका घातक हो जायेगा। इसी दृष्टि से कहा कि—**अग्ने व्रतपते या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वय्यग्ने व्रतपते या मम तनूस्त्वय्यभूदियं सा मयीत्यग्निना वा एतत् पुनर्यथायथं तन्वं विपरिधत्त आत्मनोऽहिंसायै।"** हे व्रतों के स्वामिन्! अग्नि जो तेरा तनु है शरीर है वह मेरा हो जाये और जो मेरा तनु है वह तेरा हो जाये, अर्थात् हम दोनों में एकात्मता हो जाये, मेरे तेरे में कोई भेद न रहे।

सुरा में रुद्र

श० प० १२।७।३ में सोम और सुरा का विवेचन किया गया है। जिन वस्तुओं में सोम प्रवेश करता है अर्थात् जो सोम को ग्रहण करते हैं वे याज्ञिक परिभाषा में सोम-ग्रह कहलाते हैं और जो पदार्थ सुरा का ग्रहण करने वाले हैं वे सुराग्रह कहलाते हैं। वहां कुछ ग्रहों का परिगणन किया गया है जो कि तालिका में इस प्रकार है—

सोमग्रह=पयोग्रह		सुराग्रह
१. क्षत्र	—	विट्
२. प्राण	—	शरीर
३. सोम	—	अन्न
४. पशु	—	अन्न
५. ग्राम्य पशु	—	आरण्य पशु

उदाहरणार्थ—ये कुछ सोमग्रह तथा सुराग्रह प्रदर्शित किये। इसी भांति और भी ग्रह हो सकते हैं। क्योंकि सोम और सुरा नाना प्रकार के हैं। कहा भी है—**"नाना हि सोमश्च सुरा च"**। पृथिवी पर सोम ओषधि-वनस्पतियों में होता है। जब वे अंकुरित होती हैं तब इनमें दूध=(पय) ही होता है। यह पय ही सोम है। **'सोमो वै पयो०'** श०प० १२।७।३।८ यह पशु-गौ औषधि-वनस्पति का भक्षण कर दूध का निर्माण करती है। अतः यह गौ आदि दूध देने वाले पशु पयोग्रह हैं। अन्न सुराग्रह कहलाते हैं यथा, **"सोमो वै पयोऽन्नं सुरा"**। अन्न-भक्षण के पश्चात् मनुष्य में तन्द्रा-आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है, वह सुरा का गुण है इसलिये

अन्न को सुराग्रह माना है। पशु दो प्रकार के हैं—ग्राम्य पशु तथा आरण्यक पशु। ग्राम्य पशु पयोग्रह माने गये हैं और आरण्य पशु सुराग्रह। सिंह, व्याघ्र आदि मांसाहारी आरण्य पशुओं का अन्न आरण्य पशु होते हैं। ये तो रुद्र रूप हैं ही, पर तृणभक्षक मृग आदियों का आहार वनोत्पन्न तृण-वनस्पति आदि होते हैं जोकि ग्राम्य अन्नों की अपेक्षा अधिक सुराबहुल होते हैं अतः मृग, हस्ती आदि आरण्य पशुओं में ग्राम्य पशुओं की अपेक्षा रौद्र भाव अधिक होता है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि ग्राम्य पशुओं का पालन-पोषण व उनका परिपाक यदि आरण्य अन्नों से होगा तो एक तो उनमें स्वयं रौद्रभाव पैदा होगा और दूसरे वे सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशुओं के शिकार हो जायेंगे। इससे वे रुद्र के कोपभाजन बन जायेंगे। इसी बात को निम्न शब्दों में कहा कि—**"रुद्रस्यास्ये पशूनपिदधाति"** रुद्र के मुख में पशुओं को रखता है। इस दृष्टि से समग्र वाक्य पर दृष्टिपात करना चाहिये। यह वाक्य निम्न है **"एतदघलायँ देवतायँ रूपं यदेते घोरा आरण्याःपशवो यदेतेषां पशूनां लोमभिः=(औषधि-वनस्पतिभिः) पयोग्रहांछ्रीणीयात् रुद्रस्यास्ये पशूनपिदध्यादपशुर्यजमानः स्यात्।"** श० प० १२।७।३।२० ये जो सिंह, व्याघ्र आदि घोर रूप वाले आरण्य पशु हैं ये हिंसा करने वाले देवता के रूप हैं। इन के लोमों से अर्थात् आरण्योद्भव औषधिवनस्पतियों से पयोग्रह ग्राम्य पशुओं का यदि पालन-पोषण किया गया तो ये रुद्र के मुंह में जा पहुंचेंगे और यजमान पशु-विहीन हो जायेगा। यहाँ 'लोम' से तात्पर्य औषधि-वनस्पतियों से है। औषधि-वनस्पतियाँ जिस प्रकार पृथिवी की लोम हैं उसी प्रकार ये जंगली पशुओं की भी लोम हैं सर्दी, गर्मी तथा वर्षा से ये औषधि-वनस्पतियाँ ही इनकी रक्षा करती हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भ को आन्तरिक क्षेत्र में देखते हैं। मन से ऊपर के मस्तिष्क-सम्बन्धी चक्षु, कान, नाक आदि अंग पयोग्रह पशु हैं। ये ऐन्द्रियिक रस सोम का पान करने वाले हैं तथा ज्ञान-विज्ञान रूपी पय (दूध) का प्रज्ञानात्मा को पान कराते हैं इसलिये भी ये पयोग्रह हैं। इन्हें ही ग्राम्य पशु कह सकते हैं। इसके विपरीत नाभि से नीचे उदर व शिश्न से सम्बन्ध रखने वाले अंग अन्न रूपी सुरा का पान करने वाले हैं अतः ये आरण्य पशु हैं। यह संसार अरण्य है, इन ज्ञानेन्द्रियों का परिपाक यदि सांसारिक विषयरूपी अन्नों से ही किया जाता रहा, इन्हीं विषयों में ये लिप्त रहीं तो सुराप्रधान वासनाओं में ये जकड़ी रहेंगीं। एक प्रकार से ये रुद्र से आक्रान्त हो जायेंगीं, इनमें रौद्र भाव पैदा हो जायेगा। और यदि इनको सांसारिक विषयों में बिलकुल ही न जाने दिया गया तो ज्ञान-रूपी पय का ये दोहन न कर सकेंगीं। इस अवस्था में **"यन्न श्रीणीयादनवरुद्धा अस्य पशवः स्युः"** यदि संसाररूपी आरण्य के विषयरूपी अन्नों से इनका परिपाक न किया तो ये यजमान के 'अनवरुद्ध पशु' हो जायेंगीं क्योंकि पशुओं का यजमान द्वारा अवरोध दूध के लिये ही होता है।

शतपथकार ने अन्त में कहा कि रौद्रभाव सुरा में होता है और सुरा अन्न है अर्थात् उदर में अन्न के परिपाक-प्रक्रिया में सुरा का निर्माण भी होता है और कई औषधि-वनस्पतियाँ तो निसर्गतः सुरा से परिपूर्ण होती हैं, जिनसे सुरा का निर्माण किया जाता है। परन्तु शतपथकार ने सामान्य अन्न को भी सुरा-रूप माना है और पय को सोम-रूप। शास्त्रकार कहते हैं कि **'तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमना०"** अर्थात् मनुष्य सुरापान कर रौद्र मन वाला बन जाता है अतः इस अवस्था में मनुष्य पर भी रुद्र का प्रकोप आ पड़ता है परन्तु सिंह, व्याघ्र आदि आरण्य पशु तो सदा रौद्र रूप रहते हैं इसलिये इन पर रुद्र का प्रहार होता रहता है और वे स्वयं भी रुद्र भगवान् के शस्त्र बन जाते हैं। कहा भी है—**"अथो आरण्येष्वेव रुद्रस्य हेतिं दधाति"** श० प० अर्थात् आरण्य पशुओं पर रुद्र का शस्त्र आ गिरता है अर्थात् ये हिंस्र-पशु रुद्र के शस्त्र=(हेति) को धारण किये रहते हैं।

उपवास में रुद्र

यज्ञ करने से पूर्व यजमान को व्रत धारण करना पड़ता है। शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों तथा शाखासंहिताओं में इस सम्बन्ध में विचार किया गया है। तै०सं० १।६।७।४ में आता है कि यज्ञ करने के लिये उद्यत यजमान आहवनीयागार में एक दिन पूर्व व्रतपति अग्नि को सम्बोधन कर व्रत धारण करे और यह मन्त्र बोले—**"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि"** जिस समय यजमान व्रत धारण करता है तो देवता भी इस आशय से आहवनीयागार में आ उपस्थित होते हैं कि यजमान कल यजन करेगा **"श्वो यक्ष्यमाणे देवता वसन्ति"** तै० सं०। व्रत धारण के साथ यजमान उपवास करता है अर्थात् देवताओं के समीप वास करता है **"उप समीपे वसति"**। उपवास के समय यजमान प्रतिदिन का अन्न ग्रहण नहीं किया करता। प्रश्न यह है कि वह कुछ खावे कि नहीं और यदि खावे तो क्या खावे ? इस सम्बन्ध में याज्ञिक ऋषियों में कुछ मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है।—तत्सम्बन्ध में अति संक्षेप में विचार प्रस्तुत किया जाता है।

देवता घर में अतिथि बनकर पहुँचे हुए हैं उन्हें बिना खिलाये अपने आप खा लेना कितना महापाप है यह सोचकर सावयस आषाढ ऋषि ने कहा कि न खाना ही ठीक है। तैत्तिरीय संहिताकार कहते हैं कि जिस प्रकार ग्राम्य और आरण्य भेद से दो प्रकार के पशु हैं उसी प्रकार अन्न भी दो प्रकार के हैं, एक गौ आदि ग्राम्य पशुओं से सम्पादित दुग्ध, व्रीहि, यव आदि और दूसरे नीवार आदि आरण्य अन्न। यजमान यदि अन्न खाता है तो **"यदश्नीयात् रुद्रोऽस्य पशूनभिमन्येत"** तै० सं० रुद्र उसके पशुओं की हिंसा कर देगा। और यदि कुछ नहीं खाता है **"यदनाश्वानुपवसेत् पितृदेवत्यः स्यात्"** तो क्षीणता आती है (पितृदेवत्यः= क्षीणता) भूखा रहने से क्षीणता का होना स्वाभाविक है, इससे यज्ञ सुचारु रूप से

नहीं हो सकता। और खा लेने पर भी अपना अपमान समझ देवता घर से कूच कर जायेंगे और पेट भारी होने पर आलस्यवश यज्ञ न हो सकेगा। इसलिये पक्षान्तर यह दर्शाया **"अपोऽश्नाति"** जल का पान कर ले। इससे खाना न खाने के समान होगा। कहा भी है **"तन्नेवाशितं नेवानशितं न क्षोधुको भवति नास्य रुद्रः पशूनभिमन्यते"**। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भोजन खाने पर आलस्य आदि आ घेरते हैं, तमोगुण प्रबल होता है, इन्द्रिय-पशुओं में जागरूकता नहीं रहती। वे वासना से अभिभूत हो जाते हैं बिल्कुल ही न खावें तो क्षीणता आती है अतः एक पक्ष यह है कि जल पी लेवे। शतपथकार कहते हैं—**"स वा आरण्य-मेवाश्नीयात्। या वा आरण्या ओषधयो यद् वा वृक्ष्यं"** अर्थात् वन में होने वाली औषधियों या वृक्ष पर लगने वाले फल आदि लिये जा सकते हैं। आगे कहा कि **"यस्य वै हविर्न गृहणन्ति"** अर्थात् देवता जिस अन्न की हवि को ग्रहण नहीं करते वह अन्न खाया जा सकता है। इस पर वर्कु वार्ष्ण ऋषि का कहना है कि **"माषान्मे पचत"** अर्थात् मेरे लिये माष (उड़द) पकाओ क्योंकि देवता उड़दों की हवि ग्रहण नहीं करते हैं। इस प्रकार उपवास का क्या तात्पर्य है, उपवास के समय अन्न खाना चाहिये या नहीं और यदि खावे तो क्या खावे ? इस सम्बन्ध में प्राचीन याज्ञिकों व ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यह हमने यहाँ संक्षेप में दर्शाया और यह भी देखा कि रुद्र का इन्द्रिय-पशुओं पर कब प्रभाव होता है ?

रुद्रों द्वारा पूर्व-उद्धि (अन्तरिक्ष) ऊर्ध्व स्थिति

शतपथब्राह्मण में आता है कि पूर्व उद्धि को रुद्र तथा उत्तर उद्धि को आदित्य थामते हैं। पूर्व उद्धि अन्तरिक्ष है, पिण्ड में यह प्राणमय लोक तथा हृदय का क्षेत्र है। उत्तर उद्धि द्युलोक है, पिण्ड में मस्तिष्क का क्षेत्र है। वहाँ आता है **"अथ पूर्वमुद्धिमादधाति। रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसांगिरस्वत् इत्यन्तरिक्षं हैष उद्धिः···प्राणो वा अंगिरा ध्रुवासीति"** श० प० ६।५।२।४,५

अर्थात् पूर्व उद्धि का आधान करता है। रुद्र त्रिष्टुभ छन्द द्वारा हृदय रूपी अन्तरिक्ष को प्राण सम्पन्न करे। प्राण अंगिरा है। हे हृदय रूपी अन्तरिक्ष ! तू ध्रुव है। उद्धि बाह्य ब्रह्माण्ड में अन्तरिक्ष है तो पिण्ड में यह हृदयप्रदेश है। इसको उद्धि इसलिए कहते हैं कि उत्+धि—डुधाञ् धारणपोषणयोः—इसे ऊर्ध्व में ऊपर उठाये रखना होता है। यह कार्य रुद्रों का है। ये रुद्र प्राण हैं। रुद्र-प्राण हृदय को उत्कृष्टता में ऊपर उठाते हैं। इन रुद्रों के होने पर आसुरी शक्ति क्षीणता, अवसाद व निराशा के भाव आक्रमण नहीं कर सकते। यह हृदयप्रदेश त्रैष्टुभ छन्द वाला है। हृदय+२ फेफड़े ये संख्या में तीन हैं और ये शरीर को थामे हुए हैं। शरीर के ये तीन स्तम्भ-स्तोम हैं। इन्हीं के कारण यह शरीर टिका हुआ है। इस हृदय रूपी अन्तरिक्ष को अंगिरस्वत् अर्थात् प्राणों से बल सम्पन्न करना रुद्र

प्राणों का काम है। अंगिरा प्राण है (प्राणो वा अंगिरा) अंगिरा अंगरसों (अंगानां रसः) को कहते हैं। इन्हीं अंग-रसों के प्रभाव से यह हृदय रूपी प्रदेश ध्रुव है, स्थिर है, प्रतिष्ठित है। कहा भी है **"ध्रुवोऽसीति स्थिरासीत्येतदधो प्रतिष्ठितासीत्यन्तरिक्षं ह्येष उद्धिः।"** श० प० यही अन्तरिक्ष माध्यन्दिन सवन का क्षेत्र है जिसका अधिपति इन्द्र और रुद्र दोनों हैं।

सर्वप्रथम सोम को आगे लाना

काठक संहिता का २६ वां स्थानक 'धिष्ण्यम्' कहलाता है। धिष्ण्यम् का अर्थ है धिष्णा अर्थात् बुद्धि में होने वाला **यज्ञ** व कर्म। (धिष्ण्यः—धिषणा भवः नि. ८।३) यही प्रकरण मै. सं. ३।९।१ में **'अध्वराणां त्रयाणां विधिः"** में आता है। उपरोक्त शीर्षक से स्पष्ट है कि इस प्रकरण को बुद्धि व तद्गत इन्द्रियों में लगाना चाहिये। वहां यह बताया गया है कि आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों के प्रयोग से पूर्व सोम को सक्रिय करना चाहिये। सोम से सौम्यता तथा इन्द्रिय-रस दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। मानव-मस्तिष्क में एक रस है जिसे सोम कहा जाता है। इसी सोम-रस के माध्यम से प्रत्येक इन्द्रिय अपने गोलकों तक जाती है और ज्ञान का अर्जन करती है। शास्त्रकार कहते हैं कि सर्वप्रथम सोम का प्रणयन करना चाहिये अर्थात् पीछे विद्यमान इन्द्रिय-केन्द्रों से सर्वप्रथम सोम को आगे गोलकों तक भेजें तत्पश्चात् इन्द्रिय-ज्योति जावे। इसको हम चक्षु इन्द्रिय के उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं। किसी वस्तु पर दृष्टिपात करने से पूर्व हम आंखों के समक्ष सोम को ले आवें। हमारे चेहरे के समक्ष सौम्यता व शान्ति छा जावे तदनन्तर सौम्य दृष्टि से उस व्यक्ति व वस्तु पर दृष्टिपात करें। इससे होगा यह कि क्रोध-भरी दृष्टि से हमें देखने वाले अथवा अपशब्द व कुवचन से हमें क्रुद्ध करने वाले का हमारी दृष्टि तथा हम पर प्रभाव न होगा। हम शान्त बने रहेंगे। कहा भी है—**"प्राञ्चं सोमं प्रणयत्येतैर्वा एनं घ्नन्ति हन्तृभिरेवैनं व्यावर्तयति न हन्तॄन् प्रतिपद्यते"** का० २६।२. आगे कहा कि मस्तिष्क में इन्द्रिय-पशु अंशु रूप में होते हैं। सूर्य अंशु रूप में चक्षु में स्थित है, दिशाएँ श्रोत्र में, अग्नि वाक् में इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की सभी देव-शक्तियाँ मनुष्य में अंशु रूप में होती हैं। ये इन्द्रियाँ (पशु) सोम रस के सक्रिय होने के बाद कार्य में व्यापृत होनी चाहियें। यह तभी हो सकता है जब पीछे की ओर विद्यमान शक्ति-केन्द्र में मन पहुंचे। यदि पीछे शक्ति-केन्द्र में न जाकर तथा सोम को सक्रिय न कर सीधा गोलक में इन्द्रिय ज्योति को ले आवे तो रुद्राग्नि इस अंशुरूप पशु का हनन कर देगी। यहाँ हनन का तात्पर्य शनैः शनैः क्षीणता से है। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में कहा गया है—

"पुरस्तात् प्रतिपद्येत रुद्रो वा अग्निः पशवोऽशवो रुद्राय, पशुनपि दध्यात् अपशुः स्यात्" यदि सामने से ही अंशु रूप में विद्यमान इन्द्रिय-पशुओं का प्रयोग

कर दिया और इससे पूर्व सोम का न किया तो रुद्र पशुओं की हिंसा कर देगा। और प्रयोक्ता यजमान इन्द्रिय-पशु से विहीन हो जायेगा। इसी तथ्य को मै० सं० ३।६।१ में कहा कि **"पश्चादेव प्राङ्‌ प्रणीयः पशूनां गोपीथाय।"**

अर्थात् इन्द्रिय-पशुओं की रक्षा के लिये पश्चात् भाग में विद्यमान इन्द्रिय केन्द्र से पूर्व की ओर प्रणयन करना चाहिये।

हविरूप यजमान में देवों की उत्पत्ति

तै. सं. ६।३।५ तथा मै. सं. ३।६।२ में आता है कि सृष्टि-निर्माण के समय इस लोक में साध्य देव थे और पार्थिव अग्नि थी। आलम्भन के लिए कुछ नहीं था। तब उन्होंने एक और अग्नि को मन्थन द्वारा पैदा कर उसकी अग्नि में ही आहुति दे दी(ते देवा अग्निं मथित्वाऽग्नावजुह्‌वु:० मै. सं. ३।६।५)। ब्रह्माण्ड में सूर्याग्नि की पार्थिव अग्नि में आहुति दी, इससे ये समग्र प्रजाएँ उत्पन्न हुईं। इसी भांति पुरुषोत्पत्ति में शिश्न में स्थित अग्नि से योनि की अग्नि का मन्थन होता है। हृदयस्थ अग्नि पर संकल्पाग्नि का मन्थन व प्रहार होता है तब दिव्य अग्नि तथा अन्य दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति होती है। यजमान में दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति के लिए उसे पशु बनाया जाता है। यजमान मन है या मानसावच्छिन्न आत्मा अथवा प्रज्ञानात्मा कुछ भी कहा जा सकता है। इस यजमान की अग्नि में आहुति दी जाती है। अग्नि यहाँ रुद्राग्नि है क्योंकि सामान्य अग्नि यहाँ सफल नहीं होती। कहा भी है—**"रुद्रो वा एष यदग्निर्यजमानः पशुर्यत् पशुमालभ्याग्निं मन्थेद् रुद्राय यजमानमपि दध्यात् प्रमायुकः स्यात्"** तै. सं. ६।३।५ अर्थात् अग्नि रुद्र है यजमान पशु है इस यजमान रूपी पशु का आलम्भन कर यदि अग्निमन्थन किया जायेगा तो यजमान मरणासन्न हो जायेगा। यहाँ यजमान की मृत्यु का तात्पर्य है उसके पूर्व रूप की समाप्ति तथा उत्तर रूप की उत्पत्ति। उत्तर रूप दिव्य रूप है अर्थात् यजमान में दिव्य शक्तियाँ उत्पन्न हो जायेंगीं, कहा भी है—**'अथो खल्वाहुरग्निः सर्वा देवता हविरेतद् यत् पशुरिति यत् पशुमालभ्याग्निं मन्थति हव्यायैवासन्नाय सर्वा देवता जनयति"** अर्थात् ऋषियों का यह सत्यकथन है कि अग्नि में सब देवता विराजमान होते हैं यह यजमान-पशु हवि है, इसका आलम्भन कर इसमें विद्यमान अग्नि को मन्थन करते हैं किसलिए ? जिससे हव्य रूप में विद्यमान यजमान-पशु में सब देवताओं अर्थात् दिव्य शक्तियों का प्रजनन हो जाये। आगे कहा कि **"उपाकृत्यैव मन्थ्यस्तन्नेवालब्धं नैवानालब्धम्०"** अर्थात् यजमान-पशु की हिंसा करके ही अग्नि-मन्थन की क्रिया करनी चाहिए यह यजमान का न तो आलम्भन है और न ही अनालम्भन है। कहने का तात्पर्य यह है कि आलम्भन, उपाकरण, मारण आदि शब्दों का सामान्य अर्थ मारना ही है पर यह शरीर का मारण नहीं है उसके पूर्व रूप का परित्याग कर दिव्य रूप को पैदा करना होता है। इसके लिए नाना व्रतों

व नियमों का पालन करना होता है कठोर तप तथा अग्नि की भट्टी में तपाना होता है। इसी तथ्य को दर्शाने के लिए कहा है **"पशोर्वा आलब्धस्य प्राणान् शुगृच्छति"** तै. सं. ६।३।८ अर्थात् आलम्भन की प्रक्रिया में पड़े पशु के प्राणों को 'शुक्' आ घेरता है। इसी शुक् का आगे जाकर शमन किया जाता है। कहा भी है **"प्राणेभ्य एवास्य शुचं शमयति"** अतः प्राणों में शुक् अर्थात् उत्पन्न शोक व जलन का शमन किया जाता है। शुक् शोक को कहते हैं (शोकः—भावे क्विप्। यजु० १३।४७ स्वामी दयानन्द) **"शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः"** से निष्पन्न होने पर कहा जा सकता है कि आलम्भन से प्राणों में एक प्रकार की जलन उत्पन्न हो जाती है। इसी जलन के शमन करने का विधान किया है। रुद्राग्नि यजमान के अंगों में विद्यमान पशुभाव को समाप्त कर देती है। इसी भांति 'वपाहोम' में वपा अर्थात् चर्बी को उखाड़ा जाता है। वहाँ आता है **"क्रूरमिव वा एतत् करोति यद्वपामुत्खिदति"**० तै. सं. ६।३।९ वपा को उखेड़ना क्रूर कर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को देव बनाना होता है अर्थात् जिसमें दिव्य शक्तियों को उत्पन्न करना होता है उसकी मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य भक्षण द्वारा जो चर्बी शरीर में संग्रहीत हुई है उसे शरीर से निकालना होता है। तप रूपी अग्नि की भट्टी में तपने से वह चर्बी पिघल जाती हैयही चर्बी को उखाड़ना है। अथवा एक्युपंक्चर की भाँति यह भी कोई चर्बी निकालने की प्रक्रिया होगी। परन्तु यह निश्चित है कि पशु जो कि यहाँ यजमान है उसकी चर्बी उखेड़ने का तात्पर्य उसे मारना नहीं है अपितु किसी पद्धति से चर्बी निकालनी होती है जो कि एक क्रूरकर्म है। आगे कहा— **वपामुत्खिदतीच्छत इव ह्येष यो यजते यदुपतृन्द्यात् रुद्रोऽस्य पशून् घातुकः स्याद् यन्नोपतृन्द्यादयता स्यात्**" तै. सं. ६।३।९ अर्थात् जो यजन कर रहा है, देवत्व प्राप्त करना चाहता है वह यह चाह रहा है कि मेरी वपा को उखाड़ा जाये। यदि उखाड़ते हैं (उपतृन्द्यात्- उतृदिर् हिंसानादरयोः—रुधादि०) तो रुद्र उसके पशुओं (इन्द्रियों, पशुभावों) का घातक बनता है और यदि न उखाड़ें तो वपा अनियन्त्रित होती है अर्थात् देवत्व-प्राप्ति में बाधक बनती है। वहाँ यह भी आता है कि **"प्र वा एषोऽस्माल्लोकाच्च्यवते यः पशुं मृत्यवे नीयमानमन्वारभते"** अर्थात् जो इस पशु को मृत्यु के लिये ले जाते हैं अर्थात् जो उसे मारता है वह इस लोक से च्युत हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उस यजमान-पशु के साथ पार्थिव लोक के सब चाल-चलन व व्यवहार छोड़ने पड़ते हैं एक प्रकार से वह तीन रात्रि तक उसे गर्भ में रखता है अथवा उपरोक्त सन्दर्भ का यह भाव भी हो सकता है कि जब वपा को शरीर से पृथक् किया जाता है तब वह पशु मरणासन्न-सा हो जाता है और जब **"वपाश्रपणी पुनरन्वारभतेऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति"** तै.सं. ६।३।९ पुरातन वपा के निकालने के पश्चात् जब पुनः वपा का परिपाक किया जाता है तब वह इसी लोक में आ पहुंचता है। एक प्रकार से पशु तथा वपा का छेदन करने वाले ये दोनों वपा

के उखाड़ने के समय इस लोक में नहीं रहते। क्योंकि जब पशु आपरेशन की मेज पर होता है तब पशु तथा डाक्टर दोनों इस लोक में नहीं रहते। वपा का उखेड़ना तथा उसका पुनः परिपाक इनमें क्या पद्धति थी यह सब आधुनिक काल में अज्ञात है।

मै. सं. ३।६।५ में पशुओं के आलम्भन का प्रयोजन निम्न शब्दों में बताया है, वहाँ आता है **"अथ पशवो वा एतदालब्धा यद्देवता जनयन्ति"** अर्थात् देवता व दिव्यता की उत्पत्ति करना ही पशुओं का आलम्भन है। उसकी प्रक्रिया यह है **"अग्निं मथित्वाऽग्नौ जुहोति"** अग्नि का मन्थन कर अग्नि में आहुति देना। उदाहरणार्थ—हृदयस्थ अग्नि को ध्यान द्वारा या प्रणव का हृदय में प्रहार कर प्रदीप्त किया, फिर प्रदीप्त हुई उस हृदयस्थ अग्नि द्वारा मस्तिष्क-केन्द्रों की अग्नियों को प्रज्वलित करना इससे वे अग्नियाँ प्रदीप्त होकर दिव्य ज्ञान का उद्बोधन करने लगेंगी। यही भाव **"अग्निनाऽग्निः समिध्यते"** ऋ० १।१२।४ मन्त्र का है।

रुद्र की रोहिणी वशा—

'वशा' पर 'बृहस्पति देवता' पुस्तक में कुछ संक्षिप्त-सा विचार किया था उसी पर थोड़ा और विचार करते हैं। मनुष्य में अनन्त शक्तियाँ व विभूतियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में प्रच्छन्न रूप में निहित हैं। स्वानुकूल कोई उत्तेजक पाकर जब वे अपने आश्रय-स्थान को भेदन कर बाहिर निकल आती हैं तो वह सबको ज्ञात हो जाती है। यदि उत्तेजक सतत रूप में मिलता रहे तो वह शक्ति अधिक-से-अधिक मात्रा में अनेकों वार प्रस्फुटित होकर बाहिर निकलती है और मनुष्य आदि प्राणियों को अपने वश में करती जाती है। क्योंकि यह शक्ति बाहिर की ओर प्रसृत होकर अधिक-से-अधिक क्षेत्र को वश में करती है अर्थात् घेरती है इसलिये इसे 'वशा' कहा गया है। वेद में वशा को गौ नाम से सम्बोधित किया गया है। गौ पृथिवी है, इन्द्रियाँ हैं, सूर्य, चन्द्रमा आदि नक्षत्रों की किरणें हैं, इसलिए यह वशा-प्रकरण इन सबमें घटाया जा सकता है पर यहाँ हम मानव की इन्द्रिय-शक्ति को लेकर ही विचार करते हैं। यह वशा इन्द्रियों का तेज है। ब्राह्मण में यह ब्रह्मतेज के रूप में प्रस्फुटित होता है तो क्षत्रिय में क्षात्रतेज के रूप में। प्रायः सभी मनुष्यों के अन्दर से यह तेज शरीर से बाहिर की ओर निकलता ही है पर वह हीनवीर्य होता है। यह तेज अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये सामान्य चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। यह एक प्रकार की आकर्षण-शक्ति है, इसे आधुनिक विज्ञान की भाषा में ओरा (Aura) भी कह सकते हैं। इसके भिन्न-भिन्न रंग भी होते हैं। इस वशा को 'रस' भी कहा है। रस शब्द सारत्व को बताता है और प्रवाह गुण को सूचित करता है। अथर्ववेद के १०।१० सूक्त तथा १२।४ सूक्त इन दो में वशा का वर्णन किया गया है।

यहाँ हम ऐतरेय ब्राह्मण २।१।७ में 'वशा' का जो स्वरूप-विवेचन किया गया है उसी को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वहाँ आता है कि—"वषट्कार ने गायत्री का सिर काट दिया उससे जो रस चहुँ ओर प्रसृत हुआ वह वशा कहलाया। इस वशा को बृहस्पति ने ग्रहण किया। वषट्कार ने फिर दूसरी बार सिर काटा इससे जो रस प्रवाहित हुआ वह दो रूपों में बहा जिसे मित्रावरुणों ने ग्रहण किया। इस कारण यह द्विरूपा वशा हुई। तीसरी बार कटने से यह रस अनेक धाराओं में प्रवाहित हुआ जिसे विश्वेदेवों ने ग्रहण किया। इस कारण यह बहुरूपा वशा बनी। चौथी बार का रस उक्षवश बना, इसको बृहस्पति ने ग्रहण किया। यह उक्षवश भोग के लिये निर्धारित हुआ। इसी उक्षवश से जो लोहित रूप का रस निकला वह रुद्र की रोहिणीवशा हुई।"

यह ऐतरेय ब्राह्मण का वशा-सम्बन्धी प्रकरण है। इसका स्पष्टीकरण संक्षेप में निम्न प्रकार है। वषट्कार ने गायत्री का सिर काटा। यहाँ गायत्री मनुष्य की प्रारम्भिक शैशवावस्था है। इस प्रारम्भिक अवस्था में शिशु के अंग-प्रत्यंग गान कर रहे होते हैं। इस गायत्री छन्द से छन्दित शिशु को जब कोई प्रबल उत्तेजक प्राप्त होता है तो उसके उस आवरण (गायत्री) को भेदन कर अन्तर्निहित तेज बाहिर प्रसृत होने लगता है। यह उत्तेजक वषट्कार है। शास्त्रों में वषट्कार के दो स्वरूप दर्शाये हैं बल और ओज। यह वशारूपी इन्द्रियों का तेज मनुष्य की वीर्य-शक्ति पर निर्भर होता है। जब मनुष्य में वीर्य बढ़कर ऊर्ध्व की ओर चलता है तो इन्द्रियों का तेज विकसित होता है उसमें बल और ओज (वषट्कार) की अभिवृद्धि होने लगती है। इसका उपयोग सर्वप्रथम बृहस्पति आचार्य करता है। बालक विद्याध्ययन व ब्रह्मचर्य पालन में प्रवृत्त होता है। बालक में स्वयं ब्रह्मतेज की अभिवृद्धि होने लगती है। द्वितीय बार का रस मित्रावरुणौ ग्रहण करते हैं, मित्रावरुणौ प्राण और अपान हैं। ब्रह्मचारी के प्राण और अपान प्रवृद्ध होने लगते हैं। यहाँ गायत्री का प्रथम रस प्रातःसवन से सम्बन्ध रखता है तो द्वितीय बार का रस माध्यन्दिन सवन से। प्रातःसवन का सम्बन्ध अग्नि से है। अग्नि प्रेरक होती है। द्वितीय सवन का सम्बन्ध इन्द्र से है। यह हृदय का क्षेत्र है—यह क्षात्र-शक्ति का स्थान है। मित्र और वरुण ये दोनों क्षात्रशक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। तृतीयवार का रस विश्वेदेवों से सम्बन्ध रखता है, यह तृतीय सवन है। यह उसकी बहुमुखी शक्ति का उद्भावन है। इस तृतीय सवन में मनुष्य में बहुमुखी अभिवृद्धि होती है। चौथा रस पृथिवी अर्थात् शरीर में सिंचित होता है, इसे 'उक्षवश' कहते हैं। उक्ष सिंचन को कहते हैं इसका अपने-अपने क्षेत्र में उपयोग होता है। नये-नये निर्माणकार्यों में, पुत्रोत्पत्ति में, ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं की अभिवृद्धि में इसका उपयोग होता है, यह सब बृहस्पति के अधीन होता है।—इसी उक्षवश का जो रजोगुणी रूप है वह रुद्र की रोहिणी वशा होती है। रोहिणी—

रोहण तथा रक्त वर्ण इन दोनों को दर्शाती है। रजोगुण में ही गति व संहार है। इससे रौद्र प्राणों की वृद्धि होती है जिससे मनुष्य अपने शत्रुओं व व्याधि आदि को वश में कर लेता है। यह वशा-रस छन्दों का रस है। छन्द सूक्ष्म प्राणों को कहते हैं। कहा भी है **"छन्दसामेष रसो यद्वशा"** रौद्रीवशा अभिचार व शत्रु-विनाश में काम आती है यथा—**"रौद्रीं रोहिणीमालभेताभिचरन्"** अर्थात् अभिचार में रौद्री रोहिणी नामक वशा का ग्रहण करना चाहिये। इससे यह भी स्पष्ट है कि नाना विद्याओं में पारंगत तथा ब्रह्मवर्चस्वी भी अपने शत्रुओं का तब तक संहार नहीं कर सकता जब तक रौद्री रोहिणी वशा उसे प्राप्त नहीं हो जाती। इसी दृष्टि से यह कहा कि **"मरुद्भी रुद्राः समजानत"** ऐ० ब्रा० २।१।११ अर्थात् मरुतों के साथ जब रुद्र प्राण आ मिलते हैं तो मरुतों की पाप-व्याधि आदि आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं का विनाश करने वाली शक्ति बढ़ जाती है। क्योंकि रुद्र अग्नि का घोर तनु होता है **"अस्य (अग्नेः) घोरा तनूर्यद् रुद्रः"**। ऐ० ब्रा० २।२।३

यह वशा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की इन्द्रियों में देवों की निधि के रूप में रहती है जोकि सामान्य चर्मचक्षुओं से अगोचर है कहा भी है **"देवानां निहितं निधिम्"** अथर्व १२।४।१७ ब्राह्मण में यह ब्रह्मतेज के रूप में रहती है। मनुष्य के दैवीमन में जो चारों वेदों की सत्ता बतायी है। **"यस्मिन्नृच साम यजूंषि०"** यजु० ३४।५ वह ब्रह्मतेज है, ये वेद वशा के माध्यम से अन्तर्गुहा से उभरकर ऊपर आते हैं। अथर्व १०।१०।१४ में कहा है **"वशा समुद्रे प्रानृत्यद् ऋचः सामानि बिभ्रती"** बृहस्पति तुल्य आचार्यों के मानस-समुद्र में यह वशा ऋक् तथा सामादि को धारण किये हुए नर्तन कर रही होती है। जो इसको तथ्य रूप में नहीं लेता तथा वशा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता उसके लिये मन्त्र में कहा है कि—

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम्।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः॥ अथर्व १२।४।१७

जो व्यक्ति देवों—दिव्य शक्तियों व इन्द्रियों की प्रच्छन्न रूप में निहित निधि इस वशा को वशा नहीं मानता अर्थात् उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता उस व्यक्ति के प्रति भव और शर्व नामक दोनों रुद्ररूप पुनः-पुनः आकर पीड़ा, दुःख, व्याधि व कष्ट रूप में अपने बाण फेंकते रहते हैं। अतः 'वशा' एक शक्ति है, इसे हमें स्वीकार करना चाहिये।

इसी सम्बन्ध में एक दूसरा मन्त्र है—

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परियन्त्यचित्त्या॥ अथर्व १२।४।५२

जो व्यक्ति वशा गौ के स्वामी को परे एकान्त में लेजाकर यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति जो वशा लेना चाहता है उसे आप मत देवें इस प्रकार अज्ञान व ईर्ष्या आदि के वशीभूत होके मना करते हैं, वे रुद्र देव के फेंके गये आयुध को

चारों ओर से प्राप्त करते हैं।

जो व्यक्ति श्रद्धा भाव से 'गोपति' अर्थात् ब्रह्मतेज से देदीप्यमान गुरु के पास 'वशा' ब्रह्मतेज तथा वेदवाणी को लेने आया है उससे ईर्ष्या रखने वाले व्यक्तियों का यही प्रयत्न रहता है कि ये वशा प्राप्त न कर सकें। गोपति गुरु को भी बहकाते हैं, ऐसे व्यक्तियों पर रुद्र के प्रहार सदा पड़ते रहते हैं।

तै० सं० ५।४।६ में आता है कि कुछ रुद्र तो आहुति ग्रहण करने वाले हैं और कुछ हवि लेने वाले हैं। प्रश्न यह है कि आहुति और हवि में क्या भेद है? इस सम्बन्ध में हम सायणाचार्य की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत करते हैं। यथा—

"आहुतिभागा इति। सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा इत्युक्तत्वात् सन्त्यनेके रुद्रास्तेषां मध्ये केचिदाहुतिमेव भजन्ते तदर्थः शतरुद्रीयहोमः। अन्ये तु हविर्भजन्ते तदर्थमिमं गवीधुकधान्येन निष्पादितं चरुं निदध्यात्। उपधाने सति हविर्भाजमग्निं स्वभागेन शान्तं करोति। यस्य यजमानस्य चयने तदिदं च स्वरूपधानं क्रियते तस्यैव शतरुद्रीयहोमः सफलो भवति। अन्यथा शतरुद्रीयं हुतमप्यफलं स्यादित्यभिज्ञा आहुः।"

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'बिल्वपत्रं स्थापयामि' आदि वाक्यों द्वारा बिल्वपत्र तथा अन्य द्रव्य को यथास्थान रखा जाता है उसी प्रकार शतरुद्रीय होम में जिन रुद्रों के लिये चरु का उपधान किया जाता है वे आहुतिभाग रुद्र कहलाते हैं और जिन रुद्रों के लिये गवीधुक से चरु निष्पन्न कर अग्नि में हवि डाली जाती है वे हविर्भाग कहलाते हैं।

हविर्भाग रुद्राग्नि को उसका अपना भाग देकर शान्त किया जाता है। चयन के समय यजमान का चरु का उपधान करना अत्यावश्यक होता है, तभी शतरुद्रीय होम सफल होता है।

चतुर्दश अध्याय

मन्त्र-व्याख्या

रुद्र सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ

ऋ० १।४३

ऋषिः—कण्वो घौरः। **देवता**—रुद्रः, ३ रुद्रः, मित्रावरुणौ च। **छन्दः**—गायत्री।

१. कद् रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे वोचेम शन्तमं हृदे ।।

(प्रचेतसे) प्रकृष्ट ज्ञानी व प्रकृष्ट रूप से चिताने वाले (मीढुष्टमाय) अतिशय सुख देने वाले (तव्यसे) अत्यन्त बलवान् (हृदे) हृदय में विद्यमान (रुद्राय) रुद्र के लिये (शंतमं वोचेम) अत्यन्त शान्ति देने वाले, रोगादि का शमन करने वाले मन्त्रादि का हम (वोचेम) उच्चारण करें।

मीढुष्टमाय—अतिशयेन मीढ्वान्।

तव्यसे— तवीयसे—अतिशयेन तवित्रे प्रवृद्धाय।

तवतिर्वृद्ध्यर्थः। तृ लोपः, ईयसुनः इकारलोपः।

महर्षि दयानन्द इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं "रुद्र शब्द से तीन अर्थों का ग्रहण है। परमेश्वर, जीव और वायु। उनमें से परमेश्वर अपने सर्वज्ञपन से जिसने जैसा पापकर्म किया उस कर्म के अनुसार फल देने से उसको रोदन कराने वाला है। जीव निश्चय करके मरते समय अन्य सम्बन्धियों को इच्छा कराता हुआ शरीर को छोड़ता है तब अपने आप रोता है और वायु शूल आदि पीड़ाकर्म से रोदनकर्म का निमित्त है। इन तीनों के योग से मनुष्यों को अत्यन्त सुखों को प्राप्त होना चाहिये" यह हमने महर्षि दयानन्द का मन्त्र का भावार्थ दिखा दिया है, तदनुसार विद्वान् लोग मन्त्रों पर विचार करें। यह रुद्र भगवान् 'प्रचेता' है। प्रचेता प्रवृद्धचेता अत्यन्त प्रवृद्ध चेतस् वाला तथा प्रकृष्ट ज्ञानी है अथवा प्रकृष्ट रूप से चिताने वाला है। 'प्रचेतयति प्रज्ञापयति' निरु० ११।३।१८ अर्थात् यह रुद्र सबको अच्छी प्रकार यह जता देता है कि यदि पापकर्म करोगे तो उसका फल कष्ट, दुःख व पीड़ा आदि अवश्य प्राप्त होगा तद्विपरीत पुण्यकर्म से सुख मिलेगा।

स्वामी दयानन्द अपने भाष्य में परमात्मा, जीवात्मा तथा वायु इन तीनों के सहचार से सुख-प्राप्ति होना बताते हैं। सुख-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय यह है कि जीवात्मा परमात्मा के साथ योग करे, इससे मोक्ष तक की उपलब्धि होती है और जीवन में मानसिक, शारीरिक आदि सुख प्राप्त हो उसका उपाय यही है कि जीवात्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध हो और प्राणवायु का भी सम्यक् सहचार हो, सकल वासनाएँ, इच्छाएँ आदि प्राणवायु से सम्बन्ध रखती हैं। प्राणवायु के विकृत होने से सभी उपद्रव मनुष्य को आ घेरते हैं।

यह रुद्र 'मीढुष्टम' भी है अर्थात् अपने शिव रूप से अतिशीघ्र सुख देता है। और दूसरे रुद्र रूप से भी यह सुखप्रद है वह इस प्रकार कि रोदन अर्थात् अश्रु-मोचन से मनुष्य का दुःख आँसुओं के माध्यम से बह जाता है और मनुष्य सुखी हो जाता है।

२. यथा नो अदितिः करत् पश्वे नृभ्यो यथा गवे। यथा तोकाय रुद्रियम् ॥

(यथा) जैसे (अदितिः) पृथिवीमाता या देवमाता (नः) हमारे (गवे पश्वे) गौ आदि पशुओं के लिये (नृभ्यः) मनुष्यों के लिये (यथा) जैसे (तोकाय) हमारी सन्तति के लिये (रुद्रियं करत्) रौद्र कर्म करती है।

३. यथा नो मित्रो वरुणो यथा रुद्रश्चिकेतति। यथा विश्वे सजोषसः ॥

(यथा) जैसे (मित्रः वरुणः) मित्र और वरुण और (यथा) जैसे (रुद्रः) यह रुद्र (नः) हमें (चिकेतति) चिताते हैं हमारे कर्मों के प्रति हमें सावधान करते हैं और यथा (विश्वे सजोषसः) जैसे सब देव मिलकर हमें पापकर्म के प्रति सचेत करते हैं।

उपर्युक्त दोनों मन्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं। पार्थिव प्राणियों पर अदिति पृथिवी माता का समय-समय पर क्रोध प्रकट होता रहता है। भूकम्प आदि रूप में पार्थिव क्रोध है, अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि रूप में अदिति देवमाता का प्रकोप होता है। यदि मनुष्य पापकर्म न कर परस्पर प्रेम व सत्यव्यवहार आदि नियमों का पालन करते हुए परिश्रमपूर्वक पृथिवी-माता से अन्नादि की याचना करे तो मनुष्य समाज तथा तदधीन पशुसमूह भी सुखी रहे। रुद्र का शिवरूप ही मनुष्यों आदि प्राणियों का कल्याण करने वाला रूप है। द्वितीय मन्त्र में मित्र देवता अर्थात् भगवान् हृदय में मित्र रूप में मनुष्य को समझा-बुझाकर पापकर्म से रोकता है। यदि वह उसके मित्र तुल्य उपदेश को अनसुना कर देता है तो फिर वह वरुण देव उसके प्रति पुलिस कर्म करता है और यदि मनुष्य इस पर भी नहीं मानता तो फिर रुद्र उसका संहार कर देता है।

४. गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम् । तच्छंयोः सुम्नमीमहे ।।

(गाथपतिं) गान, संगीत व भक्तिगान के पालक, (मेधपतिं) यज्ञीय कर्म व मेध्य के स्वामी (जलाषभेषजम्) सुखप्रद रोगनिवारक औषधि वाले (रुद्रं) रुद्र देव की हम स्तुति करते हैं (तत् शंयोः) उस कल्याण-प्राप्ति तथा दुःख-निवारण तथा (सुम्नं) सुख-शान्ति की (ईमहे) कामना करते हैं।

जलाषभेषजम्—जनी+ड+लष इच्छायां घञ् । जैः जातैः लष्यते इति जलाषम् ततो भिषज् चिकित्सायां सुखने च—अच् (जलाषं भेषजं च सुखनाम निघं० ३।६) जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । क्षेमकरणदास ।

"जलाषं सुखरूपं भेषजं औषधं यस्य तं रुद्रम् । जायन्त इति जाः, जानां लाषः अभिलाषो यस्मिन् तत् जलाषं सुखम्, जलाषरूपं सुखरूपं भेषजं यस्य तम् । रुद्रसम्बन्धि औषधं अलौकिकं सुखरूपम् । जलमेव जलाषं भेषजं यस्येति प्राहुरेके, तत्र प्रक्रिया न ज्ञायते ।" कपालि शास्त्री—

जो विद्वान् "रुद्रियम्"—'रुद्रस्येदं बलम्' रुद्रसम्बन्धि बल-प्राप्ति का विधान मानते हैं उनके मत में मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार होंगे—

(क) रुद्र नामक देव के लिये अतिशय सुखकर स्तोत्र हम कब बोलेंगे अथवा हृदय को शान्ति पहुँचाने वाला स्तोत्र यद्वा हृदयभूत रुद्र के लिये शान्तिकर स्तोत्र कब बोलेंगे । वह रुद्र कैसा है ? प्रकृष्ट ज्ञानी है, अतिशय रूप में दिव्य सम्पत्ति की वर्षा करने वाला है और अतिशय बलवान् है।

(ख) अदिति देवमाता हमें रुद्रसम्बन्धिबल जिस प्रकार से भी हो वह देवे। हमारे शेष पूर्ववत् ।

(ग) मित्र, वरुण, रुद्र तथा विश्वदेव हमारे प्रति अनुग्रह रूप में जैसा उचित समझते हैं—(चिकेतति) वैसा-वैसा हो।

५. यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते । श्रेष्ठो देवानां वसुः ।।

(यः) जो रुद्र (शुक्र इव सूर्यः) सूर्य के समान देदीप्यमान है (हिरण्यमिव रोचते) सुवर्ण के समान दीप्तिमान् व रुचिकर है वह (देवानां) सब देवों के मध्य में (श्रेष्ठः) प्रशस्यतम है और (वसुः) सबका निवास का हेतु है।

वसुः—वस निवासे, अन्तर्भावितण्यर्थः, उ-प्रत्ययः ।

६. शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये । नृभ्यो नारिभ्यो गवे ।।

वह रुद्र देव (नः) हमारे (अर्वते) अश्वादि के लिये (मेषाय) मेढे के लिये तथा (मेष्यै) मेढी के लिये (नृभ्यः) पुरुषों के लिये (नारिभ्यः) स्त्रियों के लिये (गवे) गोजाति के लिये (सुगं) सुगम्य (शं) सुख, कल्याण (करति) करता है। करति=करोति; व्यत्येन शप् । मेष्ये "चतुर्थ्येकवचने आडागमाभावः छान्दसः।

ऋ० १।११४

ऋषिः—कुत्स ग्रांगिरसः । **देवता**—रुद्रः । **छन्दः**—जगती, १०, ११ त्रिष्टुभ्

१. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः ।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे ग्रस्मिन्ननातुरम् ।।

(तवसे) ग्रत्यन्त बलवान् (कपर्दिने) द्युलोक रूपी उष्णीष=(पगड़ी) वाले (क्षयद्वीराय) वीर पुरुष जिसमें निवास करते हैं ऐसे (रुद्राय) रुद्र भगवान् के लिये (इमाः) ये (मतीः) बुद्धिपूर्वक की गई स्तुतियाँ ग्रथवा कामनाएँ हम (प्रभरामहे) धारण करते हैं (यथा) जिससे (द्विपदे) दो पाये तथा (चतुष्पदे) चौपाये प्राणियों का (शं ग्रसत्) कल्याण हो । (ग्रस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में या हमारे संघ में [ब्रह्माण्डसमूहे—स्वामी दयानन्द] (विश्वं) सब (पुष्टं) पुष्ट व बलशाली तथा (ग्रनातुरं) रोगरहित हों ।

कपर्दी— कपर्दश्चूडातद्वते । रुद्र भगवान् को कपर्दी जटाजूटधारी कहा जाता है। रुद्र की जटाजूट ग्रर्थात् पगड़ी यह द्युलोक है जिसमें रश्मियों के कई लपेटे दिये गये हैं। इस पृथिवी पर हिमालय की चहुंग्रोर फैली हुई शिखरपंक्तियाँ भी जटाजूट हैं ।

क्षयद्वीराय—क्षयन्तो निवसन्तः वीरा यस्मिन् तस्मै ।
क्षयन्तो दोषनाशका वीरा यस्य तस्मै । स्वामी दयानन्द

मतीः— मतिर्मन्यतेः कान्तिकर्मणः । निघं० २।६

ग्राम— संघ ग्रर्थ में ग्राता है । महर्षि दयानन्द ने यहाँ ग्राम पद से ब्रह्माण्ड-समूह का ग्रहण किया है । इस ग्राधार पर रुद्र से इस ब्रह्माण्ड के स्वामी रुद्र का ग्रहण होगा ।

२. मृडा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते ।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु ।।

हे रुद्र भगवन् ! (नः मृड) हमें सुखी कर (उत) ग्रौर (नः मयः कृधि) हमारी तृषा को शान्त कर (क्षयद्वीराय) वीरपुरुषों वाले (ते) तेरी हम (नमसा) नमन द्वारा (विधेम) पूजा करते हैं (पिता मनुः) सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य-जाति का पिता मनु (यत्) जो (शं) कल्याण व सुख की प्राप्ति तथा ग्रौर (योः च) दुःखों का निवारण (ग्रायेजे) प्राप्त किया करता है या मनुष्यों के लिये जुटाता है (तत्) वह सब (रुद्र) हे रुद्र भगवान् ! (तव प्रणीतिषु) तेरी प्रकृष्ट नीतियों का ग्रनुसरण करते हुए हम (ग्रश्याम) प्राप्त करें ।

मयः— प्यासे को पानी पीने के पश्चात् जो सुख प्रीणन व तृप्ति होती है उसे 'मय' कहते हैं ।

मनुः पिता— प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में मानव-जाति का जो पितृतुल्य आदिम पुरुष होता है उसे मनु कहा जाता है, उसे मनुष्य-जाति के सुख के लिये 'शं' सुख-प्राप्ति के सब साधन, कार्य, व्यवहार नीति, आदि को जुटाना पड़ता है। और 'योः' निवारण करने योग्य सब पदार्थों, कुमार्ग आदि का निर्देश करना होता है। यह सब मनुस्मृति में है।

३. अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः।
सुम्नायन्निद्विशो अस्माकमा चरारिष्टवीरा जुहवाम ते हविः॥

(मीढ्वः) सुख सिंचन करने वाले (रुद्र) हे रुद्र देव! (देवयज्यया) देवयजन व देव पुरुषों के सत्कार द्वारा हम (क्षयद्वीरस्य) वीरों से युक्त (ते) तेरी (सुमतिं) शोभन मति को (अश्याम) प्राप्त करें (अरिष्टवीराः) अहिंसित वीरों वाली (अस्माकं विशः) हमारी प्रजाओं को (सुम्नायन्) सुख पहुँचाता हुआ (आचर) श्रेष्ठ मार्ग पर चला। हम (ते) तुझे (हविः) आहुति (जुहवाम) प्रदान करते हैं।

देवयज्यया—देवा इज्यन्ते यया क्रियया तया।

मीढ्वः— मिह सेचने।

सुम्नायन्— सुखमाचरन्—सुम्नं सुखं परेषामिच्छति, छन्दसि परेच्छायामपि क्यच्।

देवों का यजन करने से रुद्र प्रसन्न होते हैं। इससे उसकी सुमति हमारे प्रति होती है। और यज्ञ द्वारा रुद्र को हवि देने से हम अरिष्टवीर अहिंसित वीरों वाले होते हैं। देवयज्ञ करने से ही रुद्र 'क्षयद्वीर' बनता है, वह पुरुषों को वीर बनाता है।

४. त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वंकुं कविमवसे निह्वयामहे।
आरे अस्मद् दैव्यं हेडो अस्यतु सुमतिमिद्वयमस्यावृणीमहे॥

(वयं) हम (त्वेषं) तीक्ष्ण, उग्र (वंकुं) दुष्टों के प्रति कठोर (कविं) क्रान्तदर्शी (यज्ञसाधं) यज्ञ द्वारा साधनीय (रुद्रं) उस रुद्र भगवान् को (अवसे) अपनी रक्षा के निमित्त (निह्वयामहे) आह्वान करते हैं। वह रुद्र (दैव्यं हेडः) देव-सम्बन्धी घृणा, अनादर व कष्ट आदि को (अस्मत् आरे) हमसे दूर (अस्यतु) फैंके अर्थात् हम देवों के अनादर, घृणा आदि के पात्र न बनें। (वयं) हम (अस्य) इस रुद्र भगवान् की (सुमतिं) श्रेष्ठ मति को (इत्) निश्चय से (वृणीमहे) वरण करते हैं।

यज्ञसाधम्—यज्ञेन साधं साधनीयं यद्वा यज्ञं साधयतीति यज्ञसात् तम्।

वंकुम्—वकिकौटिल्ये उणादि० उप्रत्ययः।

इस मन्त्र में रुद्र भगवान् से रक्षा की प्रार्थना की गई है। परन्तु यह स्मरण

रखना चाहिये कि वह तीक्ष्ण स्वभाव, व उग्र (त्वेषं) है, वंकु-कठोर है, वह पाप व दुष्टता को सहन नहीं करता है। उसे किस प्रकार अनुकूल बनाया जा सकता है उसका साधन मन्त्र में ही बता दिया गया है वह है—यज्ञसाध अर्थात् यज्ञीय भावना से यज्ञीय कर्म आदि करके उसे साधा जा सकता है, अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। उस रुद्र के यज्ञसाध होने पर देवों द्वारा प्रदत्त कष्टों तथा अनादर आदि को वह दूर कर सकता है। देव प्राकृतिक शक्तियाँ द्युलोक व अन्तरिक्ष में विचरने वाली दिव्य आत्माएँ तथा पृथिवीस्थ भूदेव आदि किसी न किसी रूप में मनुष्य को प्रभावित किया करते हैं।

५. दिवोवराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा निह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद्भेषजा वार्याणि शर्म वर्म छर्दिरस्मभ्यं यंसत्॥

(दिवः) द्युलोक से (वराहं) वरणीय आहार को पृथिवी पर लाने वाले (अरुषं) लाल वर्ण वाले (कपर्दिनं) रश्मि रूपी उष्णीष धारण किये हुए (त्वेषं रूपं) तीक्ष्ण रूप वाले सूर्य रूपी रुद्र को (नमसा) नमन द्वारा (निह्वयामहे) आह्वान करते हैं। वह सूर्य रूपी रुद्र (हस्ते) किरण रूपी हाथ में (भेषजा वार्याणि) वरणीय औषध धारण किये हुए (अस्मभ्यं) हमें (शर्म) सुख (वर्म) व्याधि रूप शत्रुओं से बचाव का कवच तथा (छर्दिः) तेजस्वी आवरण (यंसत्) प्रदान करे।

इस मन्त्र में रुद्र सूर्य है। यह द्युलोक से मानवहितकारी वरणीय आहार पृथिवी पर भेजता है। इसी दृष्टि से निरुक्त में वराह की व्युत्पत्ति दी है। **"वरमाहारमाहार्षीः इति च ब्राह्मणम्"** —निरु० ५।१।४ यह उपर्युक्त व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने किसी ब्राह्मणग्रन्थ की उद्धृत की है।

वर+आङ्+हृञ् हरणे (भ्वादि०)+डः प्रत्ययः।

छर्दिः—उछृदिर् दीप्तिदेवनयोः रुधादि०।

६. इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्।
रास्वा चनो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृड॥

(इदंवचः) यह स्तुतिवचन (मरुतां पित्रे) मरुतों के पिता (रुद्राय) रुद्र के लिये (उच्यते) कहा गया है। (स्वादोः स्वादीयः) स्वादिष्ठ से भी स्वादिष्ठ भोजन (वर्धनं) हमारे अन्दर रुद्रशक्ति को वढ़ाने वाला होता है। (अमृत) हे अमरणधर्मा रुद्र तू (नः) हमें (मर्तभोजनं) मनुष्य-हितकारी भोजन (रास्व) प्रदान कर (त्मने) हमारे अपने शरीर (तोकाय) पुत्र तथा (तनयाय) पौत्र के लिये वह (मृड) सुखकारी हो।

यहां मन्त्र में रुद्र को मरुतों के पिता के रूप में स्मरण किया गया है। मरुत् प्राणवायु है जिसमें प्राणशक्ति अत्यन्त प्रबल होती है वह अत्यन्त स्वादिष्ठ भोजन

की अपेक्षा रखती है और उन्हीं व्यक्तियों में विद्यमान रुद्र व्याधि आदि शत्रुओं को रुलाने वाले होते हैं।

७. मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥

हे रुद्र! (मा नः महान्तं वधीः) हमारे महान् वृद्ध व्यक्ति को मत मारो (उत) और (न अर्भकं मा) हमारे से छोटे व्यक्ति व बच्चों को मत मारो (नः उक्षन्तं मा) हमारे वीर्यसिंचन में समर्थ युवा व्यक्ति को मत मारो (मा नः उक्षितम्) वीर्यसिंचन से उत्पन्न गर्भस्थ सन्तति को मत मारो (उत) और (नः पितरं मातरं मा) हमारे मातापिता को मत मारो और हे रुद्र! (नः प्रियाः तन्वः) हमारी प्यारी स्त्रियों को (मा रीरिषः) मत हिंसित करो।

तन्वः—तनु विस्तारे—सन्तति का विस्तार करने वाली।

रीरिषः—रिष हिंसायां ण्यन्ताल्लुङ्।

८. मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥

हे रुद्र! (नः तोके तनये मा रीरिषः) हमारे पुत्रपौत्रों आदि की मत हिंसा करो (मा नः आयौ) हमारी आयु को मत क्षीण करो (मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः) हमारी गोओं और अश्वों पर हिंसा का प्रहार मत करो। हे रुद्र! (नः भामितः) क्रुद्ध हुआ तू (नः वीरान् मा वधीः) हमारे वीर बहादुरों का वध मत करो (हविष्मन्तः) तेरे लिये हवि धारण किये हुए हम (त्वा) तुझे (इत्) निश्चय से (सदम् हवामहे) सदा बुलाते हैं।

९. उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे।
भद्रा हि ते सुमतिर्मृडयत्तमाथा वयमव इत्ते वृणीमहे॥

(पशुपा इव) पशुपालक को जिस प्रकार गो आदि प्रतिदान में दूध आदि देती हैं उसी प्रकार हे रुद्र! तेरे रक्षण-पालन आदि के प्रतिदान में मैंने (ते स्तोमान् उप अकरम्) तुझे स्तुतिसमूह अर्पित किया है। हे (मरुतांपितः) मरुतों के पिता रुद्र! तू (अस्मे सुम्नं रास्व) हमें सुख पहुँचा। (ते सुमतिः) तेरी श्रेष्ठ मति (हि) निश्चय से (भद्रा) कल्याणकारिणी है (मृडयत्तमा) अत्यन्त सुख देने वाली है (अथ) और (वयं) हम (इत्) निश्चय से (ते अवः वृणीमहे) तेरी रक्षा का वरण करते हैं।

शास्त्रों में रुद्र नाम का एक पशुपति है। जिस प्रकार एक पशुपालक गो

आदि पशुओं को चारा आदि देता है, हिंसक पशुओं से उनकी रक्षा करता है, रोग-पीड़ित होने पर औषध आदि प्रदान करता है किसलिये ? कि ये पशु प्रतिदान में मुझे दुग्ध आदि प्रदान करेंगे। इसी प्रकार भक्त रुद्र भगवान की रक्षा, पालना आदि के प्रतिदान में स्तुति करता है। ये स्तोत्र ही एक प्रकार से घास के तुल्य हैं। इन स्तोत्रों से ही वह रुद्र तृप्त हो जाता है।

१०. आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।
मृडा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः ॥

(क्षयद्वीर) वीरों को नष्ट करने वाले हे रुद्र देव ! (ते) तेरे गण में जो (गोघ्नं) गोघातक तथा (पूरुषघ्नं) पुरुषों की हिंसा करने वाला है उसको तू (आरे) हमसे दूर ही रख (ते सुम्नं) तेरा सुख (अस्मे अस्तु) हमें प्राप्त हो। (च) और (नः मृड) हमें सुख प्रदान कर (च) और (अधिब्रूहि) हमें उपदेश दे (अधा च) और भी (देव) हे देव ! (नः) हमें (द्विबर्हाः) इहलोक तथा परलोक या अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों को बढ़ाने वाला (शर्म) शरण व सुख (नः यच्छ) हमें प्रदान कर।

द्विबर्हाः—द्वयोः स्थानयोः वर्हते प्रवर्धते इति द्विबर्हाः असुन्। कपालिशास्त्री
द्वयोर्व्यवहारपरमार्थयोर्वर्धकः। स्वामी दयानन्द

गोघ्नम्—गो—हन् हिंसागत्योः, 'घञर्थे भावे करणे वा कविधानम्'।

यहां मन्त्र में रुद्र भगवान् हमें उपदेश दे, हमसे बोले ऐसा विधान हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि रुद्र भगवान् भक्त के प्रति प्रकट होकर उसे दर्शन आदि देता है। वह हृदय में भी प्रकट हो सकता है। बाह्य जगत् में वह किस रूप में प्रकट होता है यह स्वयं साधकों के लिये अनुभवगम्य बात है सम्भवतः सूक्ष्म-जगत्विहारी रुद्रों को प्रेरित करता हो, इस सम्बन्ध में निश्चय से कुछ भी नहीं कह सकते। गोघ्न, पूरुषघ्न पदों से रोग कृमि-कीट, हिंसक पशु, विषैले जीव-जन्तु तथा हिंसक व दुष्ट पुरुषों का ग्रहण किया जा सकता है।

११. अवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः शृणोतु नो हवं रुद्रो मरुत्वान्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

(अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले हम (अस्मे) इस रुद्र के प्रति (नमः अवोचाम) नमस्कार करते हैं (मरुत्वान् रुद्रः) प्राण-सम्पन्न मरुतों-वाला यह रुद्र (नः हवं शृणोतु) हमारे आह्वान को सुने। मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्युलोक ये सब (नः मामहन्ताम्) हमें बढ़ावें।

ऋ० २।३३

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः। देवता—रुद्रः। छन्दः—त्रिष्टुप्

१. **आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य सन्दृशो युयोथाः।**
अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः॥

(मरुतां पितः) हे मरुतों के पालक पिता ! (ते सुम्नं) तेरा सुख (आ एतु) हमें प्राप्त हो। तू (सूर्यस्य सन्दृशः) सूर्य के सम्यक् दर्शन से (नः) हमें (मा युयोथाः) ओझल मत कर। (नः वीरः) हमारा वीरपुरुष (अर्वति) अश्वारोहण तथा अन्य यानसाधनों में आरूढ़ होकर (अभिक्षमेत) चहुंओर सामर्थ्य व शक्ति का प्रदर्शन करे अथवा शत्रु-प्रहारों को सहने में समर्थ हो। (रुद्र) शत्रुओं व दुष्टों को रुलाने वाले हे भगवन् ! हम (प्रजाभिः) सन्तानादि प्रजाओं के साथ (प्रजायेमहि) इस संसार में पैदा हों।

यहां रुद्र को मरुतों का पिता "पितर्मरुतां" कहा गया है। मरुत् से मनुष्य तथा प्राणवायु दोनों अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। वस्तुतः मनुष्य की सत्ता तभी तक है जब तक उसमें प्राणवायु सक्रिय है। प्राणवायु के निकलते ही मनुष्य मर जाता है अतः सुम्न=सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य का जीवित रहना तथा उसमें प्राणवायु का सम्यक् संचार होना नितान्त आवश्यक है, यह सब रुद्र देव के अधीन है। अतः यहाँ मन्त्र में रुद्र को मरुतां पिता कहना सार्थक है। चिरकाल तक अर्थात् पूर्ण आयु तक मनुष्य सूर्य का सम्यक् दर्शन कर सके, ऐसी प्रार्थना रुद्र से की गई है जिससे कि वह आधि-व्याधि के प्रहारों को सहने में समर्थ हो। यहाँ मन्त्र में वीर-भावना, व सामर्थ्य 'अर्वा' अश्वारोहण द्वारा दर्शायी है। सामर्थ्यवान् व्यक्ति ही अश्वारोहण का साहस कर सकता है।

२. **त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।**
व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः॥

हे रुद्र ! शत्रुओं, दुष्टों व व्याधिजनक क्रमियों को रुलाने वाले हे देव ! (त्वादत्तेभिः) आप द्वारा दी गई (शन्तमेभिः) अतीव शान्तिप्रद (भेषजेभिः) औषधियों के प्रभाव से (शतं हिमाः) सौ वर्ष की आयु को (अशीय) प्राप्त होऊं। और (विषूचीः) समग्र शरीर में व्याप्त (अमीवाः) रोगों (वितरं अंहः) विविध रूप में फैले दुष्ट कर्मों, पापों (द्वेषः) ईर्ष्यादि द्वेषों को (अस्मत्) हमसे (विचातयस्व) नष्ट कर दो।

महर्षि दयानन्द ने इस सूक्त को रुद्र-रूप वैद्य की ओर लगाया है। हम वैद्यों के भी वैद्य उस परम चिकित्सक रुद्र भगवान् के प्रति लगाने का प्रयत्न करते हैं। ये सब ओषधि-वनस्पतियाँ उस रुद्र-रूप भगवान् ने पैदा की हैं। जब वह रोगादि

द्वारा संहार करना चाहता है तब वृष्टि आदि द्वारा औषधियों में विष का संचार कर देता है कहा भी है—

"रुद्र ओषधीर्विषेणालिम्पत् ताः पशवो नालिशन्त"

काठ० ६।५

अर्थात् रुद्र ने औषधियों में विष का संचार कर दिया। पशुओं ने उनकी ओर मुंह नहीं किया (लिश गतौ) इस प्रकार रुद्र भगवान् औषधों को विषयुक्त कर संहार किया करता है। पर जब वह शिव रूप बनता है तो वही औषधियाँ अमृतस्राविणी बन जाती हैं। मन्त्र में उस रुद्र भगवान से—

शन्तम्—शान्तिप्रद भेषज मांगी है।

वितरम्—विकीर्णतरमिति वा विस्तीर्णतरमिति वा। निरु. ८।२।९

चातयस्व—चातयतिर्नाशने। निरु. ६।६।३०

विषूचीः—विश्वमंचति इति ताः। अञ्चू गतिपूजनयोः।

३. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥

(वज्रबाहो) हे वज्रबाहु रुद्र! तुम (तवसां तवस्तमः) बलशालियों में सर्वाधिक बलशाली हो (श्रिया) अपनी श्री व शोभा के कारण (जातस्य श्रेष्ठः असि) उत्पन्न हुओं में श्रेष्ठ हो (नः) हमें (अंहसः) पाप से (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (पारं पर्षि) पार लगाओ (रपसः) पाप के कारण आयी (विश्वा अभीतीः) सम्पूर्ण विपत्तियों को (युयोधि) दूर कर दो।

'वज्रबाहु' विशेषण से यह स्पष्ट है कि रुद्र का वास्तविक स्वरूप रोने-रुलाने में है। महान् से महान् बलशालियों से भी यह महान् है और बलवान् है। तवस इति महतो नामधेयम् निघं. ३।३। क्योंकि यह रुद्र पापियों व दुष्टों को दण्ड देकर रुलाता है अतः उस रुद्र से पाप आदि दुष्कर्मों से पार पहुंचाने की प्रार्थना करना स्वाभाविक है!

रपसः—रपः रिप्रमिति पापनामनी भवतः। निरु० ४।३।२१

युयोधि—यु मिश्रणेऽमिश्रणे च (अदादि०)

४. मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥

हे रुद्र! (त्वा) तेरे प्रति हम (मा चुक्रुधामाः) कभी क्रोध न करें अथवा तुझे क्रुद्ध न करें (वृषभ) हम पर ज्ञान व शक्ति की वृष्टि करने वाले हे रुद्र देव! हम तुझे (दुः स्तुती) दुर्वचन व तेरी निन्दा तथा (सहूती) समान बनने की स्पर्धा से (मा चुक्रुधामाः) कभी क्रुद्ध न करें। अपितु (नमोभिः) तेरे प्रति नमन भाव से तुझे

सदा प्रसन्न करें। (नः वीरान्) हमारे वीरपुत्रों को तुम (भेषजेभिः) औषधियों से (उत् अर्पय) उत्कृष्टता व उन्नति की ओर समर्पित जीवन वाला बनाओ। मैं (त्वा) तुम्हें (भिषजां भिषक्तमं) सब चिकित्सकों में श्रेष्ठ चिकित्सक (शृणोमि) सुनता आ रहा हूँ।

प्रश्न यह पैदा होता है कि रुद्र को भिषजों में सर्वोत्तम भिषक् क्यों कहा है? इसका समाधान यह प्रतीत होता है कि यह रुद्र भगवान् विषैले जीव-जन्तुओं, कृमि-कीटों तथा रोगाणुओं का अधिपति है, इनको हटाना व रोकना इसी के अधीन है। यही रुद्र वृष्टि द्वारा अमृत व विष बरसाकर ओषधि-वनस्पतियों को विषैली व अमृतमय बना सकता है यह सब रुद्र देव की कृपा पर निर्भर है। इसी कारण वेदों में रुद्र भगवान् की ही (नमः) द्वारा विशेष स्तुति मिलती है। इस दृष्टि से रुद्र घोर व हिंसक है तो शिव रूप होने के कारण वह सर्वोत्तम भिषक् भी है। अतः रुद्र भगवान् की दुःस्तुति करना व उसको चैलेंज करना ठीक नहीं।

सहूती—समानस्पर्धया। स्वामी दयानन्द।

५. **हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय।**
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्मै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन् मनायै।।

(यः) जो भक्तजन (रुद्रं) उस रुद्र भगवान् को (हवीमभिः) आह्वानों द्वारा (हवते) बुलाता है और जो (हविर्भिः) हवियों से यज्ञ करता है उस रुद्र को मैं (स्तोमेभिः) स्तुति-समूहों के साथ (अवदिषीय) अपने आपको समर्पित करता हूं, जो रुद्र (ऋदूदरः) कोमल हृदय वाला, शत्रु की गति को विदीर्ण करने वाला, हिंसक का विनाश करने वाला, या मर्मभेदी (सुहवः) तत्काल आह्वान सुनने वाला (सुशिप्रः) सुन्दर मुखाकृति वाला (बभ्रुः) भरणपोषण करने वाला या बभ्रु वर्ण का है वह रुद्र (अस्मै मनायै) हमारी इस मनौती के लिये या हमारी इस बुद्धि के कारण (मारीरधत्) हमारी हिंसा न करें।

दिषीय—खण्डयेयम्—दो अवखण्डने (अदादि०) धातोर्लिङ्, व्यत्ययेनात्मनेपदम्—स्वामी दयानन्द। दा धातोर्लिङि छान्दस-प्रयोगः।

ऋदूदरः—ऋदूं दारयति इति ऋदूदरः। पुरन्दरवत् निपात्येते ऋदू-अर्द हिंसायाम् (चुरादि०) ऋदुः मर्मार्थे वा मर्मविदारकः यद्वा अर्द गतौ (भ्वादि०) शत्रूणां गतिविदारकः।

यजु० १६ वें अध्याय में कुछ मन्त्र रुद्र भगवान् के आह्वान के लिये हैं कुछ आहुति देने के लिये हैं। रुद्र के प्रति नमस्कार व स्तुति-सम्बन्धी तो प्रायः सभी मन्त्र हैं। शतपथब्राह्मण के शतरुद्रिय प्रकरण में इसका विशद विवेचन मिलता है। वह रुद्र भगवान् 'सुहवः' भक्त द्वारा किये गये आह्वान को तत्काल सुनता है। और एक स्थल पर तो यहाँ तक कहा है कि **"नामग्राहमेवैनमेतत्"** श० प०

६।१।१।२४ केवल नाम मात्र लेने से ही वह प्रसन्न हो जाता है। यह विद्वानों तथा सूक्ष्मद्रष्टाओं के लिये एक विचारणीय विषय है। मन्त्र में रुद्र को 'सुशिप्र' सुन्दर आकृति वाला कहा है। प्रश्न होता है कि रुद्र तो मन्युरूप है और प्रजापति में वह स्थित है। मन्यु की आकृति कहाँ? इसका समाधान क्या हो, यह भी एक विचारणीय विषय है। इसका समाधान यही प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति में मन्यु उद्बुद्ध हो जाता है वह रुद्रकोटि में आ जाता है। क्रोध में मनुष्य की आकृति विकृत हो जाती है पर मन्यु में नहीं होती। क्रोध में चेतना जाती रहती है, मनुष्य आपे से बाहिर हो जाता है पर मन्यु में ऐसा नहीं होता।

६. **उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।**
घृणीव छाया मरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्॥

(मरुत्वान्) मरुतों वाले (वृषभः) वर्षणशील रुद्र ने (नाधमानं मा) याचना करते हुए मुझको (त्वक्षीयसा) उग्रतप व नियमादि द्वारा तीक्ष्ण बनायी गई (वयसा) आयु से (उत् ममन्द) उत्कृष्टता में आनन्द मनाने वाला बनाया है। अर्थात् रुद्र की कृपा से मैंने उग्रतप द्वारा अपने जीवन को खूब तीक्ष्ण बनाया है, तपस्या में ही मुझे आनन्द आता है। (अरपा) निष्पाप मैं (घृणीव छायां) सूर्य की गरमी से सन्तप्त पुरुष जिस प्रकार छाया का आश्रय लेता है उसी प्रकार मैं (रुद्रस्य) रुद्र का आश्रय (अशीय) प्राप्त करूँ और (सुम्नं) सुख का (विवासेयम्) सेवन करूँ।
त्वक्षीयसा—त्वक्ष तनूकरणे।

आयु अर्थात् समग्र जीवन को तीक्ष्ण बनाने का एक ही उपाय है और वह यह कि मनुष्य आलस्य व प्रमाद उत्पन्न करने वाले विचारों व दुष्ट भावों के प्रति मन्यु धारणकर उन्हें दूर करे। यह मन्यु ही रुद्र है। '**अच्युतमसि, अक्षितमसि, प्राणसंशितमसि**' यह उपनिषद्-वाक्य तपस्याग्नि कठोर नियम व व्रत-पालन से तीक्ष्ण की गई आयु को दर्शाता है। यहाँ रुद्र को 'मरुत्वान्' कहने का तात्पर्य यह है कि अपने अन्दर रुद्र-शक्ति के उद्बोधन के लिए प्राणायाम आदि द्वारा प्राणों को सबल व तीक्ष्ण किया जाये। जो व्यक्ति अपने आन्तरिक आधि, व्याधि तथा कुविचार आदि शत्रुओं को नष्ट करने में आनन्द मानता है वही रुद्र का भक्त है 'अरपा' निष्पाप व्यक्ति को अपने पापों को नष्ट करने में वैसा ही आनन्द आता है जैसा सूर्यताप से प्रतप्त व्यक्ति को वृक्ष की शीतल छाया मिलने पर आनन्द की अनुभूति होती है।

७. **क्वस्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।**
अपभर्ता रपसो दैव्यस्वाभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥

हे रुद्र ! दुष्टों को रुलाने वाले रुद्र देव ! (ते) तेरा (मृडयाकुः) सुख-शान्ति प्रदाता (स्यः) वह (हस्तः) हाथ (क्व) कहाँ है ? (यः) जो (भेषजः) औषध रूप है तथा (जलाषः) जल के समान सुख, शान्ति देने वाला (अस्ति) है। और जो (दैव्यस्य) देव-सम्बन्धी (रपसः) हमारे अपराध से उत्पन्न पीड़ा को (अप भर्ता) दूर करने वाला है (वृषभ) सुख की वर्षा करने वाले हे रुद्र ! (मा) मुझको (नु) निश्चय से (अभिचक्षमीथाः) क्षमा करना अर्थात् मेरे अपराध को सदा सहन करना।

मृडयाकुः—मृड् सुखने (तुदादि०), मृडतिर्दानकर्मा पूजाकर्मा।

निरु. १०।२।१५

जलाषः—सुखकर्ता, दुःखनिवारकः। स्वामी दयानन्द।

जलाषं उदकनाम। निघं. १।१२, सुखनाम। निघं. ३।६

मनुष्य देव-सम्बन्धी अपराध कर देता है उससे जो देव-प्रदत्त दण्ड उसे भुगतना पड़ता है उसको रुद्र देव की कृपा से शान्त किया जा सकता है। अतः अपने अपराध के निवारण के लिए मनुष्य को रुद्र देव से क्षमा-याचना करते रहना चाहिए।

८. **प्रबभ्रवे वृषभाय शिवतीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।**
नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥

(बभ्रवे) सबका भरण-पोषण करने वाले (वृषभाय) सुख-शान्ति की वर्षा करने वाले (श्वितीचे) शुद्ध, शुभ्र, वृद्धिशील गति वाले (महः) महिमामयी (महीं) महती (सुष्टुतिं) उत्तम स्तुति को (प्र ईरयामि) प्रेरित करता हूँ। हे मनुष्य ! तू (कल्मलीकिनं) देदीप्यमान तथा मलशोधक रुद्र की (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (नमस्य) वन्दना कर। हम (रुद्रस्य) रुद्र देव के (त्वेषं) अति तेजस्वी (नाम) नाम व स्वरूप की (गृणीमसि) प्रशंसा करते हैं।

कल्मलीकिनं—ज्वलन्तं कलयत्यपगमयति मलमिति कल्मलीकं तेजः तद्वन्तं—सायणाचार्य।
देदीप्यमानम्—स्वामी दयानन्द।
ज्वलतो नामधेयम्—निघं. १।१७

श्वितीचे—श्वैत्यमञ्चते—श्विता वर्णे। श्वितिमञ्चत्यञ्चते ऋत्विगित्यादिना क्विन् सायणाचार्य
यः श्वितिमावरणमञ्चति तस्मै। स्वामी दयानन्द।

९. **स्थिरेभिरंगैः पुरु रूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।**
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्॥

(उग्रः) उग्र स्वभाव (बभ्रुः) भरण-पोषण कर्ता व भूरा तथा (पुरुरूपः) नाना

जन्तुओं के कारण अनेक रूपों वाला वह रुद्र (हिरण्यैः) सुनहरे तथा चमकीले (शुक्रेभिः) शुद्ध व तेजस्वी (स्थिरेभिः अंगैः) स्थिर व दृढ़ अंगों से (पिपिशे) रूपवान् बना है। (अस्य भुवनस्य) इस संसार के (ईशानात्) ईश व स्वामी होने के कारण (भूरेः) नाना रूपों वाले (रुद्रात्) रुद्र भगवान् से (असुर्यम्) प्राणबल (न वा युयोषत्) कभी भी पृथक् नहीं होता।

रुद्र भगवान् के गण ये नाना विषैले जीव-जन्तु भूरे, लाल, नीले, पीले, सुनहरे आदि नाना रूप-रंगों के होते हैं। ये बड़े दृढ़ शरीर वाले होते हैं, स्वभाव से ये उग्र होते हैं। इसी कारण रुद्र को उपर्युक्त विशेषण दिये गये हैं। यह रुद्र जिस बल व शक्ति के प्रभाव से इस संसार का ईश बना है वह 'असुर्यम्' आसुरी बल होता है। आसुरी बल प्राणों का बल होता है।

१०. **अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।**
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा उ ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ।।

हे रुद्र! (अर्हन्) तुम दुष्टों के विनाश में समर्थ (सायकानि) अस्त्र-शस्त्रों को (धन्व) धनुष आदि आयुधों को (बिभर्षि) धारण करते हो (अर्हन्) योग्य व शक्तिशाली तुम (यजतं) संगमनीय (निष्कं) सुनहरे (विश्वरूपं) विश्वरूपों को धारण करते हो (अर्हन्) हे समर्थ रूप! तुम (अभ्वं) महान् (इदं, विश्वं) इस विश्व पर (दयसे) दया करते हो। हे रुद्र भगवान् (त्वत्) तुझसे कोई भी (न वा उ ओजीयः अस्ति) ओज में अधिक नहीं है।

रुद्र भगवान् के धनुष-बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तो प्रलयकारी होते हैं। अशनिपात, अन्धड़, ओलावृष्टि आदि प्राकृतिक उपद्रव उस रुद्र भगवान् के अस्त्र-शस्त्र हैं। विषैले जीव-जन्तु भी अस्त्र-शस्त्र का ही काम देते हैं। लुटेरे, चोर, डाकू आदि भी उसके अस्त्र ही हैं। जहाँ वह रुद्र अपने घोर रूप से सर्व संहार करता है वहाँ वह समग्र विश्व पर महान् कृपादृष्टि भी डालता है। उस रुद्र से बढ़कर संसार में कोई भी ओजस्वी नहीं है।

११. **स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।**
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ।।

हे मनुष्य! (श्रुतं) जो सुना जाता है पर दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि वह (गर्तसदं) हृदयरूपी गुहा में विराजमान है (युवानं) युवा (मृगं न भीमं) सिंह के समान भयंकर (उपहत्नुं) समीप में पहुंच शत्रु को मारने वाला (उग्रं) उग्ररूप रुद्र है। उसकी (स्तुहि) तू स्तुति कर। हे रुद्र देव! तू (स्तवानः) स्तुति किया जाता हुआ (जरित्रे मृड) स्तोता को सुख पहुंचा (ते सेनाः) तेरी सेनाएँ (अस्मत् अन्यं) हमसे अन्य को (निवपन्तु) विनष्ट करे।

१२. कुमारश्चित् पितरं वन्दमानं प्रतिनानाम रुद्रोपयन्तम् ।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे ।।

(रुद्र) दुष्टों को रुलाने वाले हे रुद्र ! (चित्) जिस प्रकार (कुमारः) कुमार (वन्दमानं) वन्दनीय (उपयन्तं) समीप आते हुए (पितरं प्रति) मातापिता के प्रति (नानाम) नमस्कार करता हूँ ऐसा कहता है उसी प्रकार (भूरेःदातारं) बहुत-सा ऐश्वर्य व ज्ञान आदि देने वाले (सत्पतिं) सज्जनों के पालक तुझ रुद्र की मैं (गृणीषे) स्तुति करता हूँ। इस प्रकार (स्तुतः) स्तुति किया गया (त्वं) तू (अस्मे) हमारे लिये (भेषजा रासि) रोगादि से छुटकारे के लिये औषध प्रदान करता है।

इस मन्त्र में यह उपदेश दिया गया है कि जिस प्रकार एक सत्कुलोत्पन्न कुमार प्रतिदिन पास आये माता-पिता व आचार्य को प्रणाम किया करता है उसी प्रकार हमें रुद्र की प्रतिदिन स्तुति करनी चाहिये। इससे प्रसन्न होकर वह भोले बाबा शंकर हमें भरपूर ऐश्वर्य, श्रेष्ठ ज्ञान तथा रोगादि से छुटकारे के लिये अनेकविध औषध प्रभूत मात्रा में प्रदान करेगा।

१३. या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु ।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि ।।

(वृषणः) सुखों की वृष्टि करने वाले (मरुतः) प्राणवन्त विद्वानों, (या) जो (वः) तुम्हारी (भेषजा) रोगनिवारक औषधियाँ (शुचीनि) अति शुद्ध (या शन्तमा) जो रोगों का अत्यन्त शमन करने वाली (या मयोभु) जो सुखदायक व प्रीणन करने वाली है (यानि) जिनको (नः पिता) हमारे पिता तथा (मनुः) मननशील वैद्य आदि ने (अवृणीत) हमारे लिये चुना है (रुद्रस्य) रुद्र भगवान् की (ता) उन औषधियों को जो (शं च) शान्तिप्रद तथा (योः) रोगनिवारक है (ता) उन औषधियों को मैं (वश्मि) प्राप्त करना चाहता हूँ।

जितनी भी रोग-निवारक व पौष्टिक औषधियाँ हैं वे सब रुद्र भगवान् के अधीन हुई उस रुद्र की शक्ति के प्रभाव से रोगाणुओं का संहार करती हैं। औषधियों का चुनाव रोगानुसार माता-पिता तथा वैद्य आदि किया करते हैं। उनमें कुछ औषधियाँ सुख-शान्ति प्रदान करती हैं तो कुछ हृदय को प्रीणन करने वाली कुछ पौष्टिक तथा कुछ रोगनिवारक होती हैं।

१४. परिणो हेती रुद्रस्य वृज्याः परित्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् ।
अवस्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड ।।

(रुद्रस्य) रुद्र भगवान् के (हेतिः) आयुध (नः) हमें (परिवृज्याः) दूर रक्खें अर्थात् हमसे दूर रहें (त्वेषस्य) अति तीक्ष्ण स्वभाव वाले व्यक्ति व जन्तु की (मही) महान् (दुर्मतिः) दुष्ट बुद्धि व दुस्संकल्प (नः) हमें (परिगात्) प्राप्त हुआ

है। हे रुद्र देव! (मघवद्भ्यः) हम दिव्य ऐश्वर्य वालों से (स्थिरा) स्थिर रूप में उन शस्त्रास्त्रों को तू (अवतनुष्व) दूर कर और (मीढ्वः) सुखों के वर्षक व शान्तिजल के सिंचन करने वाले हे रुद्र! तु (तोकाय) सद्यः उत्पन्न सन्तान के लिये तथा (तनयाय) कुमार के लिये कष्टों को दूर कर (मृड) सुखी कर।

भगवान् रुद्र तो संहार करता है जिस प्रकार मनुष्यों का दूसरे मनुष्यों द्वारा, विषैले जीवजन्तुओं द्वारा, विषौषधियों आदि द्वारा संहार करता है, उसी प्रकार इन विनाशक तत्त्वों का भी वह संहार किया करता है। ये जीव-जन्तु परस्पर एक-दूसरे को संहार करते हैं, भक्षण करते हैं। यह सब उस रुद्र भगवान के नियम के अधीन होता है। वही सब कर्मों का फलप्रदाता है। इस मन्त्र में यही प्रार्थना है कि हम मनुष्यों से उसके वर्जनीय अस्त्र शस्त्र दूर ही रहें वह हमें प्राप्त न हों।

१५. एवा बभ्रोवृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥

(बभ्रो) हे बभ्रुवर्ण वाले अथवा जगत् के भरण-पोषण करने वाले रुद्र देव! (वृषभ) सुख की वर्षा करने वाले (चेकितान) ज्ञानी तथा अन्यों को चिताने वाले हे देव! (यथा) जिस कारण तू (न हृणीषे) हम पर क्रोध न करे या हमारे सुखों को न हरे (न हंसि) और न हमें मारे ऐसा कर। (नः हवनश्रुत् रुद्र) हमारे आह्वान व प्रार्थना को सुनने वाले हे रुद्रदेव! तू (इह बोधि) यहां हमें बोध दे (सुवीराः) उत्तम वीर्यशाली वीरपुत्रों से युक्त हम (विदथे) ज्ञानप्राप्ति व ज्ञान गोष्ठियों में (बृहत् वदेम) बहुत उत्कृष्ट बोलें व प्रवचन करें।

ऋ० ६।७४

ऋषिः वार्हस्पत्यो भरद्वाज। **देवते**—सोमारुद्रौ / **छन्दः**—त्रिष्टुप्।

१. सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं प्रवामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।
दमे दमे सप्तरत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे॥

(सोमारुद्रौ) हे सोम और रुद्र रूप भागवत शक्तियाँ! तुम दोनों (असुर्यं) प्रज्ञाबल व प्राणबल को (धारयेथाम्) धारण कराओ (वां) तुम दोनों की (इष्टयः) इष्टियाँ—यजन, निर्माणादि कार्य (अरं अश्नुवन्तु) अत्यधिक रूप में हमें प्राप्त हों (दमे दमे) शरीर के प्रत्येक शक्ति-स्थानों में (सप्त रत्ना) शिरस्थ सप्त प्राणों को (दधाना) धारण किये हुए (नः द्विपदे) हमारे दोपायों को तथा (चतुष्पदे) चौपायों को (शं भूतम्) कल्याणकारी होओ।

असुर्यम्—असुरिति प्रज्ञानाम—असुरत्वमेकं प्रज्ञावत्वं वा नवत्वे वा। निरु० १०।३।३३

दमे—दमे गृहनाम। निघं० ३।४ इन्द्रियशक्तियों अथवा आन्तरिक शक्तियों के घर।

सप्त रत्ना—सप्त शीर्षण्य प्राणों में रमणीयता व शक्ति।

जिस प्रकार भौतिक सूर्य की अनन्त किरणें स्वरूप की दृष्टि से ७ प्रकार की हैं, उसी प्रकार इन सैकड़ों व सहस्रों नस-नाड़ियों में प्रवाहित शक्तियाँ भी ७ इन्द्रिय-केन्द्रों में विभक्त हो ७ प्रकार की हो जाती हैं।

हमने इस सूक्त का अर्थ अध्यात्म क्षेत्र में प्रदर्शित किया है। सूक्त के तात्पर्य को हृदयंगम करने के लिये हमें इस सूक्त के ऋषि, छन्द तथा देवता पर एक सरसरी दृष्टि डालनी चाहिये। इस सूक्त का ऋषि बार्हस्पत्यो भरद्वाजः है। ऋषि प्राणों को कहते हैं (प्राणा वा ऋषयः) ये प्राण बृहस्पति-सम्बन्धी हैं, बृहस्पति ज्ञान-विज्ञान का अधिपति माना जाता है जिसका क्षेत्र पिण्ड में मस्तिष्क है। मस्तिष्क के प्राणों में भरद्वाज—वाजमन्नं वेगं विज्ञानं वा बिभर्ति येन सः। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मस्तिष्क स्थित प्राण द्वारा मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान को भरना उसमें वेग पैदा करना चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत अन्न को संग्रह करना। यह सब रहस्य बृहस्पति-सम्बन्धी भरद्वाज ऋषि से स्पष्ट होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हृदय और मस्तिष्क इन दोनों स्थानों में सोम और रुद्रदेवता-सम्बन्धी ज्ञान, वेग व शक्ति का आधान किया जाता है। सोम अध्यात्म में मस्तिष्कद्रव है, यह शान्ति दायक ज्ञान का संग्राहक है, चेतना पैदा करने वाला है। इसी सोम के माध्यम से इन्द्रियाँ ज्ञान संग्रह करती हैं। रुद्र आग्नेय है। अतः मस्तिष्क व हृदय आदि क्षेत्रों में सोम और रुद्र अर्थात् सोम और अग्नि का ऐसा समन्वित व सन्तुलित मिश्रण भरना होता है कि जससे दोनों स्थानों में सर्वोत्तम ज्ञान व शक्ति भरजाये। यह सब शिक्षा, साधना तथा दोनों सौम्य और आग्नेय शक्तियों वाले अन्नादि का भक्षण करना उपयोगी होता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल सोम भी ठीक नहीं है क्योंकि केवल सोम मनुष्य को निर्बल, डरपोक, कायर व शान्त रखता है। इसके विपरीत केवल रुद्रत्व भी ठीक नहीं है क्योंकि वह मनुष्य को क्रूर, भयंकर व अत्याचारी बनाता है। इस कारण सोम और रुद्र इन दोनों का सन्तुलित तथा समन्वित मिश्रण मस्तिष्क में उत्पन्न करने का आदेश वेद देता है जिससे कि मनुष्य बृहस्पति-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुंच सके।

२. **सोमारुद्रा विबृहतं विषूचीममीवा या नो गय माविवेश।**
आरे बाधेयां निर्ऋतिं पराचैरस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु॥

(सोमारुद्रौ) हे सोम और रुद्र! तुम दोनों (विषूचीं) चहुं ओर व्याप्त होने वाली महामारी अथवा विषूची आदि रोग और (अमीवा) उस रोग को (यः) जो (नः) हमारे (गयं आविवेश) गृह व प्राण में प्रविष्ट हो गया है (विबृहतं) उखाड़

फेंको (अस्मै) हमारे अन्दर विद्यमान (निर्ऋतिं) कष्ट, पीड़ा व मृत्यु को (पराचैः) परे फेंकने वाले साधनों से (आरे बोधथाम्) दूर कर दो (अस्मे) हमें (भद्रा) श्रेष्ठ व कल्याणकारी (सौश्रवसानि सन्तु) उत्तम प्रसिद्ध समृद्धियाँ प्राप्त हों।

विषूचीम्—व्याप्नुवतीम्, विषूच्यादि रोग—स्वामी दयानन्द।

गयम्—गृह्य। निघं० ३।४, 'प्राणा वै गयाः' श० प० १४।८।१५।७

पराचैः—परांमुखैः, दूरार्थे वा.

सौश्रवसानि—सुश्रवस्सु अन्नादिषु भवानि।

३. **सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानिधत्तम्।**
अवस्यतं मुंचतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥

(सोमारुद्रा) हे सोम और रुद्र देवो! (युवम्) तुम दोनों (अस्मे तनूषु) हमारे शरीरांगों में (एतानि) ये नानाविध (विश्वा) सम्पूर्ण (भेषजानि) औषधों को (धत्तम्) धारण करो (नः तनूषु) हमारे शरीरों में (यत्) जो कृतं किया हुआ (एनः) पाप (बद्धं अस्ति) बंधा हुआ है उसको (अस्मत्) हमारे में से (अवस्यतं) बन्धनमुक्त कर हमारी रक्षा करो। और (नः मुंचतम्) हमें उस पाप से छुड़ाओ।

रोगी पुरुष के आन्तरिक सोम और रुद्र-सम्बन्धी तत्त्वों को बाह्य औषधोपचार द्वारा इस प्रकार समन्वित किया जाये जिससे शरीरांगों में विद्यमान रोग-कीटाणुओं को ये नष्ट कर सकें। और पाप का शिकंजा शिथिल-सा हो जाये।

४. **तिग्मायुधौ तिग्म हेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सुमृडतं नः।**
प्रनो मुंचतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नः सुमनस्यमाना॥

(सोमारुद्रौ) हे सोम और रुद्र देवो! (तिग्मायुधौ) तीक्ष्ण आयुध वाले (तिग्महेतौ) तीक्ष्ण शस्त्रों वाले (सुशेवौ) उत्तम सुखप्रदाता तुम दोनों (नः मृडतम्) हमें सुखी करो। (सुमनस्यमाना) शुभ चित्त वाले दोनों (नः) हमें (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से (मुंचतम्) छुड़ाओ और इस प्रकार (नः गोपायतम्) हमारी रक्षा करो।

रुद्र आग्नेय है और यह जगत् अग्नीषोमात्मक माना जाता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु में ये दोनों सोम और अग्नितत्त्व होते हैं। परन्तु यहां 'सोमारुद्रौ' में अग्नि का रुद्र-रूप लेना है। रुद्र संहार का देवता है। अतः सोमारुद्रौ में हमें इस बात का ध्यान रखना है कि जगत् के स्थूल, सूक्ष्म सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम स्तरों में विद्यमान विजातीय तत्त्वों को विनष्ट करना है। स्थूल शरीर, प्राणिक तथा मानसिक आदि सभी स्तरों से विजातीय तत्त्व विनष्ट हो जायें, यही 'सोमारुद्रौ' सूक्त की शिक्षा है। वरुण के पाश भी अधम, मध्यम तथा उत्तम रूप के माने गये हैं। उन्हें इन सोमारुद्रौ के समन्वित रूप से नष्ट करना चाहिये।

अथर्व ६।९०

ऋषिः—अथर्वा । **देवता** रुद्रः । **छन्दः** अनुष्टुप्, ३ आर्षी भुरिगुष्णिक् ।

१. **यां ते रुद्र इषुमास्यदंगेभ्यो हृदयाय च ।**
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं विवृहामसि ।।

हे रुग्ण व्यक्ति! (रुद्र): सबको रुलाने वाले रुद्र भगवान् ने (ते) तेरे (अंगेभ्यः) अंगों के लिये तथा (हृदयाय) हृदय के लिए (यां) जिस (इषुं) व्याधि-जनक रोगाणु रूप बाण को (आस्यत्) फैंका है (इदं) सो (अद्य) आज (विषूचीं) शरीर में चहुंओर फैलने वाली (तां) उस व्याधि को (वयं) हम भिषक् आदि (त्वत्) तुझ में से (विवृहामसि) निकाल बाहर फैंकते हैं।

विषूचीम्—विष्वगंचतीम् । व्याप्नुवतीम् ।
विवृहामसि—वि + वृहामसि—पृथक् कुर्मः ।

रुद्र भगवान् मनुष्यादि प्राणियों को पाप व दुष्कर्मों का फल व्याधि रूप में देता है । शारीरिक अंगों में जो पीड़ा व व्याधि उत्पन्न हो जाती है अथवा हृदय-रोग पैदा हो जाता है, वह सब रुद्र भगवान् की अपनी न्याय-व्यवस्था के आधार पर होता है । परन्तु मन्त्र कहता है कि उन अंगों की व्याधि व हृदय रोग की चिकित्सा हो जाती है । यहाँ मन्त्र में 'वयम्' यह बहुवचनान्त पद इस बात का संकेत करता है भिषक् अर्थात् वैद्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धी आदि आत्मीय जन भी बीमार को प्रोत्साहन व शंसन आदि द्वारा बीमारी दूर करने में सहायक हो सकते हैं।

२. **यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनुविष्ठिताः ।**
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ।।

(याः) जो (शतं) सैंकड़ों, असंख्य (धमनयः) नाड़ियाँ (ते) तेरे (अंगानि अनु) अंगों की ओर (विष्ठिताः) फैली हुई हैं, (तासां ते सर्वासां) उन सब तेरी नाड़ियों के (विषाणि) विषों को (वयं) हम (निःह्वयामसि) निकालने के लिए आह्वान करते हैं।

मनुष्य की नाड़ियों में विष पैदा हो जाता है। यह नीलकंठ रुद्र भगवान् की व्यवस्था के अनुसार होता है। रुद्र भगवान् ही औषधियों में विष पैदा करते हैं और वैद्य रूप में विष को निकालने व नष्ट करने वाले भी ये ही रुद्र भगवान् हैं अतः मन्त्र में विष दूर करने के लिये रुद्र भगवान् का आह्वान किया गया है।

३. **नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै ।**
नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ।।

(रुद्र) सबको रुलाने वाले भगवन्! (अस्यते) व्याधिजनक रोगाणुओं को

बाण रूप में फेंकने वाले (ते नमः) तुम्हें नमस्कार है—(प्रतिहितायै) तानकर फैंकी हुई व्याधि रूप बरछी को (नमः) नमस्कार है (विसृज्यमानायै) छोड़ी जाती हुई को (नमः) नमस्कार है और (निपतितायै) लक्ष्य पर पड़ी हुई को (नमः) नमस्कार है।

इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य में व्याधि नाना प्रकार के कष्ट रुद्र देवता के पैदा किये हुए होते हैं। रुद्र देवता हम पर कृपादृष्टि रखें, इसका उपाय यह है कि हम उसे प्रतिदिन नमस्कार करें। इससे हम पापादि दुष्कर्मों के करने से बचे रहेंगे। नमस्कार के दो लाभ हैं। एक तो रुद्र भगवान् के मन को हम अपने प्रति स्नेहपूर्ण बनाते हैं। दूसरा लाभ यह है कि इससे हमें सतत रूप में यह चेतावनी भी मिलती है कि यदि पापादि दुष्कर्म करोगे तो रुद्र भगवान् के बाण हमें बींध देंगे। इस भय से मनुष्य पाप करने से बचा रहता है।

अथर्व १।१९।३

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु॥

(यः) जो (नः) हमारा (स्वः) आत्मीय जन (यः) जो (अरणः) परकीय वंश का (सजातः) स्व-कुटुम्बी (उत) और (यः) जो (निष्ट्यः) निकृष्ट कोटि का (अस्मान्) हमको (अभिदासति) नष्ट करता है (रुद्रः) रुद्र रूप सेनापति (शरव्यया) बाणसमूह से (मम एतान्) मेरे इन (अमित्रान्) शत्रुओं को (वि विध्यतु) बींध डाले।
अरणः—अरणोऽपार्णो वंश्योदकसम्बन्धाभावः, निजरेतः सम्बन्धाऽभावो यस्मिन्।
निरु. ३।२—स्वामी ब्रह्ममुनि।

अथर्व ६।३२।२

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपिश्रृणातु यातुधानाः।
वीरुद् वो विश्वतो वीर्या यमेन समजीगमत्॥

(पिशाचाः) हे मांसभक्षक रोगाणुओ! (रुद्रः) रुद्र नामक दैव्य भिषक् ने (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) गर्दन (अशरैत्) काट डाली है। हे (यातुधानाः) पीड़ा देने वाले कीटाणुओ! (रुद्रः) रुद्र (वः) तुम्हारो (पृष्टिः अपि) पसलियों को भी (शृणातु) तोड़ डाले (विश्वतो वीर्या) सब ओर से शक्तिशाली (वीरुत्) औषधि ने (वः) तुम्हें (यमेन) मृत्यु देवता से (समजीगमत्) मिला दिया है।

रुद्र देवता औषधियों में विष तथा अमृत दोनों भर देते हैं। जब प्राणियों को

हिंसा करनी होती है तब उनमें विष का संचार कर देते हैं। कहा भी है—"**रुद्र ओषधीर्विषेणालिम्पत्०**" काठ. ६।५, मै. सं. १।८।४ और जब प्राणियों को नीरोग करना होता है तब उनमें अमृत भर देते हैं। मै. १।१०।२४।४ औषधियों में अमृत का संचार करने पर वे "**विश्वतो वीर्या**" सब प्रकार के रोगाणुओं को नष्ट करने में सक्षम हो जाती है।

अथर्व १३।४ सूक्त के ६ पर्याय हैं। इनका देवता 'रोहितादित्य' है अर्थात् वह आदित्य जो कि रोहण कर रहा है। अपनी रश्मियों से आकाश में व्याप्त हो रहा है। '**रश्मिभिर्नय आम्सम्**' रश्मियों द्वारा आकाश को ज्योति, प्रकाश, शक्ति आदि से भर रहा है। इसी दृष्टि से वह केवल इन्द्र नहीं वह महेन्द्र है, महान् ऐश्वर्य सम्पन्न है। इस आदित्य रूप महेन्द्र का प्रथम स्तवन सविता नाम से किया है। सविता पूर्ण ब्रह्म है, सर्वव्यापक ब्रह्म की पूर्णता का आभास सविता से ही है। महर्षि दयानन्द ने—"**ओ३म् खं ब्रह्म**" यजु० ४०।१७ के भाष्य में लिखा है कि 'जो वह प्राण व सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है'। इस सविता के सम्बन्ध में प्रथम मन्त्र है—"**स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठे! वचाकशत्**" वह सर्वप्रेरक सविता देव द्युलोक के पृष्ठ पर 'स्व' प्रकाश व ज्योति को प्रसारित करता हुआ आ रहा है। वह सविता ही महेन्द्र है। अगले मन्त्र में कहा कि "**रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः**" अर्थात् वह महेन्द्र नामक सविता देव नभ को अपनी ज्योति से धारण करता हुआ रश्मियों से आवृत हुआ आ रहा है। इसी सविता के लिए आगे कहा—**सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः**" वह सविता नामक महेन्द्र ही यथावसर अर्यमा, वरुण, रुद्र तथा महादेव आदि नामों को धारण कर रहा है। अतः इस संदर्भ से यह स्पष्ट है कि यह सविता देव ही रुद्र व महादेव रूपों को धारण करता है। पूर्ण परमात्मा की ही ये शक्तियाँ हैं जो कि सूर्यमण्डल, वायु, अग्नि आदि रूपों के माध्यम से आविर्भूत होती हैं।

अथर्व ६।१४१।१ में आता है कि "**रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु**"

अर्थात् यह रुद्र नामक भिषक् प्रजाओं की वृद्धि के लिये इनकी चिकित्सा करे।

यजुर्वेद (अध्याय १६)

देवाः प्रजापतिश्च **ऋषयः**। रुद्रो **देवता**। आर्षी गायत्री, **छन्दः** षड्जःस्वरः॥

१. **नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥**

हे रुद्र! (मन्यवे) मन्युरूप (ते नमः) तुझे नमस्कार है। (उतो) और (ते इषवे नमः) तेरे बाण आदि आयुध के लिए नमस्कार है। (ते बाहुभ्यां नमः) तेरी

बाहुओं के लिए नमस्कार है। सर्वजगत् के सर्जनहार प्रजापतिरूप भगवान् के अन्दर यह रुद्र मन्युरूप में रहता है। यह मन्युरूप रुद्र प्रजापति की ही एक शक्ति है।

टिप्पणी—प्रजापतेर्विस्रस्ताद्देवा उदक्रामंस्तमेक एव देवो नाजहान्मन्युरेव सो अस्मिन्नर्तर्विततोऽतिष्ठत्। श० प० ९।१।१।६

इषुः—साँप, बिच्छू, कुत्ते आदि उस रुद्र भगवान् के बाण हैं। विषसम्पृक्त अन्न, प्रदूषित वायु, अशनिपात तथा घोर वृष्टि आदि ये सब इषु में परिगणित किये जा सकते हैं।

बाहु—बल का प्रतीक है। यह देव क्षात्र-शक्ति का भी प्रतिनिधि है।

२. **या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।**
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥

हे रुद्र। (या) जो (ते) तेरी (शिवा) कल्याण रूप (अघोरा) अघोर अर्थात् सौम्य (अपापकाशिनी) पापादि दुष्टकर्मों से रहित पुण्यरूप सत्य धर्मों का प्रकाश करने वाली (तनूः) सर्वत्र प्रसृत देहशक्ति है (गिरिशन्त) पर्वतों पर सुख-शान्ति का विस्तार करने वाले अथवा मेघस्थ वृष्टि द्वारा भूमण्डल पर सर्वत्र ग्रीष्मादिजन्य ताप का शमन करने वाले हे देव ! तू (शन्तमया) अत्यन्त सुख शान्तिदायिनी (तन्वा) तनू से (नः अभिचाकशीहि) हमारी ओर देख।

तनू—रुद्र के दो तनू हैं। एक घोररूप जो कि संहारकारिणी है, और दूसरी शिवा तनू है। यह शिवा तनू कल्याणकारिणी तथा सुख-शान्ति देने वाली है। जिस प्रकार कागज के दो पार्श्व होते हैं उसी प्रकार रुद्र की देह है। उसमें एक पार्श्व शिवरूप है और दूसरा घोररूप है। वस्तुतः रुद्र की एक ही तनू है और वह है घोररूप। रुद्र का यह घोर अर्थात् संहारक रूप जब व्याधियों, कृमि-कीटों, विषेले जीव-जन्तुओं तथा दुष्ट पुरुषों के प्रति होता है तब स्वतः ही मनुष्य का कल्याण हो जाता है।

अतः इस अवस्था में यह रुद्र मनुष्य के लिए शिव है। इससे यह सिद्ध है कि रुद्र का घोररूप ही है, शिव रूप नहीं।

अपापकाशिनी—मनुष्य प्रायः पाप का प्रकाश करता रहता है। इसीलिए सर्व प्रकार की विपत्तियों व कष्टों को प्राप्त होता है। रुद्र की शिवतनू का विस्तार हमारे पापों व दुराचरणों का प्रकाश न करने वाला होकर तद्विपरीत साधु कर्मों व पुण्य का प्रकाश करने वाला हो, यही प्रार्थना की गयी है।

अभिचाकशीहि—चाकशीतिः पश्यतिकर्मा। (नि० ३।११।८)

३. **यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।**
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥

हे गिरिशन्त (यां इषुं) जिस बाण आदि आयुध को तुम (अस्तवे) फेंकने के लिए (हस्ते विभर्षि) हाथ में धारण करते हो (गिरित्र) पर्वतों, मेघों तथा मस्तिष्क की रक्षा करने वाले हे रुद्र (तां) उस बाण आदि शस्त्र को (शिवां कुरु) मंगल-कारक बनाये रखो (पुरुषं) पुरुष-जाति को और (जगत्) अन्य गऊ आदि जंगम प्राणियों को (मा हिंसीः) मत मारो।

गिरित्र—गिरिं त्रायते इति गिरित्रः तस्य सम्बोधनम्, यद्वा गिरौ अवस्थितः सन् त्रायते।

गिरिशन्त—गिरषु, पर्वतेषु मेघेषु च शं सुखं कल्याणं वा तनोतीति सम्बुद्धौ, यद्वा गिरिणा शं तनोतीति।

अस्तवे—असु क्षेपणे तुमर्थे तवेप्रत्ययः।

पर्वत सुख-शान्ति, नीरोगता आदि की वृद्धि करने वाला होता है। यहाँ क्षय, दुर्बलता आदि नाना विध व्याधियाँ शान्त होती हैं। तो दूसरी ओर साँप, बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तुओं की भी भरमार होती है। अतः पर्वत इन दोनों दृष्टियों से रुद्र देवता का निवास-स्थान माना गया है। मेघ भी जहाँ सुवृष्टि से सुकाल को पैदा करते हैं वहाँ दूसरी ओर अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि द्वारा दुष्काल को उत्पन्न करने वाले होते हैं। मानव-मस्तिष्क को भी शास्त्रों ने पर्वत-शिखर माना है। मस्तिष्क में जहाँ दिव्य विचार पैदा होते हैं वहाँ तद्विपरीत काम-क्रोध आदि के आवेग व दुष्ट विचारों से भी वह आक्रान्त हो जाता है।

४. **शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।**
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्॥

(गिरिश) पर्वतवासी हे रुद्रदेव! (त्वा) तुझको हम (शिवेन वचसा) कल्याण-मयी वाणी द्वारा (अच्छा) भली प्रकार (वदामसि) बुलाते हैं। स्तवन करते हैं या प्रार्थना करते हैं। (यथा) जिससे (नः) हमारा यह (सर्वं जगत्) समस्त जंगम प्राणिसमूह (इत्) अवश्य ही (अयक्ष्मं) रोगरहित तथा (सुमना) शोभन मन वाला (असत्) हो जाये।

गिरिश—यो गिरिषु पर्वतेषु मेघेषु वा शेते तत्संबुद्धौ (स्वामी दयानन्द)।

अच्छा—अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः। निरु० ५।२८ संहितायां निपातस्य च पा० ६।३।१३६ इति दीर्घः।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि रोगों को दूर करने में रुद्र भगवान् का स्तवन प्रभावशाली होता है। इसीप्रकार सौमनस्य की उत्पत्ति में भी रुद्र भगवान् की स्तुति बहुत सहायक होती है। रोगों को दूर करने में सुमना होना अत्यन्त आवश्यक है।

५. अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ।।

(प्रथमः) प्रमुख (दैव्यः) देवहितकारी (भिषक्) रोगविनाशक वैद्यरूपी वह रुद्र देव (अधिवक्ता) अधिष्ठाता रूप में आदेश देने वाला होकर (अध्यवोचत्) हमें आज्ञा देवे अथवा (अधिवक्ता) ज्ञान तथा ऐश्वर्य आदि में सर्वोपरि होने से सर्वाधिक रूप में ज्ञान-ऐश्वर्य का हमें उपदेश देने वाला वह रुद्र भगवान् (अध्यवोचत्) उपदेश देकर शिक्षित करे। हे रुद्रदेव ! (सर्वान् अहीन्) समस्त प्रकार के साँप आदि विषैले जीव-जन्तुओं को तथा सर्पवत् कुटिलाचरण वाले दुष्ट पुरुषों को (जम्भयन्) विनष्ट करता हुआ और (सर्वाः च यातुधान्यः) सब प्रकार की रोग करने वाली दुराचरण की ओर प्रेरित करने वाली तथा (अधराचीः) अधोगामिनी दुष्टवृत्तियों को (परासुव) दूर कर दो।

इस मन्त्र में रुद्र को भिषक् अर्थात् चिकित्सक बताया गया है। यह रुद्र प्रमुख रूप से विष-वैद्य है, क्योंकि साँप, बिच्छू, विषैले जीव-जन्तुओं का यह अधिपति है। इसलिए स्वभावतः उनके विषों को दूर करना भी उसका कार्य है और उपर्युक्त मन्त्र में 'अहीन् अधराचीः' पद भी इसी तथ्य को दर्शा रहे हैं।

अहिःपद सर्प आदियों के लिए आता है तथा अधराचीः नीचे पृथिवी पर गति करने वाले कृमि-कीट, साँप-बिच्छू आदि क्षुद्र जन्तुओं या पृथ्वी में नीचे बिल बनाकर रहने वाले प्राणियों के लिए आता है। भगवान् रुद्र की शक्ति इन्हें हमसे दूर रखे, विनष्ट कर दे। मनुष्यों में भी जो कुटिल स्वभाव के हैं या दुराचारिणी स्त्रियाँ आदि हैं वे भी हमसे दूर रहें क्योंकि इनके सम्पर्क से बीमारियाँ आदि लग जाने का भय रहता है।

यातुधान्यः—रोगकारिण्यो व्यभिचारिण्यश्च स्त्रियः (स्वामी दयानन्द)
यातना—दुःखं कष्टं तत्प्राणिषु धारयन्तीति यातुधान्यः राक्षसीः (उव्वट)

६. असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः ।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रोऽवैषां हेड ईमहे ।।

(असौ) वह सूर्य रूपी रुद्र (यः) जो (ताम्रः) तांबे के समान (अरुणः) रक्त वर्ण का है (उत) और (बभ्रुः) पिंगल वर्ण का है अथवा सकल प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला (सुमंगलः) शोभन तथा मंगलकारी है ऐसे (एनं अभितः) इस सूर्य रूपी रुद्र के चहुँ ओर तथा (दिक्षु) सब दिशाओं में (रुद्राः) रश्मि रूपी जो रुद्र (सहस्रशः श्रिताः) हजारों की संख्या में वर्तमान हैं। (एषां) इनके (हेडः) क्रोध व रोष को हम (अवईमहे) दूर करें अर्थात् शान्त कर दें।

इस मन्त्र में सूर्य के रुद्र रूप से प्रार्थना की गई है, क्योंकि सूर्य भगवान् कभी-कभी रौद्र रूप धारण कर लेते हैं। सूर्य रूपी रुद्र भगवान् के अधीन ये सहस्रों

रश्मियाँ भी रौद्र रूप धारण कर विनाशलीला कर देती हैं। मन्त्र में उन रुद्रों के क्रोध को दूर करने व उन्हें शमन करने का विधान हुआ है। उनके क्रोध को सूर्य-स्तवन से शान्त किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के 'ओं खं ब्रह्म' की व्याख्या में सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा की सत्ता मानी है। वे लिखते हैं कि "जो वह प्राण व सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है वह परोक्ष रूप मैं आकाश के तुल्य व्यापक सबसे गुण, कर्म और स्वरूप करके अधिक है।"

प्रश्न यह पैदा होता है कि जब वह परमात्मा आकाश की तरह सर्वत्र अभि-व्याप्त है तो फिर सूर्यमण्डल कहने की क्या आवश्यकता थी और फिर उन्होंने सूर्य में पूर्ण परमात्मा माना है। सन्ध्या में भी 'उद्वयं तमसस्परि' से लेकर गायत्री मन्त्र तक सूर्य का ही निर्देश है। जिस प्रकार 'अग्निहोत्र' में 'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि' हे अग्नि ! तू उठ, जाग तथा 'अयन्त इध्म आत्मा' मन्त्र में कहते हैं कि मेरा आत्मा तेरा इन्धन है इत्यादि भौतिक अग्नि के लिए नहीं मानते हैं इसी भाँति सूर्यो-पासना में क्या आपत्ति है ? जबकि स्वामी दयानन्द सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं।

सूर्य का ताम्र वर्ण तथा अरुण वर्ण होता है। कुछ-कुछ लालिमा जो दोनों सन्ध्या कालों में होती है इन्हीं दोनों समयों को लक्ष्य कर एक मन्त्र में आता है **"उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः"** अथर्व २।३२।१ अर्थात् उदय होता हुआ तथा अस्त होता हुआ यह सूर्य कृमियों को नष्ट किया करता है। यह आदित्य का रुद्र रूप है जो कि मानव के शत्रु कृमि-कीट आदियों पर प्रातः तथा सायं उसका क्रोध पड़ता है। उन मनुष्यों को भी उसका रौद्र रूप आक्रान्त कर लेता है जो कि सूर्योदय के समय सोते रहते हैं। कहा भी है—

"उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे" अथर्व ७।१३।२ अर्थात्—मैं अपने शत्रुओं का तेज उसी प्रकार हर लेता हूँ जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य सोते हुओं का तेज हर लेता है।

७. **असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।**
उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः॥

(असौ) द्युलोक में स्थित यह जो आदित्य (नीलग्रीवः) विष के कारण नीली ग्रीवा वाले सर्प आदि प्राणियों के रूप में, अथवा सूर्यरश्मियों में विद्यमान सर्पों के कारण नीली ग्रीवा वाला तथा (विलोहितः) विशिष्ट रक्त वर्ण वाला वह आदित्य (अवसर्पति) नीचे पृथ्वी की ओर सर्पण कर रहा है (उत) और (एनं) सर्पादि विष-जन्तुओं के रूप में पृथ्वी पर अवतरित इस रुद्र को (गोपाः) ग्वाले जंगल में (अदृश्रन्) देखा करते हैं और (उदहार्यः) तड़ाग आदि से जल लाने वाली स्त्रियाँ भी प्रायः उसको (अदृश्रन्) देखा करती हैं।(स) वह (दृष्टः) दृष्टिगोचर

हुआ (नः) हमें (मृडयातु) सुखी करे।

यह आदित्य भी नीली ग्रीवा वाले सर्पों की आवासभूमि है। मन्त्र में आता है "ये वामी रोचने दिवो येवा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः।" यजु० १३।८ जो द्युलोक के रोचमान भाग में निवास करते हैं और जो सूर्य की रश्मियों में रहते हैं और जलों में जिन्होंने अपना आवास बना रखा है उन साँपों के लिए नमस्कार है। क्योंकि साँपों की ग्रीवा में नीला वर्ण का विष रहता है। अतः उन साँपों के कारण यह सूर्य नीलग्रीवः कहलाता है। दूसरे सूर्य से निकलने वाली नीली, लाल रश्मियाँ जब रौद्र रूप धारण करती हैं उस समय भी ये विशेषण सार्थक हो जाते हैं। यह सूर्य प्राणियों का प्राण है। **"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः"** प्रश्नोप० १।८ अर्थात् हम जितने भी प्राणियों को देखते हैं वे सब उसी सूर्य के प्राण से अनुप्राणित हैं। जीव-जन्तुओं की उत्पत्तियाँ व गतिविधि उसी के प्राण के आश्रय से है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ वह आदित्य ही गति कर रहा है। क्योंकि वहाँ आदित्य के रौद्र रूप का वर्णन है। अतः विषैले जीव-जन्तु जिनकी ग्रीवा में नीला लाल विष होता है, इन्हीं क्षुद्र प्राणियों के कारण वह आदित्य नील लोहित कहा जाता है। क्योंकि इन विषैले जीव-जन्तुओं की बहुतायत जंगल में तथा तालाबों आदि में होती है। इसी कारण जंगल में गऊएँ चराने वाले ग्वालों तथा पानी भरने वाली स्त्रियों को ये प्रायः दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इसी कारण सर्व प्राणी रूप उस आदित्य से यह प्रार्थना की गयी है कि वह हमें सुख प्रदान करे।

८. नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः॥

(नीलग्रीवाय) नीली ग्रीवा वाले (सहस्राक्षाय) सहस्रों आँखों वाले (मीढुषे) सुख की वर्षा करने वाले अथवा पर्जन्य रूप उस रुद्र को (नमः अस्तु) हमारा नमस्कार है। (अथो) और (ये अस्य सत्वानः) जो इस रुद्र के अन्य प्राणी हैं (तेभ्यः) उनको भी (अहं) मैं (नमः अकरम्) नमस्कार करता हूँ।

९. प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप॥

हे रुद्र (त्वम्) तू (धन्वनः) धनुष की (उभयोः आर्त्न्योः) दोनों कोटियों को (ज्यां) डोरी को (प्रमुञ्च) उतार दे और (याः च) जो (इषवः) बाण (ते हस्ते) तेरे हाथ में है (भगवः) हे भगवन् (ताः) उन्हें तू (परावप) परे फैंक दे।

१०. **विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।**
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषंगधिः॥

(कपर्दिनः) रश्मि रूपी जटा-जूटधारी सूर्य रुद्र का (धनुः) धनुष (विज्यं) डोरीरहित हो गया है (उत) और (बाणवान्) बाणों वाला तरकश (विशल्यः) शल्यरहित हो गया है (अस्य) इस रुद्र के (इषवः) बाण (अनेशन्) नष्ट हो जायें और (निषंगधिः) तलवार का कोष (आभूः) खाली हो जाये।

कपर्दिनः-कर्पदः जटाजूटोऽस्यास्तीति तस्य। बाणवान्—बाणा अस्मिन् सन्तीति। विज्यं—विगता ज्या यस्य तत्। अनेशन्-णश् अदर्शने। निषंगधिः—निषज्यत इति निषंगः खड्गः स धीयतेऽस्मिन्निति कोशः। आभुः—रिक्तः।

रुद्र के भय से भयभीत व्यक्ति के भय के निवारण के लिए उपर्युक्त मन्त्रों के ये उद्गार हैं।

११. **या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः।**
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज॥

हे (मीढुष्टम) अतिशय सुख की वर्षा करने वाले शिव (या) जो (ते) तेरे (हस्ते) हाथ में (धनुः) धनुष तथा (हेतिः) अन्य शस्त्र (बभूव) विद्यमान है (तया अयक्ष्मया) उस रोगरहित शस्त्र से (त्वं) तू (अस्मान्) हमारा (विश्वतः परिभुज) सब ओर से परिपालन कर।

मीढुष्टमः—अतिशयेन मीढ्वान् मिह सेचने तसौ मत्वर्थे॥ पा०—१।४।१२
इतिभसंज्ञायां वसोः सम्प्रसारणम्॥पा०॥ ६।४।१३१ इति सम्प्रसारणम्।

रुद्र देव के अस्त्र-शस्त्र संहारक ही नहीं होते प्रत्युत रक्षक तथा भोग-प्रदान करने वाले भी होते हैं अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वे शस्त्र हमारे लिए उसी अवस्था में (अयक्ष्मा) रोगरहित होंगे जब वे रोगकीटाणुओं का संहार करने वाले होंगे।

१२. **परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।**
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम्॥

हे रुद्र (ते धन्वना हेतिः) तेरे धनुष के बाण आदि आयुध (अस्मान्) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिवृणक्तु) परिवर्जना करे। अर्थात् शत्रुओं से हमें बचायें (अथो) और (यः) जो (तव) तेरा (इषुधिः) तर्कस व शस्त्र-भण्डार है उसको (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर ही (निधेहि) रख।

परि+वृणक्तु—परि+वृजी वर्जने

१३. अवतत्य धनुष्ट्वं सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥

हे (सहस्राक्ष) सहस्रों चक्षु शक्ति वाले (शतेषुधे) सैंकड़ों शस्त्रागार वाले रुद्र देव (त्वम्) तू (धनुः अवतत्य) धनुष को उतारकर (शल्यानां मुखा) बाण आदि शस्त्रों के मुखों को (निशीर्य) खण्डा करके (नः) हमारे लिए (शिवः) कल्याणकारी तथा (सुमनाभव) शोभन मन वाला हो जा।

शतेषुधे—शतं इषुधयो यस्य तत् सम्बुद्धौ

निशीर्य—शीर्णानि कृत्वा शॄ हिंसायाम् समासेऽनञ् पूर्वोक्त्वो ल्यप् 'ॠत इद्धातोः' (पा० ७।१।१००)

१४. नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥

(अनातताय) न ताने हुए (धृष्णवे) धर्षणशील (ते) तेरे (आयुधाय) शस्त्र के लिए (नमः) नमस्कार है। (तवधन्वने) तेरे धनुष को तथा (उभाभ्यां) दोनों भुजाओं को भी हमारा नमस्कार है।

धृष्णवे—धृषे क्नुप्रत्ययः।

बाहु तथा हस्त आदि रुद्र की शक्ति के प्रतीक हैं।

१५. मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥

हे रुद्र देव (नः) हमारे (महान्तम्) महान् वृद्ध जन को (उत) और (नः) हमारे (अर्भकं) छोटे बालक तथा निचले व्यक्ति को (मा वधीः) मत मार (नः) हमारे (उक्षन्तं) वीर्यसिंचन करने वाले नव युवा को (मा) मत मार (उत) और (नः) हमारे (उक्षितं) गर्भस्थ शिशु को (मा) मत मार। (नः पितरम् उत मातरम्) हमारे माता-पिता को मत मार। हे रुद्र (नः) हमारे (प्रियाः तन्वः) प्रिय शरीरों को (मा रीरिषः) मत हिंसित कर अथवा (तन्वः) पुत्र-पौत्र आदि रूप में विस्तृत होने वाली कुल-सन्तति को मत नष्ट कर (तनु विस्तारे)।

१६. मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥

हे रुद्र (नः) हमारे (तोके) पुत्र पर (तनये) पौत्र पर (मा) मत (रीरिषः) हिंसा का प्रयोग कर और (नः आयुषि) हमारी आयु पर (गोषु) गऊओं पर (अश्वेषु) घोड़ों पर (मा रीरिषः) मत प्रहार कर। (नः) हमारे (भामिनः) क्रोध में आये हुए (वीरान्) वीर पुरुषों को (मा वधीः) मत मार। (हविष्मन्तः) आत्म

हवि वाले हम (त्वा) तुझको (सदम् इत्) सदा ही (हवामहे) बुलाते हैं।
भामिनः—भाम क्रोधे।

१७. नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः।।

(हिरण्यबाहवे) बाहू पर स्वर्णाभरण धारण करने वाले (सेनान्ये) सेनापति को (नमः) हमारा नमस्कार है। (दिशां च पतये नमः) दिक्पालों को नमस्कार है। (हरिकेशेभ्यः वृक्षेभ्यः) हरित वर्ण के पत्ते रूपी केशों को धारण करने वाले वृक्षों को (नमः) नमस्कार है। (पशूनां पतये नमः) पशुओं के स्वामी को हमारा नमस्कार है। (शष्पिंजराय) शुष्क घास के समान पीत वर्ण वाले (त्विषीमते) तेजस्वी को (नमः) नमस्कार है।

(पथीनां पतये नमः) मार्गों व मार्गगामी यात्रियों के स्वामी को नमस्कार है। (हरिकेशाय) हरित वर्ण तथा नीले केश वाले (उपवीतिने) यज्ञोपवीतधारी ब्रह्मचारी को (नमः) नमस्कार है। (पुष्टानां पतये नमः) सुपुष्ट व्यक्तियों के स्वामी को नमस्कार है।

यहाँ हम प्रसंगवश शतपथब्राह्मण के आधार पर कुछ विशेष विचार प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त मन्त्र **"नमो हिरण्यबाहवे०"** इस सत्रहवें मन्त्र से लेकर छयालीसवें मन्त्र के **"धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः"** पद तक २४० यजुषों में २४० ही रुद्र माने गये हैं। और ४६वें मन्त्र के **'नमो वः किरिकेभ्यः'** इत्यादि चार पदों से अग्नि, वायु तथा सूर्यदेवताओं का ग्रहण किया गया है। ये रुद्रों में प्रधान हैं। इस १६वें अध्याय में वर्णित कुछ रुद्र तो **'उभयतो नमस्काराः'** हैं अर्थात् उनके प्रारम्भ में तथा अन्त में दोनों ओर से नमस्कार किया गया है। वे हैं नमो हिरण्यबाहवे० इस १७वें मन्त्र से २८वें मन्त्र के **"नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः"** तक। इसके पश्चात् २८वें मन्त्र के **'नमो भवाय च रुद्राय च'** इन दो यजुषों से लेकर ४६वें मन्त्र के **"प्रखिदते च"** इस पद तक **"अन्यतरतो नमस्काराः"** रुद्र हैं। अर्थात् इनके एक ओर ही नमस्कार है। २२वें मन्त्र के **"नम इषुमद्भ्यो"** पद से लेकर २८वें मन्त्र के **"श्वपतिभ्यश्च"** इस पद तक युष्मत् शब्द का प्रयोग होने से इन मंत्रों में प्रत्यक्ष रुद्रों का वर्णन है। इषुकृद्भ्यः आदि **'उभयतो नमस्काराः'** वाले तथा **"सभाभ्यः०"** (२४) ये रुद्र ऐसे हैं जिनकी संज्ञा ज्ञात है। "नमो हिरण्यबाहवे०" इस मंत्र से प्रारम्भ कर जहां तक मंत्रों में द्वंद्वात्मक अर्थात् युगल रूप में रुद्रों का ग्रहण किया है इसके सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में आता है—**"अथ द्वंद्विभ्यो जुहोति' नमोऽमुष्मै चामुष्मै चेति तद् यथा वै ब्रूयादसौ त्वंच न एष च मा हिंसिष्टमित्येवमेतदाह नतरां हि विदित आमन्त्रितो हिनस्ति"** श० प० ६।१।१

अर्थात् उस रुद्र को हमारा नमस्कार है। इस प्रकार रुद्रों को आहुति देते हैं। यह वैसा ही है जैसे कि लोक में कहा जाता है कि वह और तू अथवा तू और यह तुम दोनों कृपा कर मेरी हिंसा न करना। इस प्रकार विदित और आमन्त्रित रुद्र की नम्रतापूर्वक आमन्त्रणा देने वालों तथा नम्रतापूर्वक प्रार्थना करने वालों की हिंसा नहीं करते हैं उसी प्रकार आमन्त्रित रुद्र भी हमारी हिंसा नहीं करेगा।

इस संदर्भ से इतना स्पष्ट है कि ये द्वन्द्वात्मक जितने भी रुद्र हैं वे सब हिंसा करने पर उतारू रहते हैं। अतः आगे-पीछे दोनों ओर नमस्कार आदि द्वारा उनका प्रीणन करना, अन्नादि प्रदान द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करना होता है।

मनुष्य-जाति में क्षत्रिय लोग, राजा, सभा व सभापति आदि राजकर्मचारी जब युद्ध में रत हों या किसी अन्य प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए मन्त्रणा करते हों तब वे मन्यु से आक्रान्त हुए रुद्र के गण होते हैं इसलिए क्षत्रशक्ति जब भयप्रद हो जाती है तब वह रुद्रकोटि में होती है। युद्ध के लिए रथों, यानों तथा महा-विनाशकारी आयुधों के निर्माण करने वाले सभी रुद्र के गण में परिगणित होते हैं। ४६वें मन्त्र में अग्नि, वायु तथा सूर्यदेवों में ये तीनों देव प्रमुख रुद्र माने गये हैं। इनके अतिरिक्त जो असंख्य रुद्र हैं उनके सम्बन्ध में आता है **"या असंख्याता सहस्राणीमांल्लोकाननुप्राविशन्नेतास्ता देवता याभ्य एतज्जुहोति"** श० प० ९।१।१।१८ अर्थात् जो असंख्य रुद्र इन लोकों में प्रविष्ट हुए हैं वे सब रुद्र देवता कोटि में आ जाते हैं इनके लिए आहुति देता है। उपर्युक्त प्रकरण से यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि देवता और मनुष्य ये दोनों जब मन्यु व क्रोध के वशीभूत होते हैं तब वे रुद्र के अधीन हैं ऐसा कहा जा सकता है। कहा भी है **"देवानां विधामनु-मनुष्यास्तस्माद् हेमानि मनुष्याणां जातानि यथाजातमेवैनानेतत् प्रीणाति"** श० प० ९।१।१ अर्थात् देवों की विधा के अनुसार मनुष्यों की विधा होती है। 'उभयतो नमस्काराः' रुद्रों के लिए श० प० ९।१।१।२० में आता है कि "ते घोरतरा अशांततरा या उभयतो नमस्कारा उभयत ऐवैनानेतद् यज्ञेन नमस्कारेण शमयति।" अर्थात् उभयतो नमस्कार वाले रुद्र घोरतर तथा अशांततर होते हैं, उन्हें यज्ञ द्वारा शान्त किया जाता है। हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि **'उभयतो नमस्कारा'** में प्रायः मनुष्य-जाति की ही विभिन्न श्रेणियाँ हैं। इससे यह सिद्ध है कि अन्य पशु-पक्षियों, सांप, बिच्छू, कुत्ता, बिल्ली तथा सिंह आदि हिंसक पशुओं की अपेक्षा मनुष्य ही अधिक हिंसक, क्रूर, शठ व धोखा आदि देने वाला होता है। यह आचार-अनाचार व पाप-पुण्य व भक्ष्याभक्ष्य आदि का ध्यान न रखकर सर्वभक्षी व पापी बना हुआ है। इसीलिये याज्ञवल्क्य ऋषि ने इसे घोरतर अशान्ततर आदि विशेषणों से विशिष्ट किया है।

१८. नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यैजगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ।।

(बभ्लुशाय) बभ्रु वर्णात्मक सोम में वर्तमान तथा (व्याधिने) व्याधि रूप रुद्र को (नमः) नमस्कार हैं। (अन्नानां पतये नमः) अन्नों के स्वामी रुद्र को नमस्कार है। (भवस्य हेत्यै नमः) सर्पादि विषैले जीव-जन्तुओं के उत्पादक भव रूप रुद्र के आयुधों को हम नमस्कार करते हैं। (जगतां पतये नमः) जंगम प्राणियों के स्वामी रुद्र को हमारा नमस्कार है (आततायिने रुद्राय नमः) आततायी रुद्र को नमस्कार है (क्षेत्राणां पतये नमः) खेतों के स्वामी रुद्र को हमारा नमस्कार है। (सूताय आहन्त्यै नमः) स्वयं प्रहार करने वाले रथ के सारथी को हमारा नमस्कार है। (वनानां पतये नमः) वनों के स्वामी रुद्र को हमारा नमस्कार है।

सोम को बभ्रु वर्ण अर्थात् भूरे रंग का माना जाता है। कहा भी है **"सोमो वै बभ्रुः"** श० प० ७।२।४।२६ यहाँ बभ्लुशाय में 'रलयोरभेदः' के नियम से र ल अक्षरों में कोई भेद नहीं होता है। इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार हो सकती है **"यो बभ्रौ सोमे शेते तस्मै"** सोम शान्ति, समता, ज्योति व प्रकाश आदि का प्रदाता है। यह औषधियों का अधिपति माना गया है। परन्तु जब यह सोम रौद्र रूप को धारण कर प्राणियों की हिंसा में कारण बनता है तब अन्नादियों में विषैले रस का संचार कर रुद्रकोटि में आ जाता है, परन्तु इसका शिवरूप तब होता है जब व्याधि आदि के कीटाणुओं की हिंसा में कारण बनता है। क्योंकि यह सोम औषधियों व अन्नों का भी अधिपति है। इसी दृष्टि से अन्नों के स्वामी के रूप में भी इसे नमस्कार किया गया है। आगे रुद्र का भव रूप आता है जोकि प्राणियों को उत्पन्न करने वाला है। परन्तु यह सामान्य तौर पर सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पादक न होकर सांप-बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तुओं, कुत्ते-बिल्ली, सिंह आदि हिंसक प्राणियों आदि की दृष्टि से भव नाम से स्मरण किया गया है। इस भव नामक रुद्र के हेति अर्थात् अस्त्र-शस्त्र सर्पादि उपर्युक्त प्राणी आते हैं। सूत अर्थात् सारथि युद्ध में स्वयं नहीं लड़ता परन्तु उसके रथ-संचालन के कौशल से ही यौद्धा शत्रुओं के हनन करने में अधिक समर्थ हो पाता है। महाभारत युद्ध में भगवान् कृष्ण के रथ-संचालन की कुशलता के कारण अर्जुन कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना का विध्वंस करने में समर्थ हुए थे।

१९. नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ।।

(रोहिताय) रोहण शील अथवा वृद्धिकारक (स्थपतये) स्थान व आवास के

स्वामी अथवा गृहादि का निर्माण करने वाले को (नमः) नमस्कार है। (वृक्षाणां पतये नमः) वृक्षों, उद्यानों व वनों के स्वामी को नमस्कार है। (भुवन्तये) पृथ्वी का विस्तार व समतल करने वाले (वारिवस्कृताय) धनादि उपार्जन करने वाले अथवा सेवा करने वाले को (नमः) नमस्कार है। (ओषधीनां पतये नमः) औषधि-वनस्पति आदि के स्वामी रुद्र को नमस्कार है। (वाणिजाय मन्त्रिणे नमः) वैश्य कुलोत्पन्न राज्यमंत्री को नमस्कार है। (कक्षाणां पतये नमः) अन्न के गोदामों के स्वामी को नमस्कार है। (उच्चैः घोषाय आक्रन्दयते नमः) उच्च स्वर में घोषणा करने वाले अथवा युद्ध में घोर शब्द करने वाले को नमस्कार है (पत्तीनां पतये नमः) पदाति सेना के सेनापति को हमारा नमस्कार है।

किसी स्थान व प्रदेश का स्वामी जब रोहण अर्थात् बढ़ता है सम्पत्ति व प्रदेश को बढ़ाता है तब उसे रौद्र साधनों का अवलम्बन करना पड़ता है। गृहादि का निर्माण करने वाले से यह आशा की जाती है कि वह ईमानदारी से गृह का निर्माण करे। राष्ट्र का मन्त्री यदि वैश्य-कुल में उत्पन्न हो तो स्वाभावतः उसकी दृष्टि में विद्या आदि की अपेक्षा अर्थप्रधान होता है। यहाँ कक्ष शब्द का अर्थ धान्य के कोठे अधिक उपयुक्त है क्योंकि धान्यागारों के स्वामी स्वार्थवश अन्न का कृत्रिम अभाव पैदा कर सकते हैं। **स्थपतिः**—गृहा दीनां चेता चयनकर्ता स्थानपतिर्वा। **भुवन्तये**—भुवं पृथिवीं तनोति विस्तारयति भुवन्तिः तस्मै। **वारिवस्कृताय**—वारिवोधनं सेवां वा करोतीति वरिवस्कृत् स एव वारिवस्कृतः तस्मै स्वार्थेऽण्।

२०. **नमःकृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिन आव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषंगिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः ।।**

(कृत्सनायतया धावते नमः) शत्रु के विनाश व पूर्ण विजय-लाभ के लिए दौड़ने वाले को नमस्कार है (सत्वनां पतये नमः) वीर्यशालियों के स्वामी को नमस्कार है। (सहमानाय निव्याधिने नमः) शत्रु का अभिभव करने वाले लक्ष्यभेदी को नमस्कार है। (आव्याधिनीना पतये नमः) सब ओर से आक्रमण करने वाली सेनाओं के स्वामी को नमस्कार है।

(निषंगिणे ककुभाय नमः) उन्नत स्कन्ध वाले महान् खड्गधारी को नमस्कार है। (स्तेनानां पतये नमः) चोरों के स्वामी रुद्र को नमस्कार है। (निचेरवे) निठल्ला घूमने वाले तथा (परिचराय) चहुंओर विचरने वाले के लिए (नमः) नमस्कार है। (अरण्यानां पतये नमः) जंगलों के स्वामी को नमस्कार है।

कृत्स्नायतया—आयस्य लाभस्य भाव आयता कृत्स्ना चासावायता कृत्स्नायता तया सम्पूर्णलाभतया। (स्वामी दयानन्द)

कृत्स्नं समग्रमायतं धनुः (पूर्णविनाशाय पूर्णविजयलाभाय वा) यस्य स तस्य

भावः कृत्स्नायता तया। यद्वा कृत्स्नः आयो लाभो यस्य स कृत्स्नायः तस्य भावः तया (महीधर) सत्वन् शब्दः प्राणिवाची। सहमानाय—सहतेऽभिभवति अरीन्। **निव्याधी**—नितरांविध्यतीति। **आव्याधिनी—आ** समन्तात् विध्यतीति। **कुकुभ**—इति उन्नतस्कन्धभागः 'पुरुषो वै ककुप्' ता. ब्रा. ८।१०।६

यहाँ रुद्राध्याय में 'स्तेनानां पतिः, स्तायूनां पतिः, वंचते परिवंचते' आदि पदों से क्या रुद्र भगवान् का ग्रहण किया जा सकता है? यह एक बड़ा विवादास्पद प्रश्न है। इस पर हमने पूर्व में विचार किया है।

२१. नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये नमो नमो निषंगिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तंचरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः॥

(वंचते) ठगने वाले (परिवंचते) चहुंओर घूम-घूमकर ठगने वाले तथा (स्तायूनां पतये) चोरों के स्वामी को (नमः) नमस्कार है। (निषंगिणे) खड्गी (इषुधिमते) तूणीरबद्ध तथा (तस्कराणां पतये नमः) तस्करों के सरदार को नमस्कार है। (सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः) वज्रधारी या मारने की इच्छा वालों के लिए तथा (मुष्णतां पतये नमः) धन-धान्यों के हरने वालों के स्वामी को नमस्कार है। (असिमद्भ्यः नक्तंचरद्भ्यः नमः) तलवार लेकर रात में इधर-उधर घूमने वालों को हमारा नमस्कार है (विकृन्तानां पतये नमः) अंगछेदनकर विकृत रूप बनाने वालों के स्वामी को हमारा नमस्कार है।

वञ्चते—वंचति गतिकर्मा, निघं. २।१४ कापट्येन वर्तमानाय (स्वामी दयानन्द) स्वामिन आप्तो भूत्वा व्यवहारे कुत्रचित्तदीयं धनमपह्नुते तद्वंचनम् (महीधर)।

स्तेनाः, स्तायवः, रात्रौ गृहे खातादिना द्रव्यहर्तारः स्वीया एवाहर्निशमज्ञाता हर्तारश्च पूर्वे स्तेना उत्तरे स्तायवः (महीधर)

निषंगी—निषंगः खड्गः बाणो वा सोऽस्यास्तीति।

तस्करः—स्तेननाम। निघं. ३।२४ प्रकटचोरः। महीधर

सृकायिणः—सृक इति वज्रनाम, निघं. २।२०

सृकेण वज्रेण सज्जनानेतुं प्राप्तुं शीलमेषाम्। स्वामी दयानन्द

सृकेण वज्रेण सहयन्ति गच्छन्तीत्येवं शीलाः। (महीधर)

विकृन्ताः—विकृन्तन्ति, छिन्दन्ति ते विकृन्ताः छित्वापहरन्तः।

२२. नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुंचानां पतये नमो नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नम आयच्छद्भ्यो ऽस्यद्भ्यश्च वो नमः॥

(उष्णीषिणे नमः) पगड़ी पहनने वाले रुद्र को नमस्कार है। (गिरिचराय) पर्वतों पर विचरने वाले (कुलुंचानां पतये नमः) कुत्सित उपायों से लूटने वालों, कुलों को लूटने वालों अथवा भूमि आदि को हरने वालों के स्वामी को नमस्कार है। (इषुमद्भ्यः धन्वायिभ्यश्च नमः नमः) बाण वालों तथा धनुष धारण करने वाले रुद्रों को बार-बार नमस्कार है। (आतन्वानेभ्यः) धनुष को तानने वालों तथा (प्रतिदधानेभ्यश्च) लक्ष्य के प्रति सन्धान करने वालों को (नमः नमः) हमारा बार-बार नमस्कार है। (आयच्छद्भ्यः अस्यद्भ्यश्च) धनुष को खेंचने वालों तथा बाण फैंकने वालों को (नमः नमः) हमारा पुनः-पुनः नमस्कार है।

उष्णीषी—उष्णीषं शिरोवेष्टनमस्यास्तीति।
कुलुंचः—कुत्सितं लुंचति कुलानि वा लुंचतीति। उव्वट
कुं भूमिंक्षेत्रगृहादिरूपां लुंचन्ति हरन्ति कुलुंचाः।
ये कुशीलेन लुंचन्ति अपनयन्ति परपदार्थान् ते। (स्वामी दयानन्द)।
आयच्छद्भ्यः—आयच्छन्त्याकर्षन्ति धनूंषि ते तेभ्यः।
अस्यन्तः—असु क्षेपणे दिवादि०

२३. **नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमोनमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमोनमः शयानेभ्य आशीनेभ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः।**

(विसृजद्भ्यः वः नमः) शत्रुपर बाण फेंकने वाले तुम्हें हमारा नमस्कार है। (विध्यद्भ्यः नमः) लक्ष्य बींधने वाले तुम्हें हमारा नमस्कार है। (स्वपद्भ्यः जाग्रद्भ्यश्च वः नमो नमः) सोते हुए तथा जागते हुए हे रुद्रो, तुम्हें हमारा नमस्कार है। (शयानेभ्यः आसीनेभ्यश्च वो नमो नमः) लेटे हुए तथा बैठे हुए तथा दौड़ते हुए हे रुद्रो तुम्हें हमारा नमस्कार है।

विसृजद्भ्यः—विसृजन्ति विमुंचन्ति बाणानरिष्विति तेभ्यः।
विध्यद्भ्यः—विध्यन्ति ताडयन्ति शुत्रूनिति तेभ्यः।

२४. **नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो,**
नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो
नमः आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो,
नमो नमः उगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः॥

(सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमः) सभाओं और सभापतियों, तुम्हें हमारा नमस्कार है। (अश्वेभ्यः अश्वपतिभ्यश्च नमो नमः) हे अश्वो और अश्वपतियो! तुम्हें हमारा नमस्कार है। (आव्याधिनीभ्यः विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमः) सब ओर प्रहार करने वाली तथा विविध प्रकार से प्रहार करने वाली

सेनाओं को बार-बार नमस्कार है। (उगणाभ्यः तृंहतीभ्यश्च नमो नमः) उच्च-कोटि के गुणों वाली तथा हनन करने में समर्थ सेनाओं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

उगणाभ्यः—उत्गणाभ्यः उत्कृष्टा गणाः यासां ताः उगणाः उपसर्गान्त्यलोपः। पृषोदरादित्वात्। महीधर। उद्गूर्णगणाः समूहा यासु सेनासु

तृंहतीभ्यः—तृंहति हिंसाकर्मा, तृहि हिंसायाम्।

इस २४वें मन्त्र से ४६वें मन्त्र तक रुद्रों को **"जातरुद्राः"** कहा जाता है। श. प. ९।१।१।१९ में आता है **"अथ जातेभ्यो जुहोति। एतानि ह जातान्येते रुद्रा अनुप्रविविशुर्यत्र यत्रैते तदेवैनानेतत् प्रीणाति।"** ये रुद्र स्पष्ट हैं अर्थात् विदित हैं। ये जहाँ-जहाँ भी प्रवेश करते हैं उनको आहुति द्वारा प्रीणन (प्रसन्न) करना पड़ता है।

२५. **नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो**
नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो।
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो
नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥

(गणेभ्यः नमः) गणों को नमस्कार है। और (गणपतिभ्यश्च नमः) गण-स्वामियों को नमस्कार है। (व्रातेभ्यः नमः) समूहों तथा संघों को नमस्कार है। (व्रातपतिभ्यश्च नमः) संघ के स्वामियों को नमस्कार है।

(गृत्सेभ्यः गृत्सपतिभ्यश्च नमो नमः) मेधावी स्तोताओं तथा उनके स्वामियों को नमस्कार है। (विरूपेभ्यः विश्वरूपेभ्यश्च नमो नमः) विकृत रूप वाले तथा विविध रूप धारण करने वालों को हमारा अनेक बार नमस्कार है।

गृत्सः—मेधावीनाम, निघं. ३।३५, यो गृणाति स मेधावी। स्वामी दयानन्द।

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो नमः।
क्षत्तृभ्यः संगृहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नमः॥
२६॥

(सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमः) तुम सेनाओं तथा सैन्यसंचालन करने वालों को मेरा बार-बार नमस्कार है। (वः रथिभ्यः अरथेभ्यश्च वो नमो नमः) तुम रथियों तथा पदातियों को मेरा नमस्कार है। (वः क्षत्तृभ्यः संगृहीतृभ्यश्च नमो नमः) तुम सारथियों तथा घोड़ों की रास पकड़ने वालों को नमस्कार है। (वः महद्भ्यः अर्भकेभ्यश्च नमो नमः) तुम छोटे व बड़े सबको मेरा बार-बार नमस्कार है।

क्षत्तृभ्यः—शूद्रात् क्षत्रियायां जातेभ्यः (स्वामी दयानन्द)।

अन्यत्र—क्षत्ता सारथिर्द्वारपालो वैश्यायां शूद्राज्जातो वेति । उणादिकोष ।
(स्वामी दयानन्द)

क्षियन्ति निवसन्ति रथेष्विति क्षत्तारः, यद्वा क्षियन्ति प्रेरयन्ति सारथिमिति क्षत्तारो रथाधिष्ठातारः इति महीधरः । रथानामधिष्ठातारः, इति (उव्वट)

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो । नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ।। ।।२७।।

(तक्षभ्यः रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः) तरखान, बढ़ई, रथनिर्माता शिल्पी तुम्हें हमारा नमस्कार है। (कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमः) कुम्हार तथा लोहार तुम्हें हमारा नमस्कार है। (निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः) निषादों तथा डोम तुम्हें हमारा नमस्कार है। (श्वनिभ्यः मृगयुभ्यश्च वो नमो नमः) कुत्तों के पालक तथा शिकारीजनो तुम्हें हमारा नमस्कार है। अर्थात् तुम नम्र बनो और हम तुम्हें नम्र बनाते हैं।

कर्माराः—लोहकाराः । **निषादाः**—गिरिचराः मांसाशिनो भिल्लाः ।

पुंजिष्ठाः—पक्षि पुंजघातकाः पुल्कसादयः । (महीधर) ।

ये पुंजिषु वर्णेषु भाषासु वा तिष्ठन्ति तेभ्यः । स्वामी दयानन्द ।

**२८. नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च ।
नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ।।**

(श्वभ्यः) कुत्ते (श्वपतिभ्यः) कुत्तों के पालक (वः) तुम सबको (नमः) नम्र करते हैं। (भवाय) जीवों के उत्पादक को (नमः) नमस्कार है (रुद्राय च नमः) और रुद्र रूप भगवान् को नमस्कार है। (शर्वाय पशुपतये च नमः) व्याधियों, क्रमि, कीटों, दुष्टों तथा अन्य प्राणियों के नाशक और पशुओं के स्वामी को नमस्कार है। (नीलग्रीवाय) विष के कारण नीली ग्रीवा वाले (शितिकण्ठाय) तीक्ष्ण कण्ठ वाले रुद्र भगवान् को (नमः) नमस्कार है।

शर्वाय—शृणाति हिनस्तीति शर्वः तस्मै ।

पशुपतये—पशुन् पाति रक्षतीति तस्मै ।

नीलग्रीवाय—सर्पादीनां ग्रीवासु नीलवर्णात्मकविषस्य सत्वात् नीलग्रीवोऽयं रुद्रः ।

शितिकण्ठः—शितिः तीक्ष्णः कण्ठो यस्य सः ।

**२९. नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो
गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ।।**

(कपर्दिने) जटाजूटधारी के लिए (व्युप्तकेशाय) मुण्डित केश वाले के लिए

(नमः) नमस्कार है। (सहस्राक्षाय) सहस्रों चक्षुशक्ति वाले के लिए (शतधन्वने) सैकड़ों धनुषों वाले के लिए (गिरिशयाय) पर्वत वासी के लिए (शिपिविष्टाय) पशुओं, सूर्यरश्मियों तथा यज्ञों में प्रविष्ट के लिए (मिढुष्टमाय) अत्यन्त सुख की वर्षा करने वाले के लिए और (इषुमते च) उत्तम बाणों वाले इन सब रुद्ररूपों के लिए (नमः) हमारा नमस्कार है।

शिपिविष्टाय—पशवो वै शिपिः, पशुषु प्रविष्टः तस्मै।
यज्ञो वै शिपिः—यज्ञेषु प्रविष्टः, तस्मै। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते निरु. ५।८ रश्मिषु प्रविष्टः, तस्मै। यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः तां. ब्रा. ९।७।१०
व्युप्तकेशाय—विशेषतयोप्ताश्छेदिताः केशा येन तस्मै संन्यासिने।
(स्वामी दयानन्द)

३०. **नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च।**
नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च॥

(ह्रस्वाय) ह्रस्व अर्थात् बाल सदृश (वामनाय) बौने को (नमः) नमस्कार है। (बृहते) महान् तथा (वर्षीयसे) आयु में बड़े को (नमः) नमस्कार है। (वृद्धाय) पद, विद्यादि में बड़े (सवृधे) इन वृद्धों के समान अन्य सबको (नमः) नमस्कार है। (अग्र्याय) अगुआ तथा (प्रथमाय) प्रमुख व्यक्ति को (नमः) नमस्कार है।

३१. **नम आशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च**
नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च॥

(आशवे) शीघ्र गति वाले (अजिराय) निरंतर चलते रहने वाले (शीघ्र्याय) शीघ्रता से कार्य करने वाले (शीभ्याय) क्षिप्र कार्यों में श्रेष्ठ आत्म-श्लाघा से कार्य करने वाले (ऊर्म्याय) भावतरंगों में रहने वाले (अवस्वन्याय) मौन रहने वाले, शब्द पहचानने वाले, अथवा शब्दरहित जल में रहने वाले (नादेयाय) नदी में होने वाले (च) और (द्वीप्याय) द्वीप में विचरने वाले इन सबको (नमः) हमारा नमस्कार है।

आशवे—शीघ्रशीभशब्दौ क्षिप्रनामनी। शीभृ कत्थने—शीभते कथ्यते इति शीभः, आत्म-श्लाघी पचाद्यच् तत्र भवः (महीधर)। शीभेषु क्षिप्रकारिषु भवाय (स्वामी दयानन्द) **अवस्वन्याय**—अवगतः ज्ञातः स्वनो यस्मात् तत् अवस्वनम् यद्वा अव नीचैर्गतादौ स्वनोऽवस्वनस्तत्र भवाय। **नादेयाय**—नद्यां भवो नादेयः तस्मै। नद्यां भवाय (स्वामी दयानन्द)।

३२. **नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च।**
नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च॥

(ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ को (कनिष्ठाय) कनिष्ठ को (पूर्वजाय) पूर्वज को (अपरजाय) पश्चाद् उत्पन्न को (नमः) नमस्कार है। (मध्यमाय) मध्यम को (अपगल्भाय) धृष्ठतारहित को अथवा एक का अन्तर छोड़कर पैदा हुए तीसरे को (नमः) नमस्कार है (जघन्याय) जघन्य कार्य में संलग्न अथवा निकृष्ट स्थान में स्थित को (च) और (बुध्न्याय) मूल पुरुष को अथवा सब कर्मों के मूल में विद्यमान इन सबको (नमः) हमारा नमस्कार है।

३३. नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च
नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥

(सोभ्याय नमः) सुख दुःखादि द्वन्द्वों में रहने वालों के लिए नमस्कार है। (प्रति सर्याय) रक्षा, आभिचारिक कर्म व प्रति सरण में समर्थ के लिए नमस्कार है। (याम्याय) न्याय व नियन्त्रण करने में समर्थ के लिए और (क्षेम्याय नमः) प्रजाओं का कल्याण करने में तत्पर इन सबको नमस्कार है। (श्लोक्याय च अवसान्याय) यशस्वी, वेदमन्त्रों के व्याख्यान में कुशल अवसान अर्थात् प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर्यन्त श्रम करने वाले अथवा वेद के अन्त तक अध्ययन में तत्पर इन सबको (नमः) नमस्कार है। (उर्वर्याय) महान् ऐश्वर्यों के स्वामी अथवा भूमि को उर्वरा बनाने में कुशल (खल्याय च) खलिहान-सम्बन्धी कर्मों में कुशल इन सबको (नमः) नमस्कार है।

सोभ्याय—उभाभ्यां द्वन्द्वाभ्यां सहितः सोभः तत्र भवः सोभ्यः तस्मै।

प्रतिसर्याय—प्रतिसरं हस्तसूत्रे माल्यस्य मण्डने व्रण शुद्धौ चमूपृष्ठे नियोज्या-रक्षके तथा कर्णेऽथ मन्त्रभेदेऽपि, इति विश्वः।

"भवेत् प्रतिसरो मन्त्रभेदे माल्ये च कंकणे। व्रत शुद्धौ चमूपृष्ठे पुंसि न स्त्री तु मण्डले। आरक्षे करसूत्रे च नियोज्ये त्वन्यलिंगकः" इति मेदिनी।

श्लोक्याय—श्लोका वैदिकमन्त्रा यशो वा तत्र भवः तस्मै।

अवसान्याय—अवसानं समाप्तिः वेदान्तो वा तत्र भवः तस्मै।

खल्याय—खलो धान्यविवेचनदेशः तत्र भवः तस्मै।

"खलः कल्के भुवि धान्ये क्रूरे कर्णे जपेऽधने। इति हैममेदिन्यौ।

३४. नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रति श्रवाय च।
नम आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥

(वन्याय) वनरक्षक (कक्ष्याय) नदी कक्षों व पर्वत कक्षों के रक्षक (श्रवाय प्रति श्रवाय) ध्वनि व प्रतिध्वनि करने वाले (आशुषेणाय) शीघ्रगामी सेना वाले (आशुरथाय) शीघ्रगामी रथों वाले (शूराय) शूरवीर तथा (अवभेदिने) शत्रुसेना (च) तथा उनकी व्यूहरचना का भेदन करने वाले इन सबको (नमः) नमस्कार है।

"वनं प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽम्भसि कानने" इति हैमः।

कक्षाय—"कक्षः स्मृतो भुजामूले कक्षोऽरण्ये व वीरुधि।

कक्षः शुष्क तृणेप्रोक्तः कक्षः कच्छ उदाहृतः" इति धरणिः।

३५. नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च।
नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च।।

(बिल्मिने) उत्तम शिरस्त्राण को धारण करने वाले अथवा प्रशस्त वस्त्रादि अलंकारों को धारण करने वाले (कवचिने) कवचधारी (वर्मिणें) लोहनिर्मित वस्त्रधारक (वरूथिने) प्रशस्त घरों वाले, हाथी के हौदे, तथा रथादिलों के ऊपरली छतों वाले इन सबको (नमः) नमस्कार है। (श्रुताय) शूरवीरता में प्रसिद्ध (श्रुतसेनाय) प्रसिद्ध सेना वाले (दुन्दुभ्याय) दुन्दुभि आदि बाजे बजाने वाले तथा (आहनन्याय) नगाड़े आदि युद्ध के बाजे बजाने वालों को (नमः) नमस्कार है।

बिल्मी—बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति बिल्मी।

वरूथः—गजोपरिस्थः कोष्को वरूथः रथगुप्तिर्वा। (महीधर)।

"वरूथं तु तनुत्राणे रथगोपनवेश्मनोः" वरूथो रथगुप्तौ स्याथ् वरूथं चर्म वेश्मनोः इति मेदिनी।

आहनन्य—आहन्यते ताड्यतेऽनेनेत्याहननं वाद्यसाधनं दण्डादिः तत्र भवः।

३६. नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषंगिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च।

(धृष्णवे) शत्रु का घर्षण करने वाले (प्रमृशाय) विचारशील तथा प्रकृष्ट रूप से शत्रु के प्रहार को सहने वाले (निषंगिणे) खड्गधारी (इषुधिमते) तर्कस-धारी (तीक्ष्णेषवे) तीक्ष्ण बाणों वाले (आयुधिने) शस्त्रधारी (स्वायुधाय) श्रेष्ठ हथियारों से युक्त (सुधन्वने) उत्तम धनुर्धारी इन सबको (नमः) नमस्कार है।

प्रमृशाय—प्रमृशति विचारयतीति, तस्मै। प्र+मृश तितिक्षायाम् तितिक्षा सहनम्।

३७. नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च।
नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च।।

(स्रुत्याय) स्वल्प स्रोतों व नालों में होने वाले (पथ्याय) मार्ग में आने वाले (काट्याय) कुमार्ग, कूप आदि में होने वाले (नीप्याय) निम्न प्रदेशों में प्रवाहित जलों में वर्तमान (कुल्याय) छोटी नहरों में होने वाले (सरस्याय) तालाबों में रहने वाले (नादेयाय) नदियों में विद्यमान (च) और (वैशन्ताय) ताल-तलैयों में रहने वाले विषैले जीव जन्तुओं का (नमः) नमन हो।

स्रुत्याय—स्रुतिः प्रस्रवणं क्षुद्रमार्गो वा तत्र भवः तस्मै ।
काट्याय—काटे भवः काट्यः तस्मै । काटः कूपः । कुत्सितमटति जनो यत्रेति काटः विषममार्गः तत्र भवाय ।
नीप्याय—नीचैर्यन्ति यत्रापः सनीपः तत्र भवाय ।
कुल्याय—कुल्या कृत्रिमा सरित् तत्र भवाय। कुलेषु देहेषु वाऽन्तर्यामिरूपेण भवाय ।
वैशन्ताय—वैशन्तोऽल्पसरः तत्र भवः तस्मै ।

३८. **नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च।**
नमोमेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ।।

(कूप्याय) कूओं में रहने वाले (अवट्याय) गड्ढों में रहने वाले (वीध्र्याय) अनेक विध प्रकाशों में रहने वाले अथवा अन्धकारों में रहने वाले (आतप्याय) धूप में होने वाले (मेघ्याय) मेघों में होने वाले अथवा मेघ से उत्पन्न होने वाले (विद्युत्याय) बिजली में अथवा बिजली द्वारा उत्पन्न होने वाले (वर्ष्याय) वर्षा में पैदा होने वाले (च) और (आवर्ष्याय) अनावृष्टि में बढ़ने वाले इन सब क्षुद्रजन्तुओं का (नमः) नमन हो ।
अवट्याय—अवटो गर्तः तत्र भवाय ।
वीध्र्याय—विशेषेण इध्रं वीध्रं (वि इन्धी दीप्तौ) विविधं इध्रं ज्योतिः तत्र भवाय ।
यद्वा—विगतं इध्रं ज्योतिर्यस्मात् तत् वीध्रं तत्र भवाय ।

३९. **नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च ।**
नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ।।

(वात्याय) वायु में होने वाले व्याधिजनक कीटाणु (रेष्म्याय) विनाश लीला करने वाले अंधड़ आदि में होने वाले (वास्तव्याय) घरों में होने वाले (वास्तुपाय) गृहरक्षक वायु में होने वाले (सोमाय) सोमरसों में होने वाले (रुद्राय) रुलाने वाले (ताम्राय) ताम्र वर्ण के (च) तथा (अरुणाय) रक्त वर्ण के इन सब रुद्रों का (नमः) नमन हो ।
रेष्म्याय—रिषति हिंसार्थः अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते इति मनिन् तत्र भवाय ।

४०. **नमः शंगवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च**
नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ।।

(शंगवे) गऊओं का कल्याण करने वाले (पशुपतये नमः) पशुपति रुद्र को

नमस्कार है। (उग्राय) उग्र स्वभाव वाले (भीमाय) भयंकर रुद्र को (नमः) नमस्कार है। (अग्रेवधाय) सामने स्थित होकर वध करने वाले (दूरेवधाय) दूर रहते हुए ही मारने वाले उस रुद्र को (नमः) नमस्कार है। (हन्त्रे) हिंसा करने वाले (हनीयसे) बहुत मारकाट मचाने वाले प्रलयंकारी रुद्र को नमस्कार है।

(हरिकेशेभ्यः) हरित वर्ण के केशों वाले (वृक्षेभ्यः) वृक्षों के लिए नमस्कार है (ताराय च नमः) और दुःखों से तराने वाले इस रुद्र भगवान् को नमस्कार है।

शंगवे—शं सुखं गवां करोतीति शंगुस्तस्मै।

अग्रेवधाय—अग्रेस्थितो हन्ति तस्मै।

हनीयसे—अतिशयेन हन्तीति हनीयान् तस्मै। 'तुरिष्ठे मेयस्सुः' इति तृचोलोपः।

हरिकेशेभ्यः—हरयः हरितवर्णाः केशाः येषां ते।

४१. नमः शंभवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(शंभवाय) कल्याण रूप उस रुद्र देव को (नमः) नमस्कार है। (च) और (मयोभवाय नमः) सुखशान्ति रूप उस भगवान् को नमस्कार है। (शंकराय च नमः) हमारा कल्याणकरने वाले शंकर भगवान् को नमस्कार है। (मयस्कराय च नमः) सुखशान्ति-प्रदाता उस देव को हमारा नमस्कार है। (शिवाय च शिवतराय च नमः) शिव रूप तथा शिवतर रूप उस भगवान् को हमारा नमस्कार है।

४२. नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च।
नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च॥

(पार्याय) संसार सागर के पार पहुंचे हुए तथा (अवार्याय) सागर के अवर तट अर्थात् संसार में स्थित दोनों को (नमः) हमारा नमस्कार है। (प्रतरणाय) प्रकृष्ट रूप से संसार-सागर को तैरने में कुशल तथा (उत्तरणाय) उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान तथा संसार-तरण में कुशल दोनों को (नमः) नमस्कार है। (तीर्थ्याय) ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों स्थानों के तीर्थों में निवास करने वाले (कूल्याय) बाह्य व आन्तरिक दोनों प्रकार की नदियों के तटों पर विद्यमान रुद्र को (नमः) हमारा नमस्कार है। (शष्प्याय) तृण व घास पर जीवन निर्वाह करने वाले (फेन्याय) फेन सदृश वस्तुओं के आहार करने वाले इन सब रुद्रों को (नमः) हमारा नमस्कार है।

पार्याय—पारे संसाराब्धेः परतीरे जीवनमुक्तरूपेण (मुक्तरूपेण वा) भवः पार्यः तस्मै।

अवार्याय—अवारे अर्वाक् तीरे संसारमध्ये संसारित्वेन भवः तस्मै। (महीधर)

प्रतरणः—प्रकर्षेण मन्त्रजपादिना पापतरणहेतुः प्रतरणः। (महीधर)

नौकादिना पूर्वतटात् अर्वाचीनतटप्राप्ताय प्रापयित्रे वा।
(स्वामी दयानन्द)

४३. नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ।।

(सिकत्याय) बालू रेत पर पड़ाव डाले हुए तथा (प्रवाह्याय) प्रवाह जलधारा में खड़े होकर ध्यान जपादि में संलग्न यति को (नमः) हमारा नमस्कार है। (किंशिलाय) शर्कराबहुल प्रदेश में रहने वाले तथा (क्षयणाय) पत्थरादि निर्मित गुहा-प्रदेशों में रहने वाले को (नमः) हमारा नमस्कार है। (कपर्दिने) जटाजूट-धारी (पुलस्तये) नगरनिवासी को (नमः) नमस्कार है। (इरिण्याय) ऊसर प्रदेश में स्थित तथा (प्रपथ्याय च) प्रकृष्ट व विशाल राजमार्गों पर विचरने वाले को (नमः) नमस्कार है।

सिकत्याय—सिकतासु भवः तस्मै।

किंशिलाय—किं कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः पाषाणखण्डाः यत्र स प्रदेशः किंशिलः तत्र भवाय।

क्षयणाय—क्षियति निवसति किंशिलनिर्मितेषु गृहेषु गुहासु वा यः स क्षयणः तस्मै।

पुलस्तये—पूर्षु नगरेषु अस्ति सत्ता यस्य सः पुलस्तिः रलयोरभेदः तस्मै।

इरिण्याय—इरिणमूषरं तत्र भवाय।

उपर्युक्त मन्त्र में यतियों व संन्यासियों को नमस्कार किया गया है। क्योंकि जब ये क्रुद्ध हो जाते हैं तो इनका रौद्र रूप बहुत विनाशकारी व भयंकर होता है।

अथवा अमुक-अमुक प्रदेशों में रहने वाले कृमि-कीटों के पक्ष में भी मन्त्रार्थ किया जा सकता है।

४४. नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च। नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च।।

(व्रज्याय) बाड़े में रहने वाले (गोष्ठ्याय) गौशाला में होने वाले (तल्प्याय) बिस्तर में विद्यमान (गेह्याय) घर में रहने वाले (हृदय्याय) हृदय को जकड़ने वाले (निवेष्प्याय) कोहरे व आवर्त में उत्पन्न (काट्याय) कुत्सित स्थान अथवा कुए में रहने वाले (च) तथा (गह्वरेष्ठाय) गहरे गड्ढों में होने वाले इन सभी प्रकार के व्याधिजनक कीटाणुओं का (नमः) नमन व शमन हो।

निवेष्प्याय—निवेष्प आवर्तो नीहारजलं वा तत्र भवस्तस्मै।
नितरां व्याप्तौ साधवे—(स्वामी दयानन्द)।

काट्याय—कुत्सितमटन्ति गच्छन्ति जना यत्र स काटः कूपो वा।काटः कूपः निघं० २।२३ तत्र भवाय।
कटेषु आवरणेषु भवाय (स्वामी दयानन्द)।

४५. नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ।।

(शुष्क्याय) शुष्क पदार्थों में होने वाले और (हरित्याय च) हरे पदार्थों में रहने वाले (पांसव्याय) धूल-कणों में होने वाले (रजस्याय) सूक्ष्माणुओं में विद्यमान (लोप्याय) लुप्त होने अर्थात् आँखों से ओझल होने वाले (उलप्याय) तृण के ढेर पर रहने वाले (ऊर्व्याय) पृथिवी के अन्दर रहने वाले (सूर्व्याय च) और साफ सुथरी भूमि में रहने वाले व्याधिजनक कृमि-कीटों का (नमः) नमन हो।

रजो रेणुपरागयोः स्त्रीपुष्पे गुणभेदे च ।
उलपस्तु गुल्मिनीतृणभेदयोः इति हैमः ।।

लोप्याय—लोपेषु छेदनेषु साधवे (स्वामी दयानन्द)।
लुप्यते नश्यति दृष्टिपथं न याति यत्र स प्रदेशः तत्र भवाय।

ऊर्व्याय—भूमौ भवः तस्मै ।

४६. नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः ।।

(पर्णाय) पर्ण=प्लक्ष (Pluxus) षट् चक्र रूप पर्ण को (पर्णशदाय) षट् चक्र को काटकर ज्ञान व शक्ति का उद्गम करने वाले को (नमः) नमस्कार है (उद्गुरमाणाय) उद्यमी अथवा चक्रों के उद्घाटन में संलग्न (अभिघ्नते) बाधाओं व शत्रुओं का हनन करने वाले (आखिदते) चहुँ ओर से आने वाले शत्रुओं को दीन बना देने वाले (प्रखिदते) प्रभूत मात्रा में दैन्य कर देने वाले इन सबको (नमः) हमारा नमस्कार है (इषुकृद्भ्यः) आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के बाणों को बनाने वाले तथा (धनुष्कृद्भ्यः) धनुष आदि आयुधों का निर्माण करने वालों को (नमः) हमारा नमस्कार है। (देवानां हृदयेभ्यः) अग्नि, वायु तथा सूर्य आदि देवों के हृदय रूप रुद्रों को (नमः) हमारा नमस्कार है। ये कैसे हैं? (किरिकेभ्यः) सृष्टि में निर्माण, विनाश आदि सब-कुछ करने वाले (विचिन्वत्केभ्यः) संयोग-वियोग करने वाले तथा पाप-पुण्यादि के विवेचक (विक्षिणत्केभ्यः) विविध प्रकार से हिंसा करने वाले (च) तथा (आनिर्हतेभ्यः) सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्मय अण्डे से पृथक् होने वाले इन सबको हमारा नमस्कार है अर्थात् इन भागवत शक्तियों के माध्यम से उस साक्षात् रुद्र भगवान् को हमारा नमस्कार है। अग्नि, वायु, सूर्य ये तीनों देवों के हृदयस्थानी हैं। कहा भी है—

"देवानां हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि"
श० प० ६।१।१।२३

किरिकेभ्यः—एते हीदं सर्वं कुर्वन्ति ।
विचिन्वत्केभ्यः—एते हीदं सर्वं विचिन्वन्ति ।
विक्षिणत्केभ्यः—एते वै तं विक्षिणन्ति यं विचिक्षीषन्ति ।
आनिर्हतेभ्यः—आ समन्तात् निर्हताः निर्गताः तेभ्यः । हन्तिर्गत्यर्थः ।
शο पο ९।१।१।२३

४७. द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित । आसां प्रजानामेषां
पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किं चनाममत् ।।

(द्रापे) पापिओं को कुत्सित गति में पहुँचाने वाले अथवा सज्जनों की कुत्सित गति से रक्षा करने वाले (अन्धसस्पते) सोम रूप अन्न के स्वामिन् (दरिद्र) अपरिग्रहशील, या दुष्टों को दरिद्र बना देने वाले (नीललोहित) विष के कारण लाल, नीले वर्ण वाले, अथवा सर्पादि विषैले जन्तुओं के रूप में होने के कारण तद् रंगों वाले हे रुद्र ! (नः) हमारी (आसां प्रजानां) इन प्रजाओं को तथा (एषां पशूनां) इन गौ आदि पशुओं को (मा भेः) कोई भय न हो (मा रोङ्) न कोई रोग हो (मो च) और न (किंचन) किसी प्रकार की (आममत्) पीड़ा व कष्ट हो ।
द्रापे—द्रा कुत्सायां गतौ, द्रापयति कुत्सितां गतिं प्रापयतीति द्रापिः सम्बोधने ।
यो द्रः कुत्सायाः गतेः पाति रक्षति तत्सम्बुद्धौ । —स्वामी दयानन्द
अन्धसस्पते—सोमस्यपते । शο पο ९।१।१।२४
रोक्—रुजो भंगे । **आममत्**—अम रोगे लङ् ।
उपरोक्त ४७वें मन्त्र से ५३वें मन्त्र तक एक रुद्र देवता के मन्त्र हैं ।

४८. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः ।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ।।

(महे) महान् (तवसे) बलवान् (कपर्दिने) जटाजूटधारी (क्षयद्वीराय) वीर पुरुषों के आश्रयभूत (रुद्राय) रुद्र देव के प्रति (इमाः) ये (मतीः) स्तुतियाँ हम (प्रभरामहे) समर्पित करते हैं । (यथा) जिससे हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दो पायों तथा चौपायों का (शं असत्) कल्याण हो और (अस्मिन् ग्रामे) हमारे इस ग्राम में (विश्वं) सब कोई (पुष्टं) हृष्ट-पुष्ट तथा (अनातुरम्) रोगरहित हो ।
क्षयद्वीराय—क्षियन्ति निवसन्ति वीराः शूरा यत्र स क्षयद्वीरः तस्मै ।

४९. या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ।।

हे (रुद्र) व्याधिजनक कीटाणुओं के नाशक (या ते) जो तेरी (शिवातनूः) कल्याणकारिणी देह है (शिवा) शिवरूप तथा (विश्वाहा) सदा (भेषजी) औषध

रूप है और (रुतस्य) शारीरिक व्याधि के लिये (भेषजी) औषध है (तया) उस अपनी तनू से हे रुद्र ! (नः) हमें (जीवसे) जीवन-धारण के लिये (मृड) सुखी कर।

५०. परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परित्वेषस्य दुर्मतिरघायोः।
अवस्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड ॥

(रुद्रस्य) रुद्र भगवान् का (हेतिः) शस्त्रप्रहार (नः) हमें (परिवृणक्तु) दूर से ही छोड़ दे अर्थात् हम पर न पड़े। (त्वेषस्य) क्रुद्ध (अघायोः) हमारी हिंसा चाहने वाले पुरुष की (दुर्मतिः) दुष्टबुद्धि (नः परिवृणक्तु) हमसे दूर रहे। हे (मीढ्वः) सुख की वर्षा करने वाले रुद्र ! (मघवद्भ्यः) हम दिव्य धन के धनो प्रजाओं के लिए (त्वं) तू अपने (स्थिरा) दृढ़ धनुषों को (अवतनुष्व) उतार दे और हमारे (तोकाय तनयाय) पुत्र-पौत्रों को (मृड) सुखी कर।
मीढ्वः—मिह सेचने। अघायुः अघं पापं विनाशं वा परस्येच्छति-परेच्छायां क्यच्

५१. मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्ष
आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदा गहि ॥

(मीढुष्टम) अत्यधिक सुख की वर्षा करने वाले (शिवतम) अतिशय कल्याण-कारिन् हे रुद्र ! तू (नः) हमारे प्रति (शिवः) कल्याणकारी और (सुमना भव) शोभन मनवाला हो (परमे वृक्षे) इस सृष्टि रूपी वृक्ष के परम स्थान आदित्य-मण्डल में (आयुधं निधाय) अपनी संहारशक्ति को रखकर (कृत्तिं वसान आचर) ज्योति रूप त्वचा को धारण किये हुए सर्वत्र विचर और दुष्टों के दमनार्थ (पिनाकं बिभ्रत्) उनको पीस डालने वाले धनुष को धारण किये हुए (आगहि) हमारी ओर आ।
परमे वृक्षे—यो वृश्च्यते छिद्यते सः संसारः। (स्वामी दयानन्द)

यह संसार वृक्ष है, क्योंकि इसे काट-काटकर द्युलोकादि लोक-लोकान्तरों का निर्माण किया गया है। इसी प्रकार सौरमण्डल भी एक वृक्ष है। इसका 'परम' सर्वोत्कृष्ट प्रदेश आदित्यमण्डल है। सूर्य को रुद्र कहा भी गया है। यह सूर्य रूपी रुद्र अपनी संहारशक्ति को सूर्यमण्डल में ही रखकर पालनशक्ति के द्वारा सर्वत्र विचरे और जो दुष्टप्रकृति हों उनके विनाश के लिये पिनाकपाणि बन इधर आवे।

५२. विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ॥

(विकिरिद्र) बाण वर्षा से शत्रुओं को तितर बितर करने वाले सुअर की तरह विविध प्रकार से जीव-जन्तुओं को इधर-उधर फेंकने वाले (विलोहित) रक्तवर्ण के नाना भांति के जीव-जन्तुओं वाले हे (भगव) रुद्र भगवान् ! (नमस्ते अस्तु)

तुझे नमस्कार है (याः) जो (ते) तेरे (सहस्रं) हजारों (हेतयः) अस्त्रशस्त्र हैं (ताः) वे (अस्मत्) हमसे दूर (अन्य) दूसरे हमारे शत्रुओं पर (निवपन्तु) जाकर पड़ें।

विकिरिद्र—विशेषेण किरति—वि+कृ विक्षेपे इ-प्रत्ययः (उणा. ४।१४८) द्राति द्रावयति वा। विविधं किरिं सर्पादिकं तज्जनितघाताद्युपद्रवं वा द्रावयति। विकिरन् इषून् द्रावयति। उव्वट। विविधं किरिं घाताद्युपद्रवं द्रावयति नाशयति—(महीधर)।
विशेषण किरिः सूकर इव द्रायति शेते, विशिष्टं किरिं द्राति निन्दति वा तत्सम्बुद्धौ। (स्वामी दयानन्द)।

जिस प्रकार सुअर अपनी थूंथनी से मिट्टी इधर उधर फैंकता है उसी प्रकार रुद्र भगवान् सर्पादि विषैले जीव-जन्तुओं को इधर उधर फेंकता रहता है।

५३. सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखाकृधि॥

हे (भगवः) ऐश्वर्यशालिन् (तव बाह्वोः) तेरी भुजाओं में (सहस्राणि सहस्रशः) सहस्रों लाखों (हेतयः) अस्त्र-शस्त्र हैं, तू तो (ईशानः) ईश है अतः (तासां) उन शस्त्रों के (मुखा) मुखों को (पराचीना कृधि) परे की ओर कर दे।

५४. असंख्याता, सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

(भूम्यां अधि) भूमि पर (ये) जो (असंख्याता सहस्राणि) असंख्य सहस्रों (रुद्राः) रुद्र हैं (तेषां धन्वानि) उनके धनुषों को हम (सहस्रयोजने) सहस्रों योजन परे तक (अवतन्मसि) उतारते हैं, शान्त करते हैं।

५५. अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि।
तेषां सहस्र योजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

(अस्मिन्) इस (अन्तरिक्षे अधि) अन्तरिक्ष के (महति अर्णवे) महान् समुद्र में (भव) विद्यमान रुद्र हैं। तेषां०. शेषं पूर्ववत्।

यह अन्तरिक्षस्थ रुद्रों के सम्बन्ध में है।

५६. नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवं रुद्रा उपश्रिताः।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

(नीलग्रीवाः) विषसम्पृक्त होने से नीली गर्दन वाले (शिति कण्ठाः) तीक्ष्ण कण्ठ वाले सूर्यरश्मि रूपी रुद्र जो कि (दिवं उपश्रिताः) द्युलोक को आश्रय किये

हुए है। तेषां०...शेष पूर्ववत्।

इससे यह स्पष्ट है कि कुछ सूर्यरश्मियाँ पृथिवी पर विष का संचार करने वाली भी हैं।

५७. **नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः।**
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

(नीलग्रीवाः) नीली गर्दन वाले सर्पादि विषैले जीवजन्तु (शितिकण्ठाः) तीक्ष्ण कण्ठ वाले (शर्वाः) हिंसक (अधः) नीचे बिल आदि में (क्षमाचराः) पृथिवी पर विचरने वाले हैं। तेषां शेष पूर्ववत्।

५८. **ये वृक्षेषु शष्पिंजरा नीलग्रीवा विलोहिताः।**
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

(ये) जो रुद्र (वृक्षेषु) वृक्षों पर स्थित हुए (शष्पिंजराः) तृणतुल्य पीत वर्ण के तथा (विलोहिताः) विशिष्ट लाल वर्ण वाले हैं। शेष पूर्ववत्।

शष्पिंजरा— शष्पं वाल-तृणं तद्वत् पिंजराः।

५९. **ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।**
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

(ये) जो (भूतानां) प्राणियों के (अधिपतयः) अधिपति हैं (विशिखासः) विशिष्ट शिखा वाले अथवा विगत शिखा वाले हैं (कपर्दिनः) जटाजूटधारी हैं। शेषं पूर्ववत्।

६०. **ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः।**
तेषां सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि॥

(ये) जो रुद्र (पथां पथिरक्षयः) मार्गों तथा पथिकों के रक्षक हैं (ऐलबृदाः) पार्थिव अन्नों को धारण करने व बढ़ाने वाले हैं (आयुर्युधः) आयुपर्यन्त युद्धरत रहते हैं। शेषं पूर्ववत्।

ऐलबृदा—इला पृथिवी तस्या इदं एलमन्नं तद् बिभ्रति ते
एलभृतः त एव परोक्षवृत्या ऐलबृदा उच्यन्ते। (महीधर)।
इलायाः पृथिव्या इमानि वस्तुजातानि ऐलानि
तानि ये वर्धयन्ति ते। अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य दः।

(स्वामी दयानन्द)

आयुर्युधः—आयुषा जीवनेन युध्यन्ते ते यावज्जीवंयुद्धकराः।
ये आयुषा सह युध्यन्ते तेषाम्—(स्वामी दयानन्द)

६१. ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषंगिणः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ।।

(ये) जो रुद्र (सृकाहस्ताः) भाला हाथ में लिये हुए तथा (निषंगिणः) खंग-धारण किये हुए (तीर्थानि प्रचरन्ति) तीर्थों में विचरते हैं ।
तेषां—शेष पूर्ववत्
सृकाहस्ताः—वज्राद्यायुधानि हस्ते येषाम् ।
सृकेति वज्रनाम—निघं. २।२०

६२. येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ।।

(ये) जो (अन्नेषु) अन्नों में स्थित हो (विविध्यन्ति) अन्नभक्षण करते हुए मनुष्य पर प्रहार करते हैं तथा (पात्रेषु) जलपात्रों में स्थित हो (पिबतोजनान्) जल पीते हुए मनुष्यों को बींधते हैं । तेषां—शेषं पूर्ववत् ।
विविध्यन्ति—अतिशयेन विध्यन्ति ।

६३. य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ।।

(ये) जो (एतावन्तः) पूर्व निर्दिष्ट और (भूयांसश्च) इनसे भी अधिक (रुद्राः) रुद्र (दिशः) दिशाओं में (वितस्थिरे) विद्यमान हैं ।
तेषां—शेषं पूर्ववत् ।

६४. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीची र्दशोदीची र्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ।।

(ये) जो (दिवि) द्युलोक में विद्यमान (रुद्राः) रुद्रगण हैं (येषां) जिनका (वर्षं) जलादि वर्षण (इषवः) बाण रूप है (तेभ्यः) उन रुद्रों को (दश प्राचीः दश दक्षिणा दश प्रतीचीः दश उदीचीः, दश ऊर्ध्वाः) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम उत्तर तथा ऊर्ध्व इन सब दिशाओं में दसों अंगुलियों को अंजलि रूप में बांधकर प्रणाम करता हूँ अर्थात् पांचों दिशाओं में दोनों हाथों को जोड़कर तत्रस्थ रुद्रों को प्रणाम करता हूं और क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में घूमता जाता हूं । (तेभ्यः नमः अस्तु) उनको मेरा नमस्कार है (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें (ते नः मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें । (ते) वे रुद्र और हम (यं द्विष्मः) जिससे द्वेष करते हैं (यः च नः द्वेष्टि) और जो हमसे द्वेष करता है । (तं) उसको हम (एषां) इन रुद्रों के (जम्भे दध्मः) दाढ़ में रख दें अर्थात् वे रुद्र अपनी न्याय-व्यवस्था के अनुसार उन्हें दण्ड दें ।

श० प० ६।१।१।३६ में कहा है **"दशवा अंजलेरंगुलयो दिशि दिश्येवैभ्यः एतदंजलिं करोति।"**

यह उपरोक्त मन्त्र द्युलोक के रुद्रों के लिये है।

६५. **नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः।**
तेभ्यो दश प्राची र्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।।

(ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में रुद्र हैं (येषां) जिनके (इषवः) बाण (वातः) वायु है। शेषं पूर्ववत्।

६६. **नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः तेभ्यो दश प्राची र्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीची र्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।**

(ये) जो (पृथिव्यां) पृथिवी में रुद्र हैं (येषां) जिनके (इषवः) बाण (अन्नं) अन्न है। शेष पूर्ववत्।

अथर्व काण्ड ११ सूक्त २

ऋषिः अथर्वा। **देवता** रुद्रो (भवाशर्वौ)। **छन्दः** त्रिष्टुप्, उष्णिक्, अनुष्टुप् गायत्री, बृहती, जगती आदि।

इस सूक्त में रुद्र देवता के ही दो रूप भव और शर्व का विवेचन किया गया है। भव का उत्पत्ति से सम्बन्ध है पर यह सामान्य उत्पत्ति नहीं है यह रुद्र-सम्बन्धी उत्पत्ति है। अर्थात् सांप, बिच्छू, मत्स्य, अजगर आदि विषैले जीव-जन्तु, कुत्ते, गीदड़, सिंह आदि हिंसक प्राणी, गीध आदि मांसभक्षक पक्षी इत्यादि हिंसक प्राणियों की उत्पत्ति रुद्र भगवान् के 'भव' रूप के अधीन होती है। और रुद्र का 'शर्व' रूप तो सर्वसंहारक है ही। भव के अधीन उत्पन्न प्राणी क्योंकि मनुष्य के शत्रु हैं इसीलिए प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है कि **"हे भव और शर्व! "भूतपती पशुपती नमो वाम्"** तुम दोनों भूतों तथा पशुओं के स्वामी हो, तुम्हें हमारा नमस्कार है, तुम दोनों **'माभियातम्'** हमारी ओर मत आओ। **'प्रतिहिताम्'** धनुष पर रक्खे हुए **'आयताम्'** लक्ष्य पर ताने हुए बाण को **'मा वि स्राष्टम्'** हम पर मत छोड़ो।

"मा नः हिंसिष्टम्" हमारी हिंसा मत करो। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि 'शर्व'

के समान 'भव' भी मनुष्य तथा मनुष्य के हितकारी चौपायों की हिंसा करता है। हिंसक तथा विषैले जीव-जन्तुओं को उत्पन्न करके हिंसा करता है या भय पैदा करता है। इसी कारण मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि तुम दोनों हम मनुष्यों की ओर मत आओ। ये दोनों किस रूप में मनुष्य के पास पहुंचते हैं ? हिंसक प्राणियों के रूप में। अतः हिंसाकारक प्राणियों से अपनी रक्षा करना मनुष्य के लिए आवश्यक है। शतपथब्राह्मण में 'भव' के सम्बन्ध में आता है **"तमब्रवीद्भवोऽसीति। तद्यदस्य तन्नामाकरोत् पर्जन्यस्तद्रूपमभवत् पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति"** श. प. ६।१।३।१५

रुद्र ने प्रजापति से कहा कि मैं अब और बड़ा हो गया हूँ अतः मुझे और नाम दो। तब प्रजापति ने कहा कि तू 'भव' है। यह भव पर्जन्य (मेघ) रूप है क्योंकि पर्जन्य अर्थात् मेघ बरसता है तो औषधि, वनस्पतियाँ आदि तथा कृमि-कीट आदि सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस पृथिवी पर सभी प्रकार की उत्पत्तियाँ होती हैं, अमृतमयी तथा विषमयी, इन दो भागों में इन्हें विभक्त किया जा सकता है। जितनी उत्पत्तियाँ मानव आदि प्राणियों की हिंसा करने वाली हैं वे सब विषमयी हैं। अतः अथर्ववेद के इस उपर्युक्त सूक्त में रुद्र का 'भव' रूप मनुष्य तथा मनुष्यहितकारी गौ, अश्व आदि प्राणियों की हिंसा करने वाले सांप, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र, चोर, डकैत आदि प्राणियों की उत्पत्ति करने वाला है अब मन्त्रार्थ लिखते हैं।

१. भवाशर्वौ मृडतं माभियातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥

(भवाशर्वौ) हे भव और हे शर्व ! अर्थात् हिंसक जन्तुओं के उत्पादक तथा सर्वसंहारक आप दोनों (मृडतम्) हमें सुखी करो (माभियातं) हमारे प्रति अभियान-आक्रमण मत करो। (भूतपती-पशुपती) भूतों तथा पशुओं के स्वामियो (वाम्) तुम दोनों को हमारा (नमः) नमस्कार है। (प्रतिहितां) धनुष पर चढ़ाये हुए तथा (आयतां) लक्ष्य पर ताने गये बाण को हम पर (मा विस्राष्टं) मत छोड़ो। (नः) हमारे (द्विपदः चतुष्पदः) दोपायों तथा चौपायों को (मा हिंसिष्टं) मत मारो।

भवन्त्युत्पद्यन्ते क्षुद्रजन्तवो यस्मात् स भवः।

शृणाति हिनस्ति प्राणिनो यः स शर्वः। शॄ हिंसायां वः प्रत्यय

भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ —देवताद्वन्द्वे च। पा० ६।३।२६

विस्राष्टम् वि+सृज विसर्गे तुदादि०…माङि लुङ् रूपम्।

२. शुने क्रोष्ट्रे शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥

हे (पशुपते) समस्त पशुओं के स्वामिन् (शरीराणि) हमारे शरीरों को (शुने) कुत्तों और (क्रोष्ट्रे) गीदड़ों के लिए (अविक्लवेभ्यः) शत्रु गति वाले (गृध्रेभ्यः) गीधों के लिए (ये च) और जो (कृष्णाः) काले (अविष्यवः) हिंसक जन्तु हैं उनके लिए (मा कर्तम्) मत करो ! हे पशुपते ! (ते मक्षिकाः) तेरी मक्खियां और (ते) तेरे (वयांसि) पक्षी हमें (विघसे) अपने भोजन के लिए (मा विदन्त) न पा सकें।

अलिक्लवेभ्यः—अरि+क्लवेभ्यः—क्लुङ् गतौ (भ्वादि०) अरिवत् क्लवन्ते गच्छन्ति। इति अरिक्लवास्तेभ्यः। रलयोरभेदः।

विघसे—वि+अद भक्षणे अदः स्थाने घस्लृ आदेशः

अविष्यवः—अव रक्षणहिंसादिषु—इसि। छन्दसि परेच्छायामपि (वा. पा. ३।१।८ इति क्यच्—क्याच्छन्दसि. पा. ३।२।१७० इति उ-प्रत्ययः।

३. **क्रदाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः।**
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥

(भव) क्षुद्रजन्तुओं को उत्पन्न करने वाले (अमर्त्य) अमरणधर्मा (रुद्र) रुलाने वाले हे देव ! (ते) तेरे (क्रन्दाय प्राणाय) क्रन्दन कराने, रुलाने वाले प्राण के लिए (याश्च) और जो (रोपयः) मोह व मूढ़ता में डालने वाली तेरी शक्तियां हैं ऐसी शक्तियों वाले तथा (सहस्राक्षाय) सहस्रों दृष्टि शक्ति वाले सर्वद्रष्टा (ते) तुझे (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं।

रोपयः—रुप विमोहने (दिवादि०)—इन् 'सर्वधातुभ्य इन्' उणा—४।११८

यह रुद्र भवरूप में प्राणों में ऐसी पीडाएँ, व्याधियाँ उत्पन्न कर देता है कि मनुष्य क्रन्दन करता है। रोना व चिल्लाते रहना इसी भवरूप रुद्र द्वारा उत्पन्न व्याधिजनक कृमि-कीटों (वायरस) आदि के कारण पैदा होता है। कोई भी प्राणी इसकी दृष्टि से बच नहीं सकता क्योंकि यह सहस्राक्ष है। इसकी सत्ता सनातन काल से है और अनन्त काल तक रहेगी।

४. **पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत।**
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः॥

हे रुद्रः (ते) तुझे हम (पुरस्तात्) सामने से (उत्तरात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (नमः कृण्मः) नमस्कार करते हैं। (अभीवर्गात्) चहुं ओर से घेरने वाले या चहुं ओर से सामान्य प्राणियों को ऊर्ध्व में जाने से वर्जन करने वाले (दिवः) द्युलोक से भी (परि) परे विद्यमान तथा (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष रूप में स्थित (ते) तुझे (नमः) नमस्कार करते हैं।

अभीवर्गात्—अभि—वृजी वर्जने—घञ् 'उपसर्गस्य धञ्यमनुष्ये बहुलम्'। पा. ६।३।१२२

अन्तरिक्षाय—अन्तराक्षान्तं भवति—निरु. २।३।६,१० यद्वा अन्तरा इमे (रोदस्यौ रोधस्यौ द्यावापृथिव्यौ तयोर्मध्ये क्षियति निवसति. (क्षि निवासे तुदादि०) (अन्तरा आकारस्य इकारः। यद्वा शरीरेष्वन्तरक्षयम्) निरु० २।३।१०

रुद्र का 'भव' रूप शतपथब्राह्मण (६।३।१।१५) में पर्जन्य का माना है। पर्जन्य मेघ को कहते हैं। यह अन्तरिक्षस्थानीय है। मन्त्र का तात्पर्य यह है कि रुद्र के अधीन जो प्राणी हैं वे द्युलोक व द्युलोक से ऊपर नहीं जा सकते। वे कुछ विरले ही सौभाग्यशाली रजोगुणरहित व्यक्ति होते हैं जोकि सूर्य को भेदन कर द्युलोक से ऊपर भगवान् के शुद्ध रूप में जा स्थित होते हैं (सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सह्यव्ययात्मा) तदतिरिक्त अन्य प्राणियों के भाग्य में तो रोना ही लिखा है। वे द्युलोक से इधर ही पृथिवी व अधिक से अधिक अन्तरिक्ष तक ही पहुंच पाते हैं। इसी दृष्टि से रुद्र के इस 'भव' रूप को मन्त्र में अन्तरिक्ष नाम से स्मरण किया है। और द्युलोक को 'अभीवर्ग' इसलिए कहा कि वह सामान्य प्राणियों को द्युलोक से ऊर्ध्व में जाने से वर्जता है, रोकता है।

५. **मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव।**
त्वचे रूपाय सन्दृशे प्रतीचीनाय ते नमः ।।

हे (पशुपते) पशुओं के स्वामिन्। (ते मुखाय) तेरे मुख के लिए (नमः) नमस्कार है। हे (भव) क्षुद्रजन्तुओं के उत्पादक (यानि ते चक्षूंषि) जितनी तेरी आँखें हैं उनको भी हमारा नमस्कार है (ते त्वचे नमः) तेरी त्वचा के लिये नमस्कार है (सन्दृशे रूपाय) तेरे सम्यक् दर्शनीय सुन्दर रूप के लिये नमस्कार है (प्रतीचीनाय ते नमः) हमारी ओर पीठ फेरे हुए तेरे लिये हमारा नमस्कार है।

यहाँ 'भव' को पशुपति से सम्बोधन करने का एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि जितने हिंसक पशु-पक्षी व विषैले जीव हैं वे सब इसी रुद्र भगवान् के रूप हैं उनके मुख, जिह्वा, आदि अंग इसी रुद्र देव के अंग हैं। उन अंगों को नमस्कार करने का तात्पर्य यह है कि वे हिंसकजीव हमसे दूर रहें। किन्हीं के मुख में विष है या मुख द्वारा हिंसा करते हैं (शेर आदि) कोई दृष्टि-शक्ति से विष का संचार कर देता है (आशीविष) कोई त्वचा द्वारा विष फैलाता है। इस प्रकार सैकड़ों, हजारों जीव हैं जो भिन्न-भिन्न अंगों से मनुष्य पर प्रहार करते हैं। दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि मनुष्य का मुख, जिह्वा व त्वचा आदि अंग रोगाक्रान्त हो जाता है तो समझो वहाँ स्वयं रुद्र देव आ विराजे हैं। वे अंग इस अवस्था में रुद्र के अंग हैं ऐसा समझना चाहिये।

६. **अंगेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते।**
दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ।।

हे रुद्र ! तेरे अंगों, तेरे उदर, तेरी जिह्वा, मुख, दाँत तथा तेरे गन्ध के लिये नमस्कार है।

गीता के ११वें अध्याय में जो भगवान् कृष्ण का विराट् रूप दिखाया है वह उनका उग्र रूप है, एक प्रकार से वह रुद्र का ही रूप है ऐसा समझना चाहिये यथा—**लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः। आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।** ११।३० इसी भाँति और भी श्लोक हैं जो भगवान् कृष्ण के रुद्र रूप को प्रदर्शित करते हैं।

७. **अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।**
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥

(नीलशिखण्डेन) नील वर्ण का विष है शिखा-शीर्ष रूपी अण्डाभाग में जिसके ऐसे (अस्त्रा) प्रहार करने वाले (सहस्राक्षेण वाजिना) वेगवान् सहस्राक्ष रूप तथा (अर्धकघातिना) आधे अर्थात् अपूर्ण का घात करने वाले (रुद्रेण) रुद्र से हम (मा समरामहि) कभी युद्ध न करें।

नीलशिखण्ड—सर्प आदि विषैले जीव-जन्तुओं के प्रायः विष मुख, व दांत आदि में ही होता है। शिखण्ड से अण्ड-रूप शिर का ग्रहण किया गया है।

यह रुद्र जिनका घात करना चाहता है उस पर दांतों आदि द्वारा प्रहार करता है। इस रुद्र को अर्धकघाती भी कहा है अर्थात् जो आधा है परिपूर्ण नहीं हुआ है वह बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में आया करता है वह सदा रोता है। रुद्र से युद्ध न करने का तात्पर्य यही है कि लापरवाही में उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, उसे सदा नमस्कार द्वारा प्रसन्न करना चाहिये।

पैप्प. सं. (१६) १०४।७ में अर्धकघातिना के स्थान पर 'अध्वगघातिना' पद आता है अध्व—मार्ग में चलते हुओं को वह मारता है। अर्थात् रेल, मोटर तथा अन्य यानों में यात्रा करने वालों की मृत्यु, पैदल चलने वालों अर्थात् घर से बाहर गये हुओं की जो अकस्मात् मृत्यु हो जाती है वह सब रुद्र के प्रहार से होती है।

अर्धकघातिना—अर्ध एव अर्धकः स्वार्थे कन् अर्धकः
अपूर्णः तस्य घातिना हिंसकेन।
अध्वगं घातयतीति अध्वगघाती तेन।

नीलशिखण्डेन—नीलः शिखण्डो यस्य तेन।

८. **स नो भवः परिवृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परिवृणक्तु नो भवः।**
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥

(स भवः) वह जीवों का उत्पादक रुद्र देव (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से

(परिवृणक्तु) हिंसा से बचाये रक्खे (आप इव) जल जिस प्रकार शान्ति देते हैं उसी प्रकार (अग्निः भवः) यह अग्नि रूप भव शान्त हो जाये और (नः परिवृणक्तु) हमें हिंसक जन्तुओं से बचाये रक्खे। (नः) हमें (अभिमांस्त) विनष्ट न करे (अस्मै नमः अस्तु) इस रुद्र देव को हमारा नमस्कार है।

इस मन्त्र में 'भव' से परिवर्जन की प्रार्थना की गई है। प्रश्न है परिवर्जन किससे? उत्तर है कि भव द्वारा उत्पन्न हिंसक जीव-जन्तुओं से। जिस प्रकार 'आपः' जल ग्रीष्म का परिताप शान्त कर मनुष्य-जीवन को बचाये रखते हैं उसी प्रकार यह अग्नि-रूप भव हमसे दूर रहे। जिससे हमारी रक्षा हो। 'भव' अग्नि रूप है, भव से उत्पन्न विषैले जीव-जन्तुओं का विष भी अग्नि-रूप होता है।

९. चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।।

हे (पशुपते) पशुओं के स्वामिन् (भवाय) प्राणियों के उत्पत्तिकारक आपको (चतुः) चार वार (अष्टकृत्वः) आठवार (दशकृत्वः) दसवार (नमः) नमस्कार हो। (तव) तेरे (इमे पंच पशवः) ये निम्न पाँच पशु (विभक्ताः) विभाग किये गये हैं (गावः) गौएं (अश्वाः) घोड़े (पुरुषाः) पुरुष (अजावयः) बकरी और भेडें।

१०. तम चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमातमन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु।।

हे (उग्र) उग्र व तीक्ष्ण स्वरूप! (चतस्रः प्रदिशः) चारों प्रकृष्ट दिशाएँ (तव) तेरी हैं (द्यौः तव) द्युलोक तेरा है (पृथिवी तव) पृथिवी तेरी है (इदं उरु अन्तरिक्षं) यह विस्तृत अन्तरिक्ष (तव) तेरा है। (इदं सर्वं) यह सब कुछ (आत्मन्वत्) तेरा आत्म रूप है। तुझ आत्मा वाला है (यत्) जो (पृथिवीमनु-प्राणत्) पृथिवी पर अनुप्राणित है वह सब (तव) तेरा है।

११. उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो
यन्त्वघरुदो विकेश्यः।

हे रुद्र! (अयं) यह (तव) तेरा (उरुः कोशः) महान् कोश खजाना (वसुधानः) ऐश्वर्य का निधान—ऐश्वर्य रखने का पिटारा है (यस्मिन्) जिसमें (इमा) ये (विश्वाभुवनानि) सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर (अन्तः) अन्तर्निहित हैं। (ते नमः) हम तुझे नमस्कार करते हैं (पशुपते) हे पशुओं के स्वामिन् तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर। (क्रोष्टारः) अपशकुन रूप गीदड़ तथा (अभिभाः) चहुं ओर दृष्टिगोचर होने वाले (श्वानः) कुत्ते (परः) हमसे दूर रहें और (अघरुदः) पाप का रोदन

करने वाली (विकेश्यः) बाल खोलकर भयंकर बनी स्त्रियाँ भी (परः) हमसे दूर रहें।

१२. **धनुर्बिर्भर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।**
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः॥

(शिखण्डिन्) शिखण्ड धारण करने वाले हे रुद्र! (हरितं) शत्रुनाशक (सहस्रघ्नि) सहस्रों का हनन करने वाले (शतवधं) सैकड़ों आयुधों वाले (हिरण्ययं) सुवर्ण समान कान्ति वाले (धनुः बिभर्षि) धनुष को धारण करते हो। (रुद्रस्य) रुद्र देव का (इषुः) बाण (देवहेतिः) देवों, प्राकृतिक शक्तियों के प्रहारों के रूप में (चरति) सदा चलता रहता है। (इतः) यहाँ से (यतमस्यां दिशि) जिस दिशा में भी वह बाण है (तस्यै नमः) उसे हमारा नमस्कार है।

हरितम्—हृञ् नाशने + इतन्, हृश्याभ्यामितन्, उणा. ३।९३ सहस्रघ्नि—सहस्र + हन् हिंसागत्योः, इ प्रत्ययः कित्। **शिखण्डिन्**—शिख गतौ, अण्डन् कित् तत इनिः। यद्वा शिखण्डो यस्यास्तीति।

१३. **योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति।**
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव॥

हे रुद्र! (यः) जो दुष्ट (अभियातः) तुझसे आक्रान्त हुआ, या हारा हुआ (निलयते) छिप जाता है और (त्वां) तुझको (निचिकीर्षति) नीचा करना चाहता है, तू (तं पश्चात्) उसका पीछा कर (विद्धस्य पदनीरिव) बाण से विद्ध घायल पशु के चरणचिह्नों के समान उसको (अनु प्रयुङ्क्षे) अन्वेषणकर दण्ड देता है।

निचिकीर्षति—नि + डुकृञ् करणे सन् यद्वा कृञ् हिंसायाम्।
पदनीः—पद + णीञ् प्रापणे, क्विप्।

१४. **भवा रुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।**
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः॥

(सयुजा) एकसाथ जुड़े हुए (संविदानौ) परस्पर मिले हुए यद्वा सम्यक् ज्ञान वाले (उग्रौ) उग्र स्वभाव वाले (भवारुद्रौ) भव और रुद्र ये दोनों (वीर्याय चरतः) अपना पराक्रम प्रकट करने के लिये सर्वत्र विचरते रहते हैं। (इतः यतमस्यां दिशि) यहाँ से जिस दिशा में भी वे हों (ताभ्यां नमः) उन्हें हमारा नमस्कार है।

संविदानौ—सम + विद्लृ लाभे, विद ज्ञाने वा।

**१५. नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ।।**

हे रुद्र ! (आयते ते नमः अस्तु) हमारी ओर आते हुए तुझको नमस्कार है (परायते नमः अस्तु) परे जाते हुए को तुझे नमस्कार है। (तिष्ठते ते नमः) खड़े हुए तुझको मेरा नमस्कार है (उत) और (आसीनाय ते नमः) बैठे हुए तुझे मेरा नमस्कार है।

**१६. नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ।।**

हे देवो ! तुम दोनों को (सायं नमः) सायंकाल नमस्कार है (प्रातः नमः) प्रातःकाल नमस्कार है। (रात्र्या नमः) रात्रि में तुम्हें नमस्कार है (दिवा नमः) दिन में नमस्कार है। (भवाय च शर्वाय च) भव रूप और शर्व रूप (उभाभ्यां) तुम दोनों के इन रूपों को (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूँ।

**१७. सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् ।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ।।**

मैंने (सहस्राक्षं) सहस्रों चक्षुशक्ति वाले (विपश्चितं) महा बुद्धिमान् (बहुधा अस्यन्तं) बहुत प्रकार से बाणों को फेंकते हुए (पुरस्तात्) अपने समक्ष (अतिपश्यम्) अतीन्द्रिय दृष्टि से देखा है। (जिह्वया ईयमानं) लपलपाती जिह्वा से सर्वत्र विचरते हुए रुद्र के (मा उप अराम) समीप में हम कभी न पहुंचे।

लेलिह्यसे। ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः गीता ११।३०

अतीन्द्रिय दृष्टि से ही रुद्र भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं यह अतिपश्यम् से स्पष्ट है।

**१८. श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् ।
पूर्वेप्र तीमो नमो अस्त्वस्मै ।।**

(श्यावाश्वं) दिन और रात्रि रूप अश्वों वाले (कृष्णं) आकर्षणशील (असितं) बन्धनरहित (मृणन्तं) कृमि-कीटादि व व्याधिजनक आसुरी शक्ति को मारते हुए (केशिनः) उस किरण रूप केशों वाले सूर्य के (भीमं रथं) भयंकर रथ को (पादयन्तं) गति देते हुए उस रुद्र के (पूर्वे) पूर्व दिग्भाग में स्थित हो हम (प्रतीमः) उसके प्रति जाते हैं और (अस्मै नमः अस्तु) उसे नमस्कार करते हैं।

श्यावाश्वम्—श्यावौ श्यामबभ्रुवर्णौ अश्वौ यस्य तं।

कृष्णम्—कृष आकर्षणे—नक्। असितम्—न+सितम्—षिञ् बन्धने क्तः।

मृणन्तम्—मृण् हिंसने—शतृ। काशिनः—केशी केशा रश्मयस्तैः तद्वान् भवति,

काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा । निरु० १२।२५

सूर्य-मण्डल में विराजमान भगवान् ही रुद्र है। वही सूर्य को गति देता है। पूर्वदिग्भाग प्रातःकाल की पूर्वाभिमुख सन्ध्या को बताता है। अथवा मस्तिष्क का अग्रभाग ललाट में ध्यान को केन्द्रित करने का निर्देश कर रहा है।

१६. मा नोऽभि स्त्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां विधूनु ॥

हे (पशुपते) पशुओं के स्वामिन्! (मत्यं) ज्ञानसाधक, सचेत करने वाले (देवहेतिं) देव-सम्बन्धी आयुध को (नः) हम पर (मा अभि स्राः) मत फेंको (नः) हम पर (मा क्रुधः) क्रोध मत कर (नमस्ते) तुझे हमारा नमस्कार है। (दिव्यां) दिव्य द्युतियुक्त (शाखां) शक्तिशालिनी आकाशीय शाखा रूप विद्युत् को (अस्मत् अन्यत्र) हमसे अन्यत्र स्थान पर (विधूनु) फेंक व चला।

स्राः—सृज् विसर्गे माङि लुङि रूपम्, सृजि दृशोर्झल्यमकिति पा० ६।१।५८
अमागमः वृद्धौ। झलो झलि, सिचो लोपः। बहुलं छन्दसि ७।३।६७
ईडभावः। हलङ्याभ्यो० ६।१।१८ सिलोपः, जलोपश्छान्दसः।स्राक्षीः।

मत्यम्—मतं ज्ञानं तस्य करणं भावः साधनं वा। मतजनहलात्० ४।४।६७

विधूनु—वि+धूञ् कम्पने।

शाखा—खे शेते इति शाखा। शक्नोतेर्वा शाखा। निरु० ६।६।४

दिव्य शाखा विद्युत् है। वह रुद्र भगवान् विद्युत् यान से सम्पत्ति का नाश व्यक्ति आदि की मृत्यु कर सबको सचेत कर रहा है पाप न करो।

२०. मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परिणो वृङ्ग्धि मा क्रुधः।
मा त्वया समरामहि ॥

हे रुद्र! (नः मा हिंसीः) हमारी हिंसा मत कर (नः अधि ब्रूहि) हमें शिक्षा दे, उपदेश दे (नः परि वृङ्ग्धि) हमें पाप व शत्रुओं से बचा (मा क्रुधः) हम पर क्रोध न कर (त्वया) तुझसे हम (मा समरामहि) युद्ध न करें अर्थात् तेरी शिक्षा के विपरीत न चलें।

'न अधि ब्रूहि' हमें उपदेश दे। इसमें कई यह संकेत पाते हैं कि रुद्र भगवान् प्रकट होकर उपदेश देते हैं।

२१. मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु।
अन्यत्रोग्र विवर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥

हे रुद्र (उग्र) तीक्ष्ण, कठोर रुद्र! (नः) हमारे (गोषु) गौओं (पुरुषेषु) पुरुषों (अजाविषु) भेड़-बकरियों पर (मा गृधः) लालच मत कर। तू (अन्यत्र

विवर्तय) अन्यत्र विचर (पियारूणां) हिंसकों की (प्रजां जहि) प्रजा को विनष्ट कर।

गृधः—गृधु अभिकांक्षायाम् माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेः अङादेशः।

पियारूणाम्—पीयति हिंसाकर्मा निघं० ४।२५ अंगि मदिमन्दिभ्य आरन् उणा० ३।१३४ अत्र बाहुलकात् पीयतेः आरु-प्रत्ययो ह्रस्वश्च।

वेद में हिंसकों, दुष्टों को मारने का विधान है।

२२. **यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति।**
अभि पूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥

(यस्य) जिस रुद्रदेव के (तक्मा) कष्टप्रद ज्वर (कासिका) खांसी (हेतिः) हथियार है, वे (वृषणः) बलवान् (अश्वस्य) घोड़े के (क्रन्द इव) हिनहिनाने के समान (एकं एति) किसी भी पुरुष पर आ पड़ते हैं (अभिपूर्वं) पूर्व पूर्व कर्मों के अनुसार अर्थात् यथाक्रम कर्मों का फल (निर्णयते) निर्णय करने वाले (अस्मै) इस रुद्र को (नमः अस्तु) हमारा नमस्कार हो।

ज्वर तथा खांसी आदि रोग बलवान् घोड़े के हिनहिनाने के समान शब्द करते हुए मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं इनको कोई विरला ही व्यक्ति रोक सकता है। क्योंकि यह रुद्रदेव कर्मों के अनुसार आगे-पीछे कर्मों का फल देता है। 'अभिपूर्व' का भाव कर्मों का क्रमानुसार दण्ड-विधान को बताता है। अथवा महामारी आदि रोग पहले किस देश में प्रचलित करना है और पीछे किस में इसका निर्णय रुद्र देव करते हैं।

तक्मा—तकि कृच्छ्रजीवने मनिन्। कासिका—कासृ शब्दकुत्सायाम् घञ्स्वार्थेकन् अ त इत्वम् ॥

२३. **योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून्।**
तस्मै नमो दशभिशक्वरीभिः ॥

(यः) जो रुद्र (अयज्वनः) यज्ञ न करने वाले (देवपीयून्) देवों, विद्वानों व सज्जनों के हिंसक दुष्ट पुरुषों को (प्रमृणन्) नष्ट करता हुआ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्टभितः) स्थिर रूप में (तिष्ठति) खड़ा है। (दशभिः शक्वरीभिः) दसों दिशाओं तथा शक्तिशाली आयुधों के साथ वर्तमान (तस्मै) उस रुद्र को (नमः) हमारा नमस्कार है।

शक्वरीभिः—शक्लृ शक्तौ—वनिप्, ङीप्रेफौ।

अयज्वा वे व्यक्ति हैं जो किसी भी प्रकार का श्रेष्ठ कर्म नहीं करते। सन्तों, विद्वानों व देवपुरुषों को यातना देते हैं, और उनकी हिंसा करते हैं। सब मनुष्यों को यह समझना चाहिये कि वह रुद्र देव अन्तरिक्ष में खड़ा सब कुछ देख रहा है।

२४. तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
तव यक्षं पशुपते अप्स्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे।

हे रुद्र ! (तुभ्यं) तेरे ही दण्ड-विधान को पूरा करने के लिये (आरण्याः) जंगल के (पशवः) पशु (मृगाः) हिरण आदि (वने हिताः) वन में निहित हैं। और (हंसाः) हंस (सुपर्णाः) उत्तम पंखों वाले (शकुनाः) अति शक्तिशाली (वयांसि) गरुड व गीध आदि पक्षी ये सब तेरे ही हैं। हे (पशुपते) पशुओं के स्वामिन् ! (तव) तेरा (यक्षं) अति पूजनीय रूप (अप्सु अन्तः) अन्तरिक्षस्थ जलों के अन्दर है (तुभ्यं वृधे) तेरी महिमा को बढ़ाने के लिये (दिव्या आपः क्षरन्ति) ये दिव्य आकाशीय जल बरसते हैं।

यक्षम्—यक्ष पूजायाम्—घञ्।

२५. शिशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि।
न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परिपश्यसि भूमिं
पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥

हे रुद्र ! (शिशुमाराः) घड़ियाल (अजगराः) अजगर (पुरीकयाः=पुरीषयाः) अपनी खोलरूपी पुरि में जा छिपने वाले कछुए आदि (जषाः=झषाः) महामत्स्य (मत्स्याः) सामान्य मत्स्य तथा (रजसाः) अन्य जलचर, इन सब विषैले प्राणियों को (येभ्यः अस्यसि) जिनके प्रति तू फैंकता है (न ते दूरं) वे तेरे से दूर नहीं हैं (न परिष्ठा अस्ति) और न कोई तेरे लिये बाधा व रुकावट है। हे भव ! तू (सद्यः) शीघ्र ही (सर्वान् भूमिं परिपश्यसि) भूमि पर विद्यमान सबको देख लेता है। और (पूर्वस्मात्) पूर्व समुद्र से (उत्तरस्मिन् समुद्रे) उत्तर समुद्र में विद्यमान दुष्ट को (हंसि) मार देता है।

ये अजगर महामत्स्य आदि उस रुद्र भगवान् के अस्त्र हैं।

अजगराः—अज+गॄ निगरणे—अच्, अजेन अजनेन श्वासबलेन गिरन्ति ये ते।

पुरीकयाः—अलीकादयश्च उणा० ४।२५ निपातनात् साधुः।

पुरीषं—जलं यान्ति गच्छन्ति ये ते।

जषाः—जष झष हिंसायाम्—घ प्रत्ययः।

रजसाः—'उदकं रज उच्यते' निरु० ४।१९ 'अर्श आद्यच्'।

२६. मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः संस्रा दिव्येनाग्निना।
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ॥

हे रुद्र ! (नः) हमें (तक्मना मा संस्राः) ज्वरादि कष्ट-कारक रोग से पीड़ित मत कर (विषेण मा) विष से मत मार (अस्मद् अन्यत्र एतां विद्युतं पातय) हमसे अन्य स्थान पर इस बिजली को गिरा (दिव्येन अग्निना) सूर्य-सम्बन्धी दिव्य अग्नि

से (नः) हमारा (मा संस्राः) संसर्ग मत करा।

'दिव्य अग्नि' से तात्पर्य सूर्य के होने वाले शिरोरोग (Sunstrock) आदि से है।

२७. **भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम्।**
तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः।

(भवः) प्राणिजगत् का उत्पादक यह रुद्र (दिवः ईशे) द्युलोक का स्वामी है (पृथिव्या ईशे) पृथिवी का स्वामी है और यही (उरु अन्तरिक्षं आ पप्रे) विस्तृत अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है। शेषं पूर्ववत्।

आ पप्रे—आ+प्रा पूरणे—लिटिरूपम् आत्मने पदं छान्दसम्।

२८. **भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।**
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड।।

हे (राजन्) सबके देदीप्यमान राजा भव! तू (यजमानाय) मुझ यजमान को (मृड) सुखी कर। तुम (पशूनां) पशुओं के (हि) निश्चय से (पशुपतिः बभूथ) पशुपति हुए हो (यः) जो पुरुष (श्रद्दधाति) इस बात पर श्रद्धा करता है कि (देवाः सन्ति इति) देवों की सत्ता है। (अस्य) ऐसे श्रद्धालु व्यक्ति के (द्विपदे चतुष्पदे मृड) दो पायों और चौपायों को (मृड) सुखी कर।

इस मन्त्र पर विशेष दृष्टिपात करना चाहिये। इस मन्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवों की सत्ता है। श्रद्धा देवों की सत्ता में है न कि केवल देवों में। यहां देवों से पृथिवी-वासी विद्वान् मनुष्य का तात्पर्य नहीं है क्योंकि उनकी सत्ता तो प्रत्यक्ष है ही और ना ही देव से सूर्य, चन्द्रमा आदि का ग्रहण करना है क्योंकि उनकी भी सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है। किसी की सत्ता में श्रद्धा करने का उपदेश व आदेश वहीं होता है जहां वह चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर न होता हो। अतः ये देव द्युलोक व अन्तरिक्ष आदि में सूक्ष्मशरीरधारी हैं। अन्यत्र कहा भी है '**दिवि देवा दिविश्रितः** देवता द्युलोक में उसके आश्रय से रहते हैं। अथर्व ११।७।२३—२७

२९. **मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः।**
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः।।

हे रुद्र! (नः महान्तं मा हिंसीः) हमारे महान् पूजनीय बुजुर्ग को मत मार (उत) और (नः अर्भकं मा) हमारे शिशु को भी मत मार (नः वहन्तं मा) हमारा वहन करने व भरण-पोषण करने वाले को मत मार (उत) और (नः वक्ष्यतः मा) भविष्य में हमारा भरण-पोषण करने वाले होनहार को भी मत मार (नः पितरं मा हिंसीः) हमारे पिता-माता की हिंसा मत कर। हे रुद्र! (नः स्वां तन्वं मा

रीरिषः) हमारे अपने शरीर को भी पीड़ित मत कर।

अर्भकम्—अर्भकपृथुक पाकावयसि उणा० ५।५३ ऋधु वृद्धौ वुन् धस्य भः। वालकम्।

वक्ष्यतः—वह प्रापणे लृटः सद्वा पा० ३।३।११४। लृट :स्य शतृ।

३०. **रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽ संसूक्तगिलेभ्यः।**
इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः॥

(रुद्रस्य) रुद्र देव के (ऐलवकारेभ्यः) निरन्तर भौंकने वाले (असंसूक्तगिलेभ्यः) अमंगल शब्द करने वाले (महास्येभ्यः) बड़े मुख वाले (श्वभ्यः) कुत्तों को दूर रखने के लिये (इदं नमः अकरम्) रुद्र देवता को हमारा नमस्कार है, या कुत्तों को ही अन्नादि देकर हम उन्हें नम्र बनाते हैं।

एलबकारेभ्यः—आङ्.+इल स्वप्नक्षेपणयोः—घञ्+वण शब्दे डः+करोते —अण्। आक्षेपध्वनिकारकेभ्यः। क्षेमकरणदास।
ऐलवानि प्रेरणयुक्तानि कर्माणि कुर्वन्ति ऐलवकाराः कर्मकराः प्रथम गणा इति सायणः।

असंसूक्तगिलेभ्यः—अ+सम्+सूक्त+गृ शब्दे—इलच्—सलिकल्य उणा० १।५३
असंसूक्तस्य अशुभवचनस्य भाषणशीलेभ्यः—क्षेमकरणदास।
अ—सं—सूक्त-गिलाः—असंसूक्तगिराः समीचीनं शोभनं सूक्तं वेदमन्त्रादिसद्भाषितं वा न गिरन्ति भाषन्ते इति
न संसूक्तेन गिलन्ति भक्षयन्ति इति ह्विटनी।

३१. **नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।**
नमो नमस्कृताभ्यो नमः सम्भुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देवसेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः॥

हे (देव) दिव्य स्वरूप (ते सेनाभ्यः नमः) तेरी सेनाओं के लिये नमस्कार है (ते घोषिणीभ्यः नमः) घोषणाएँ करने वाली अथवा भयंकर शब्द करने वाली तेरी सेनाओं को नमस्कार है। (ते केशिनीभ्यः) तेरी केशों वाली सेनाओं को नमस्कार है। (संभुञ्जतीभ्यः नमः) सम्यक् प्रकार से अन्नादि का भोग करती हुई सेनाओं को नमस्कार है।

अथर्व ११।६।९

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः ।
इषूर्या एषां संविद्मस्ता नः सन्तु सदा शिवाः ।।

(भवाशर्वौ) भव और शर्व (रुद्रं) रुद्र और (यः पशुपतिः च) जो पशुपति है रुद्र के इन सब स्वरूपों की हम (ब्रूमः) स्तुति करते हैं। और (याः एषां इषूः संविद्मः) जो इनके विषैले जीव-जन्तु आदि इनके बाण हैं उनको भी हम भली प्रकार जानते हैं। (ताः नः सदा शिवाः सन्तु) वे हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों।

इस मन्त्र में रुद्र के चार स्वरूपों का परिगणन किया गया है और इनके पृथक्-पृथक् बाण होते हैं, यह भी संकेत किया गया है।

पञ्चदश अध्याय

परिशिष्ट तथा उपसंहार

अनबूझ पहेली

यजुर्वेद-शाखासंहिताओं, शतपथादि ब्राह्मणग्रंथों के रुद्र-सम्बन्धी प्रकरणों पर एक सरसरी दृष्टि डालने पर हम असमंजस में रह जाते हैं कि इन प्रकरणों को एक सार्थक व वैज्ञानिक रूप कैसे दिया जाये ! उदाहरणार्थ कुछ प्रकरण इस प्रकार हैं—अभिचारकर्म, रुद्र का आह्वान, रुद्र की उत्तरदिशा को न देखना, रुद्र के आंसुओं से रजत की उत्पत्ति होने से याज्ञिक कर्म में दक्षिणा के अयोग्य, दरिद्र नीललोहित आदि नामों के ग्रहण मात्र से रुद्र का प्रसन्न हो जाना, अनन्त दूरी से भी रुद्र का प्रहार होना, रुद्र के आह्वान में रुद्र के आने पर शत्रु का निर्देश करना नहीं तो रुद्र आह्वानकर्ता को ही नष्ट कर देगा इत्यादि और भी कई विषय हैं जो कि सामान्य बुद्धि से परे की बातें हैं। इनका बुद्धिगम्य समाधान सम्भव नहीं है ये एक प्रकार की अनबूझ पहेली हैं। जब तक मनुष्य योगाभ्यास द्वारा सूक्ष्मजगत् में प्रवेश नहीं कर जाता, जब तक सूक्ष्मदृष्टि खुल नहीं जाती तब तक ये विषय अनबूझ पहेली ही बने रहेंगे। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि मन एक ऐसा अद्भुत चुम्बक है कि यह जिस लोक का जिस वस्तु का चिन्तन करने लगता है वह वस्तु, वह लोक, वह देव, दानव, ऋषि, मुनि आदि के साथ उसका सम्पर्क हो जाता है। उसके परमाणु उसकी ओर खिंचते हैं। किसी अभीष्ट वस्तु व देव आदि का चिन्तन, मनन व ध्यान करने से वह व्यक्ति तद्रूप तत्सम आदि हो जाता है। प्रबल संकल्पशक्ति वाला योगपरायण व्यक्ति दूसरे पर प्रभाव डाल सकता है। जैसा कि पातंजल योगदर्शन में "धार्मिको भूया धार्मिको भवति" प्रकरण में मन की शक्ति का दिग्दर्शन हुआ है। इसी भाँति प्राणबल भी प्रकृष्ट हो तो दिव्य व गुह्य रहस्यों का अनुभव व स्पष्टीकरण मनुष्य को हो सकता है। अतः हम यही कह सकते हैं कि वेदों के गुह्य रहस्यों को समझने व अनुभव करने के लिए योगसाधना परम सहायक है। रुद्र देवता पुस्तक में रुद्र के कार्य व स्वरूप आदि के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है वह अत्यल्प है अभी बहुत कुछ लिखने को शेष है और जो कुछ स्पष्टीकरण किया गया है वह भी अति संक्षिप्त है यदि पूर्ण स्पष्टीकरण करते हुए एक-एक विषय, एक-एक शब्द पर विस्तार से लिखा जाये

तो पुस्तक का कलेवर इससे तिगुना हो जायेगा इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

कृत्तिवासा—कृत्ति है वस्त्र जिसका ऐसा रुद्र भगवान्। कृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्त ५।४।६७ में इस प्रकार दी है—**"कृत्तिः कृन्ततेर्यशो वा अन्नं वा"** और निघण्टु ३।४ में यह पद गृह-नामों में पढ़ा गया है। अतः गृह, यश तथा अन्न ये कृत्ति पद के अर्थ हुए। ये अर्थ इन्द्र-सम्बन्धि-मन्त्र के प्रसंग में दिए हैं। रुद्र के प्रसंग में वहाँ आता है—**"कृत्तिरेतस्मादेव सूत्रमयी उपमार्थे वा"** अर्थात् दूसरी चर्म से निर्मित यह कृत्ति है (कृति छेदने) और यह सूत्रमयी है अथवा उपमार्थ में समझी जा सकती है। जिस प्रकार रुई को काट-छाँट कर सूत बनाया जाता है और फिर उससे वस्त्र का निर्माण होता है उसी प्रकार पशु-शरीर से चमड़ा काटकर ओढ़ने वा पहनने के वस्त्र बनाये जाते हैं जिन्हें वेद में 'कृत्ति' कहा है। रुद्र के लिए आता है—**"अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः"** तै० सं० १।८।६।२ अर्थात् वे रुद्र भगवान् जिसने धनुष ताना हुआ है और जिसके हाथ में पिनाक दण्ड है और कृत्ति वस्त्र पहने हुये है। इसी प्रकार एक और मन्त्र है—**"कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि"** यजु० १६।५१ हे रुद्र देव! कृत्ति अर्थात् चर्म-वस्त्र को ओढ़े हुए और पिनाक को धारण किए हुए तुम हमारी रक्षा के लिए आओ। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से मानव का अनिष्ट करने वाले शत्रु आदि को विनष्ट करने के लिए कहा गया है।

कई विद्वान् कृत्ति का अर्थ व्याघ्र-चर्म करते हैं। (निरुक्तसम्मर्श—स्वामी ब्रह्ममुनि) परन्तु कई दूसरे विद्वान् कृत्ति से गज-चर्म का ग्रहण करते हैं। शिव-पुराण में कृत्तिवासा से गज-चर्म ओढ़े हुए महादेव का ग्रहण किया गया है। तत्सम्बन्ध में शिवपुराणान्तर्गत रुद्रसंहिता अध्याय ५७ में महिषासुर-पुत्र गजासुर का एक आख्यान दे रखा है। यह गजासुर ब्रह्मा जी द्वारा वर प्रदान से कामविजयी बना था और वर से उसे यह शक्ति प्राप्त हुई थी कि काम के वशीभूत किसी भी स्त्री या पुरुष के हाथ से वह नहीं मरेगा। त्रिशूलधारी महादेव के त्रिशूल से वह मृत्यु को प्राप्त हुआ था किस लिये ? कि उस गजासुर की कृत्ति को महादेव धारण कर। त्रिशूल क्या है यह हमने 'विष्णु देवता' पुस्तक में स्पष्ट किया है और महादेव का त्र्यम्बक नाम भी काम-विजय को सूचित करता है। यहाँ गज-चर्म काम-वासना को दूर करने का प्रतीक है। जिस प्रकार गज-चर्म अति स्थूल होता है, दृढ़ होता है, अस्त्र-शस्त्रों का उस पर विशेष प्रभाव नहीं होता इसी प्रकार महादेव जी ने जो गज-चर्म को अधोवस्त्र के रूप में धारण किया है वह कामदेव के बाण को दूर रखने के लिये है। त्र्यम्बक-त्रिनेत्र की जो एकरूपता है वही त्रिशूल का रूप धारण करता है जिससे शरीर में सुगन्धी पैदा होती है—**"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्"**। गजासुर ने भी रुद्र से यही कहा था कि प्रभो! मैं पुण्य-गन्धों की निधि हूं। इस प्रकार जो व्यक्ति काम-वासना से नितान्त दूर होता है

उनमें एक दिव्य सुगंध उत्पन्न हो जाता है। इसी गज-चर्म को धारण करने से महादेव जी कृत्तिवासा नाम से विख्यात हुए, यह शिवपुराण में लिखा है। इसी प्रकार त्रिनेत्रों का एक बिन्दु पर मिलन ही काम के लिए त्रिशूल का काम करता है। गजासुर को त्रिशूल से गोदने का रहस्य यह भी है कि गजासुर के काम-विजयी होते हुए भी जो उसमें आसुरी भाव था महादेव ने उसे त्रिशूल से नष्ट किया था। श० प० २।६।२।१७ में आता है—**"कृत्तिवासा इति निष्वापयत्वेवैनमेतत् स्वपन्नु हि न कञ्चलहिनस्ति तस्मादाह कृत्तिवासा इति"** अर्थात् इसे सुलाता है क्योंकि प्रसुप्त काम किसी की हिंसा नहीं कर सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि कृत्तिवासा का सोने से क्या सम्बन्ध है? इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि शिश्न व उपस्थ में जो काम-वासना होती है उसे अति स्थूल गज-चर्म से ढककर सुला दिया जाता है। गज-चर्म प्रतीकात्मक है, काम-वासना पूर्ण रूप से विनष्ट तो नहीं होती उसकी उग्रता समाप्त कर उसे निष्क्रिय किया जा सकता है। इस प्रकार गज-चर्म अति स्थूल व दृढ़ होने से काम का आविर्भाव नहीं हो पाता, यह एक प्रकार का प्रतीकात्मक रहस्य है।

दरिद्रता में योग

दरिद्र—रुद्र का एक नाम दरिद्र भी है। रुद्र संहार करने वाला देवता है, वह सब कुछ विनष्ट कर देता है अतः यह स्वाभाविक है कि वह स्वयं दरिद्र हो। दरिद्र नाम लेने से वह प्रसन्न हो जाता है ऐसा याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।२४ में आता है कि **"दरिद्र नीललोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च नामग्राहमेवैनमेतत् प्रीणाति"** अर्थात् दरिद्र नीललोहित आदि रुद्र के नाम हैं और ये उसके स्वरूप भी हैं। इन नामों के लेने मात्र से ही रुद्र प्रसन्न हो जाता है। भगवान् रुद्र अर्थात् शिव को पुराणादि ग्रंथों में महान् योगेश्वर तथा योगमार्गों का प्रणेता माना जाता है। उनका यह कथन उचित ही है क्योंकि योग की उपलब्धि दरिद्रता में ही होती है जो व्यक्ति धन-सम्पन्न है भोगैश्वर्यों की प्राप्ति में सदा संलग्न रहता है वह योग नहीं कर सकता। योग के लिए सर्वस्व त्याग करना पड़ता है। यदि धन-ऐश्वर्य आदि हैं तो त्यागपूर्वक अनासक्त रहने पर ही योग-मार्ग पर समारूढ़ हो सकता है पर है यह बहुत दुष्कर कार्य। इसलिए दरिद्रता में योग आसानी से सुलभ हो सकता है।

कपर्दी—रुद्र कपर्दी अर्थात् जटाजूटधारी है। हिमालय पर्वत के अन्तर्गत रुद्राग्नि की पर्वत-शृंखलाएँ जटाजूट हैं। आदित्य रूपी रुद्र की ये अनन्त किरण-समूह जटाजूट हैं इसलिए आदित्य भी कपर्दी है। मानव-मस्तिष्क से चहुँ ओर प्रसृत होने वाली नस-नाड़ियाँ भी जटाजूट हैं इसलिए ये सब कपर्दी हैं।

गिरिश गिरिशन्त

परब्रह्म परमपिता परमात्मा जब सृष्टि का सर्जन करता है तो उसकी प्रजापति संज्ञा हो जाती है। प्रजापति के मन्यु (क्रोध) को शास्त्रों में रुद्र कहा गया है क्योंकि प्रजापति सर्वव्यापक, सबमें ओतप्रोत है। कहा भी है—**"प्रजापते नं त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव"** अतः प्रजापति के समान उसका मन्युरूप रुद्र भी सर्वत्र ओतप्रोत है। जब मन्युरूप रुद्र भी सर्वत्र ओतप्रोत है, सर्वव्यापक है तो रुद्र की उत्तर दिशा क्यों मानी गई है ? इसका एक हेतु है और वह यह कि हम पृथिवी-वासियों के लिए रुद्र का प्रकोप उत्तर दिशा से विशेष रूप में आता है। उत्तरदिशा में पर्वत हैं, हिमालय जैसा सर्वोच्च पहाड़ है जिस पर रुद्र का निवास है। इसी दृष्टि से उसे वेद में गिरिश, गिरिशन्त आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। पर्वत पर रुद्र का निवास प्राकृतिक दृष्टि से है। सृष्टिनिर्माण के अवसर पर जब यह पृथिवी एक आग का गोला था पृथिवी के जिस स्थान पर अग्नि ने रौद्र रूप धारण किया उस स्थान का द्रव भाग ऊपर को उफन गया। उफान में ऊँचे पहुँचे हुए ये पार्थिव भाग पर्वत कहलाये। गिरिश (गॄ निगरणे) शब्द भी उद्गिरण, उगलना आदि को बताता है। पर्वतों के अन्दर अब भी रौद्राग्नि की सत्ता है जिससे ये पर्वत ऊपर ही थमे हुए हैं। यह रुद्राग्नि ही शिव, शंकर आदि नामों से भी सामान्य जन में प्रचलित है। हिमालय की पर्वत-शृंखलाएँ शंकर भगवान् के जटाजूट हैं। यह रुद्राग्नि और अधिक न भड़के इसके लिए आकाश से सुरनदी देवगंगा रात-दिन सर्वोच्च शिखरों पर पड़ती रहती है। बर्फ की मोटी-मोटी तहें इस रुद्र को शान्त रखती हैं। इसी की प्रतिकृति के रूप में शिवमूर्ति पर जल चढ़ाया जाता है और शिवरात्रि के विशेष पर्व पर कांवड़िये शिवमन्दिर में गंगा जल चढ़ाते हैं। शिव को योग का प्रवर्तक भी माना जाता है। प्राचीनकाल से ही ऋषि-मुनि योग-प्राप्ति के लिए हिमालय की कन्दराओं में निवास करते आये हैं। इसी दृष्टि से शिव को योग का प्रवर्तक व योगेश्वर माना जाता है। हिमालयादि पर्वतपरिधि में सीमित प्रजापति-सम्बन्धी रौद्र चेतना ही शिव है जिसे कि रुद्र व शिव रूप में दर्शाया (Personify) गया है। योगाभ्यास के लिए पर्वत-शिखरों को विशेष स्थान दिया गया है। यथा—**"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत"** पर्वतों के शिखर पर तथा नदियों के संगम पर विप्र धी से उत्पन्न होता है। धी अर्थात् बुद्धि में ही तो उस परम प्रभु का साक्षात्कार होता है क्योंकि **"बुद्धेः परतस्तु सः"** बुद्धि से परे वह साक्षात् भगवान् ही विराजमान है।

नीलशिखण्डवाहनः

यह रुद्र का नाम है। नीलशिखण्डवाहनः में नीलशब्द नीले वर्ण के माध्यम से तमोगुण का द्योतक है और शिखण्ड रजोगुण का। शिखण्ड का अर्थ है—मोर की

पूँछ जो कि रंगबिरंगी होती है। रजोगुणी व्यक्ति संसार के नानाविध रंगबिरंगों को चाहता है (प्रो० विश्वनाथ कृत अथर्ववेदभाष्य)। तमोगुण तथा रजोगुण का वहन करने वाला रुद्र भगवान् है। **यद्वा नीलां नीलवर्णामग्निशिखां डाययति** (डीङ् विहायसा गतौ) **नभो मण्डले यः स रजोगुणः तस्य वाहनः रुद्रः।** रुद्र अग्नि का प्रचण्ड रूप है यह अग्नि जब नीले रंग की ज्वाला देने लगती है और आकाश की ओर फैलती है तो यह तम और रजोगुण का सम्मिलित रूप होता है। क्योंकि सत्त्व और तम दोनों निष्क्रिय हैं गतिरहित हैं। इनमें गति का होना रजोगुण के कारण ही होता है। वह परब्रह्म परमात्मा स्वयं त्रिगुणातीत है, वह जिस-जिस गुण से सम्पर्क करता है वह-वह गुण सक्रिय व प्रभावी हो जाता है। वह प्रभु जब सत्त्व का वाहन बनता है तब उसे विष्णु कहते हैं और जब तम संभिन्न रज से सम्पर्क करता है तब वह रुद्र कहलाता है। इसी को नीललोहित शब्द से भी कहा गया है। नील तम का द्योतक है और लोहित रज का।

ज्वरादि रोगकारक तथा रोगविनाशक रुद्र

रुद्र के उपरोक्त दोनों रूप हैं। वह रोगकारक भी है तथा रोगों का शमन करने वाला भी है। रुद्र का रोगकारक रूप उसका घोर रूप है तथा रोगों का शमन करने वाले रुद्र को शिव व भिषक् करके कहा गया है। शरीर में विद्यमान यह अग्नि जब आवश्यकता से अधिक प्रवृद्ध हो जाती है तब यह नानाविध रोगों को पैदा करती है और जब यह शरीर व शरीरांगों के लिए पोषण व संशोधन आदि का कार्य करती है तब यह भिषक् है, शिव है। आयुर्वेद-ग्रंथों में आता है कि आठ प्रकार का ज्वर रुद्राग्नि के प्रकोप से पैदा होता है।

श्लोक है—

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भवः। ज्वरोऽष्टधा विज्ञेयः।।

अर्थात् दक्ष = शरीर बल का जब अपमान = मान बिगड़ जाता है तब उदर में विद्यमान रुद्राग्नि भड़क उठती है। उसके भड़कने से जो निःश्वास अर्थात् बुखारात पैदा होते हैं उससे ज्वर पैदा हो जाता है जो कि वैद्यप्रवरों ने आठ प्रकार का माना है। चरकसंहिता ज्वर-निदानाध्याय १।३५ में आता है—**"ज्वरस्तु खालु महेश्वरप्रकोपप्रभवः सर्वप्राणभृतां प्राणहरो देहेन्द्रियमनस्तापकरः प्रज्ञाबलवर्णहर्षोत्साहह्लासकरः श्रमक्लममोहाहारोपरोधसंजननः ज्वरयति शरीराणीति ज्वरः।।** ज्वर महेश्वर के कोप से उत्पन्न हुआ है। सभी प्राणियों के प्राणों का हरने वाला शरीर, इन्द्रिय तथा मन में ताप उत्पन्न करनेवाला बुद्धि, बल, वर्ण, हर्ष और उत्साह का ह्रास करनेवाला श्रम-क्लम (बिना परिश्रम के थकावट) और मोह को उत्पन्न करनेवाला, भोजन में अरुचि करनेवाला तथा शरीर में ताप उत्पन्न करनेवाला यह ज्वर है। वहाँ आगे भी कहा है

कि ज्वर रोगों का राजा है और दुश्चिकित्स्य है । चौखम्भा संस्कृत संस्थान द्वारा प्रकाशित चरकसंहिता की विद्योतिनी हिन्दी व्याख्या में पालकाप्यसंहिता का उद्धरण देते हुए दर्शाया है कि ज्वर हाथी, घोड़े, गौ आदि पशुओं, मृगों, पक्षियों, जलचरों, कीट-पतंगों, वृक्ष, वनौषधि आदि सभी जीवों तथा जल, भूमि, आदि प्राकृतिक तत्त्वों में सभी में होता है। देव और मनुष्यों में तो यह ज्वर चिकित्सा से जाता रहता है पर अन्यों में ज्वर उनके नाश का कारण बनता है। कहा भी है **"ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तुतम्"** सु० उ० अ० ३९) इस ज्वर प्रकरण के देने का तात्पर्य यह है कि रुद्र भगवान् की सर्वत्र सत्ता है, उसका प्रकोप स्थावर, जंगमप्राणियों तथा अप्राणियों सब पर पड़ता है। इस दृष्टि से यजुर्वेद १६ वें अध्याय में नदी, नालों, वृक्षों, गड्ढों आदि को जो नमस्कार किया गया है वह तत्रस्थ रुद्र देवता को नमस्कार है। वैसे तो रुद्र भगवान् ब्रह्माण्डव्यापी हैं, सकल ब्रह्माण्ड को ही नमस्कार करना चाहिए पर रुद्राध्याय में कुछ थोड़े बहुत रुद्र परिगणित हुए हैं वे इस दृष्टि से किए हैं कि मनुष्य पृथिवी का प्राणी है उस पर जो रुद्र प्रभाव डाल सकते हैं वे प्रायः अधिकतर पृथिवी के हैं वहाँ अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ रुद्रों को भी नमस्कार किया गया है और फिर जो रुद्र परिगणित हुए हैं उनमें प्रायः रुद्र-कोप उजागर रहता है। सतत रूप में प्रकट हो रहा होता है।

रुद्र भिषक्—जहाँ रुद्र ज्वरादि रोगों को उत्पन्न करनेवाला है वहाँ उनका शमन करनेवाला भी वही है। इसलिए वेदों में अनेक स्थलों पर रुद्र को भिषक् भी कहा गया है। ऋ० २।३३।४ में आता है कि **"भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि"** अर्थात् हे रुद्र ! मैं आपको चिकित्सकों में सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक सुनता हूँ। कैसे अद्भुत तथा विरोधी रूप हैं रुद्र के, दोनों रूप एक-दूसरे के विरोधी हैं। पर ये दोनों रुद्र भगवान् में साथ-साथ रहते हैं। रुद्र द्वारा प्रदत्त औषधियों से सौ वर्ष की आयु मनुष्य प्राप्त कर सकता है। कहा भी है **"त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः" शतं हिमा अशीय भेषजेभिः"** ऋ० २।३३।२ हे रुद्र ! तुझ द्वारा प्रदत्त शान्ति-प्रद व कल्याणकारी औषधियों से हम सौ वर्ष की आयु प्राप्त करें। रुद्र पीयूषपाणि हैं। वैद्यों के मूर्धास्थानी हैं। रुद्र भगवान् से दीर्घायुष्य प्राप्त करना हो तो हमें चाहिए कि जिन बातों व आचरणों से वे प्रकुपित होते हैं उन्हें हम छोड़ दें। आगे भी कहा है **"क्वस्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः"** ऋ० २।३३।७ हे रुद्र ! जल-सदृश औषधवाला सुखशान्ति देनेवाला हाथ कहाँ है ? कृपा कर उस सुखकारी हाथ से हमें स्पर्श कर। इस प्रकार रुद्र भगवान् परम वैद्य हैं, तत् सदृश ही मनुष्य-वैद्य को होना चाहिए, यह शिक्षा मिलती है। यजुर्वेद १६।४१ में रुद्र भगवान् को शिव, शिवतर, शम्भु, शंकर आदि नामों से स्मरण किया है जो कि रुद्र के भिषक्तम रूप को दर्शाते हैं। इस सम्बन्ध में हम यह अन्यत्र दर्शा ही चुके हैं कि रुद्र-रुद्र ही है। रुलाने वाला जब मानव-विरोधी शक्तियों को रुलाता है तो

मानव का कल्याण हो जाता है। इसलिए वह शिव, शंकर आदि नामों से व्यवहृत होता है।

रुद्र के अस्त्रशस्त्र

रुद्र भगवान् के अस्त्र-शस्त्र स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम, चेतन-अचेतन सभी प्रकार के होते हैं। तक्मा आदि रोग, रोगकीटाणु, मच्छर, मक्खी, सर्प, बिच्छु, व्याघ्रादि हिंसक प्राणी, विद्युत् दिव्याग्नि, झंझावात, घनघोर वृष्टि, प्रचण्डताप, नानाविध विष, एवं आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक आदि तापत्रय, के हेतुभूत सभी स्थूल सूक्ष्माधि व्याधि हिंसक साधन रुद्र के अस्त्र-शस्त्र हो सकते हैं और होते हैं। कई अस्त्र-शस्त्र दुर्निरीक्ष्य भी होते हैं। वाल्मीकि रामायण सुन्दर काण्ड ५६।६, १० में आता है कि—

ब्राह्ममस्त्रं च रौद्रं च वायव्यं वारुणं तथा।
यदि शक्रजितोऽस्त्राणि दुर्निरीक्ष्याणि संयुगे ।।

युद्ध में शक्रजित् के ब्राह्म, रौद्र, वायव्य तथा वारुण आदि अस्त्र दुर्निरीक्ष्य अर्थात् दृष्टिगोचर नहीं होते। ये देवास्त्र मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित होते थे। यह तथ्य वाल्मीकि रामायण सुन्दर काण्ड ३८।२६-३० में निम्न प्रकार दर्शाया है। वहाँ आता है कि जब एक कौआ सीता को बार-बार ठोंग मारकर तंग कर रहा था तब श्रीराम ने एक तिनके को ब्रह्मास्त्र बनाया था। यथा—

स दर्भसंस्तराद् गृह्य ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत्।
स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम् ।।
स तं प्रदीप्तं चिक्षिपे दर्भं तं वायसं प्रति।
ततस्तु वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽनुजगाम ह ।।

वाल्मीकि सुन्दर० ३८।२६-३०

श्रीराम ने कुशासन से एक तिनका निकाला और उसे ब्रह्मास्त्र सम्बन्धी मन्त्र से अभिमन्त्रित करते ही वह कालाग्नि के समान प्रज्वलित हो उठा और उस प्रज्वलित कुश को श्री राम ने पक्षी को लक्ष्य कर छोड़ दिया फिर तो वह आकाश में मिसाईल की तरह पक्षी का पीछा करने लगा। क्योंकि वह इन्द्र का पुत्र था जोकि कौए का रूप धरकर आया था इसलिए उसकी गति वायुवेग के समान थी। कहा भी है—**"धरान्तरं गतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः"** सुन्दर० ३८।२७ इसी प्रकार रावण-पुत्र इन्द्रजित् ने जब ब्रह्मास्त्र से हनुमान् को पाशबद्ध किया थाउस समय भी इन्द्रजित् ने ब्रह्मास्त्र को अभिमन्त्रित किया था। वहाँ आता है **"ततः स्वायम्भुवैर्मन्त्रैर्ब्रह्मास्त्रं चाभिमन्त्रितम्"** सुन्दर० ४८।४० ब्रह्मास्त्रबद्ध हनुमान् को जब अज्ञानी राक्षसों ने वल्कल से बांधा तब हनुमान् ब्रह्मास्त्र के बन्धन से छूट गया, क्योंकि जब किसी को ब्रह्मास्त्र से बाँधा जाता है तब और कोई बन्धन नहीं

होना चाहिये इससे ब्रह्मास्त्र का प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसी तथ्य को इन्द्रजित् कहता है—

स बद्धस्तेन वल्केन विमुक्तोऽस्त्रेण वीर्यवान्।
अस्त्रबन्धः सचान्यं हि न बन्धमनुवर्तते।।
अहो महत् कर्म कृतं निरर्थं न राक्षसैर्मन्त्रगतिर्विमृष्टा।
पुनश्च नास्त्रे विहतेऽस्त्रमन्यत् प्रवर्तते संशयिताः स्म सर्वे।।

सुन्दर० ४८।४८।५०

अहो ! राक्षसों ने मेरे द्वारा किया हुआ यह महान् कार्य व्यर्थ कर दिया। इन्होंने मन्त्रगति पर विचार नहीं किया। यह अस्त्र जब एकबार व्यर्थ हो जाता है तब पुनः दूसरी बार इसका प्रयोग नहीं हो सकता। इससे हम सब संशय में पड़ गये हैं।

कई उपरोक्त वार्ता को पौराणिक कहकर असम्भव बतायेंगे। पर हमारे विचार में असम्भव कुछ नहीं है। पहिले तो आकाश में पक्षियों के समान उड़ने को असम्भव बताते थे पर ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक उन्नति होती गई त्यों-त्यों असम्भव बातें भी सम्भव होती गईं। क्या आकाश में अतिदूर उड़ते हुए स्तपुनिक आदि को पृथिवी से आदेश नहीं दिये जाते ? क्या मिसाइलें चेतन की तरह शत्रु-विमान का पीछा नहीं करतीं ? एटम बम, उद्जन बम, नाइट्रोजन बम, लेसर किरणें, हिमखण्डों को पिघलाकर जल-प्रलय करना, कार्बनडाईआक्साईड की मात्रा बढ़ाकर शत्रुदेश का सर्वनाश कर देना, सूर्य की रेडियोधर्मी परावैंगनी किरणें, अतिवृष्टि, अनावृष्टि कर देना, जीवाणु-युद्ध, कृषि-विनाश, कृत्रिम भूकम्प आदि पैदा कर देना, प्रलयकारी आधुनिक विमानों व शस्त्रास्त्रों का निर्माण मनुष्य कर रहा है। वैज्ञानिक उन्नति की अभी अन्तिम सीमा तो नहीं आयी है। आध्यात्मिक शक्ति तो भौतिक शक्ति से बहुत अधिक होती है। जब ब्रह्मपाश अन्य भौतिक पाश से शान्त हो जाता है तो रुद्र के अस्त्र-शस्त्र भी उनके प्रति नमन करने से शान्त हो जाते हैं रुद्र के प्रति नमः का यही रहस्य है।

गंगावतरण और रुद्र

आख्यानप्रिय आचार्यों व ऋषि-मुनियों ने गंगावतरण रूपी प्राकृतिक घटना को आख्यान रूप में वर्णित किया है जिसका सार यह है कि आकाशगंगा का जब पृथिवी पर अवतरण हुआ तो रुद्र भगवान् ने उसे अपने मस्तिष्क में धारण किया तदनन्तर वह गंगा महादेव के जटाजूट में समा गई। यह एक प्राकृतिक घटना का आलंकारिक वर्णन है। अब हम संक्षेप में इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

यजुर्वेद का मैत्रायणी संहिता में एक मन्त्र आता है जो कि निम्न प्रकार है—

"तद्गांगौच्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्।"

गांग प्रदेश की ऊँचाई पर रहने वाले महादेव को हम जानें और प्राप्त करें तथा पर्वत-पुत्र देव का हम ध्यान करें। यह गौरी अर्थात् पार्वती हमें इस कार्य में प्रेरित करे।

मन्त्र का यह सामान्य अर्थ है। मन्त्र में महादेव को गांगौच्य नाम से सम्बोधित किया गया है। गांगौच्य की निष्पत्ति इस प्रकार की जाती है—**गंगायाः प्रदेशः गांगः तस्य उच्चं तत्र भवः।** अर्थात् गंगा का जो ऊँचा प्रदेश है जिसे गंगोत्री कहा जाता है वह गांग है उस गांग प्रदेश के उच्च शिखर पर रहने वाला महादेव। मोनियर विलियम्स ने अपने कोष में औच्यम् का अर्थ Heights किया है पर उच्च का अर्थ Heights है। उस Heights=शिखरों पर रहने वाला महादेव औच्य है। वेद में रुद्र को गिरिश, गिरिशन्त, गिरित्र आदि नामों से स्मरण किया गया है। जिनका सामान्य अर्थ है—जो रुद्र पर्वतों पर शयन करता है अर्थात् पर्वत उसके निवास स्थान हैं। 'गिरित्र' का अर्थ है कि जो पर्वतों की रक्षा करता है। स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में लिखा है—**"यो गिरिषु पर्वतेषु मेघेषु वा शेते तत्सम्बुद्धौ"** अर्थात् जो पर्वतों पर शयन करता है और जो आकाश में मेघों में भी रहता है। पुराणादि ग्रन्थों में तो रुद्र भगवान् को कैलासवासी माना गया है इसी कारण सायणाचार्य आदि मध्यकालीन वेद-भाष्यकार रुद्र भगवान् का निवास स्थान हिमालय पर मानते हैं अतः हमारी दृष्टि में इसका निष्कर्ष यह है कि जगत् में सर्वत्र अभिव्याप्त भगवान् का रुद्र रूप (ऋ० ६।४७।१०। अथर्व ७।६२।१, २।१०) पृथिवी पर अन्य स्थानों की अपेक्षा पर्वत-शिखर पर अधिक सक्रिय, व प्रकट रहता है। पर्वत पर सक्रिय होना, या प्रकट होना वेद के शब्दों में पर्वत का पुत्र (गिरिसुत) बनना है। इसी भांति सर्वत्र व्यापक भगवान् के अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र व सोम आदि सभी शक्तियों की अपनी-अपनी दिशाएँ व स्थान आदि वेदों में दर्शाये गये हैं।

पर्वतवासी रुद्र का वैज्ञानिक विश्लेषण

वेदादि शास्त्रों में रुद्र को अग्नि का ही एक प्रवृद्ध रूप बतलाया गया है। यथा—**"अग्निर्वै रुद्रः"** श० प० ५।२।४।१३, ३।१।१०, तां० ब्रा० १२।४।२४। जिस समय सृष्टि का निर्माण आरम्भ होता है उस समय त्रिगुणात्मक प्रकृति में एक प्रकार का संक्षोभ व गति प्रारम्भ हो जाती है। सत्त्व, रज, तम आदि त्रिगुणों के परस्पर संघर्ष व टकराव की स्थिति बन जाती है। यह सब संघर्ष व गति जिस अग्नि के प्रभाव से पैदा हो जाती है वह अग्नि रुद्र है। प्रारम्भ में एक हिरण्मय उबलता अण्डा बनता है जिसे कि वैदिक साहित्य व मनुस्मृति में हिरण्यगर्भ, महदण्ड आदि नामों से कहा गया है। इसी महदण्ड से सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र आदि अनन्त पिण्ड पृथक्-पृथक् होने लगते हैं। यह हमारी पृथिवी भी पृथक्

होकर एक उबलते अण्डे के समान थी। जिस प्रकार अग्नि के प्रभाव से दूध उफनता है और वह ऊपर उठता है उसी प्रकार इस द्रव रूप पृथिवी में अग्नि के प्रभाव से कई स्थानों पर उफान हुआ पृथिवी के ये उफने हुए प्रदेश ही पर्वत-शिखर हैं। दूध तो उफनकर फैल जाता है पर ये हिमालय आदि पर्वतों के शिखर जिस अग्नि के प्रभाव से सदा ऊपर उठे हुए रहते हैं वह अग्नि रुद्र है। अगर इन पर्वतशिखरों पर वर्षा न पड़े, बर्फ न गिरे, घनीभूत अति विशाल हिमखण्ड यदि न जमें तो यह अग्नि भड़ककर ज्वालामुखी रूप में फूट पड़े। ये सहस्रों पर्वत-शिखर तथा सैकड़ों घाटियां महादेव के जटाजूट हैं जिसके कारण उसे कपर्दी कहा जाता है। शिवालिक पर्वतमालाएँ उस रुद्राग्नि की अलकें हैं। साँप, बिच्छु, अजगर आदि विषैले जीव-जन्तु शिव जी के कण्ठाभरण हैं। शुभ वर्ण वाली बर्फ की जो आभा है वही गौरी अर्थात् गौर वर्णवाली पार्वती है। यह गौरवर्णा आभा सनातन काल से ऋषि-मुनियों को प्रेरित करती रही है कि आओ, मेरी कन्दराओं में बैठकर ध्यान करो, समाधि-लाभ करो, इससे तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी। इसी दृष्टि से शिव को आदि-योगप्रवर्तक माना गया है।

वेद का मन्त्र है—

"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ।।"

पर्वतों के शिखर पर तथा नदियों के संगम पर रहकर विप्र बुद्धि से पैदा होता है। इसी कारण ऋषि-मुनियों के आश्रम पर्वतों पर तथा नदियों के किनारे होते थे। इसी दृष्टि से स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना काँगड़ी ग्राम के पार्श्व में प्रवाहित होती हुई गंगा धारा के तटपर की थी। इस प्रकार रुद्र का वास्तविक स्वरूप तथा उसके मस्तिष्क पर आकाश से अवतरित गंगा का वास्तविक रहस्य हमने अति संक्षेप से यहाँ दर्शाया है।

रुद्र हरिकेश है

रुद्र को वेदों में हरिकेश कहा गया है अर्थात् रुद्र के केश हरित वर्ण के हैं। पर्वत-शिखरों पर हरित वर्ण के ये वृक्ष-वनस्पतियाँ आदि उस पर्वतवासी महादेव के केशों के तुल्य हैं। इनके केश भारतवासी दनादन काट रहे हैं और बहुत कुछ काटे जा चुके हैं। एक प्रकार से रुद्र भगवान् को गंजा बना दिया गया है। इसी कारण यह आकाशगंगा पृथिवी पर अवतरित होने से डरती है जिससे अनावृष्टि की स्थिति पैदा हो जाती है। यदि अवतरित भी होती है तो अतिवृष्टि रूप में पहाड़ों को तोड़ती-फोड़ती प्रलयंकर का रूप धारण कर महाविनाश का कारण बनती है। **"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु"** की स्थिति नहीं बन पाती। यह रुद्र भगवान् उत्तर दिशा का अधिपति है। होना तो यह चाहिए कि उत्तर दिशा की औषधियाँ रुद्राग्नि के कारण आग्नेय हों पर ऐसा नहीं है उत्तर दिशा की औषधियाँ शास्त्रों

में सौम्य मानी गयी हैं और दक्षिण दिशा की औषधियाँ आग्नेय मानी गयी हैं। जब हिमालय पर वर्षा होती है तो वह जलधारा नाना वृक्ष, वनस्पतियों व लता-कुञ्जों में से होती हुई उनमें विद्यमान सोम को अपनी धारा में सम्मिलित कर पृथिवी पर फैलती है और सोम से भरपूर पानी को पृथिवी के वृक्ष, वनस्पतियों तथा सस्यादि धान्यों को पिलाती है जिससे ये सब वृक्ष, वनस्पतियाँ सर्वगुण-सम्पन्न व परिपुष्ट होती हैं। इसी दृष्टि से भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं कि **"पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः"** अर्थात् मैं रस-रूप सोम होकर सब औषधियों को परिपुष्ट करता हूँ। जब पर्वतों के जंगल के जंगल कट गये तो जलधाराओं में सोम आवे कहाँ से ? अब तो हालत यह है कि शहरों, बस्तियों के मलमूत्र, कूड़ाकरकट, कारखानों के विषाक्त द्रव आदि गंगा आदि नदियों में भरे पड़े हैं।

रुद्र देवता पुस्तक पर सम्मतियाँ

पं० भगवद्दत्त वेदालंकार का "रुद्र देवता" नामक पुस्तक की पाण्डुलिपि को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा है। पण्डित जी ने "आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब, लाहौर तथा "गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय" में वेदानुसन्धानकर्ता के रूप में कार्य करते हुए ऋभु देवता, विष्णु देवता, सविता देवता, आत्मसमर्पण, वैदिक स्वप्न विज्ञान, बृहस्पति देवता आदि जो उच्चकोटि की पुस्तकें लिखी हैं उसी के अनुरूप प्रस्तुत पुस्तक भी है। यह टाइप किये हुए लगभग पौने तीन सौ पृष्ठों में समाप्त हुई है तथा १४ अध्यायों में विभक्त है। इसमें रुद्र का स्वरूप, निरुक्त में रुद्र, शतरुद्रिय, अथर्ववेद में रुद्र, त्र्यम्बक महादेव, भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में रुद्र, अष्टमूर्ति महादेव, शाखा-संहिताओं में रुद्र, रुद्र-सम्बन्धी कथानक, क्षात्रवर्ण में रुद्र, वागाम्भृणी और रुद्र, अन्तरिक्षस्थ ११ रुद्र आदि विषयों पर विद्वत्तापूर्वक विचार किया गया है। अन्तिम अध्याय में चारों वेदों में आने वाले रुद्र-सम्बन्धी समस्त मन्त्रों के अर्थ दर्शा दिये गये हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में रुद्र के सम्बन्ध में जो भी प्रमुख सामग्री उपलब्ध होती है, वह प्रायः सब संक्षेप में इसमें आ गई है। लेखक ने अस्पष्ट तथा रहस्यमय स्थानों को खोलने का प्रयास किया है, यद्यपि इस छोटी पुस्तक में समग्र रहस्यों का उद्घाटन सम्भव नहीं हो सका है।

यदि गुरुकुल विश्वविद्यालय पण्डित जी की पूर्व पुस्तकों की भाँति एक शोध पुस्तक के रूप में इसे भी प्रकाशित करना चाहता है तो यह शुभ कार्य होगा। परन्तु मेरी सम्मति में पुस्तक में कई स्थलों पर संशोधन और परिवर्तन अपेक्षित है। पुस्तक में कई स्थानों पर दयानन्द की विचारधारा से विरोध तथा पौराणिकता की झलक दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं-कहीं वेद के साथ भी न्याय नहीं हो पाया है। अतः पुस्तक में मुद्रण से पूर्व इसमें यथोचित संशोधन हो जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

मान्य पण्डित जी के विचारार्थ संशोधन योग्य कतिपय स्थलों के संकेत संलग्न कर रहा हूँ। इन संकेतों के प्रकाशन में अन्य संशोधनयोग्य स्थलों को पण्डित जी स्वयं खोज सकते हैं। मेरे विचार में संशोधन कर लेने पर पुस्तक लेखक और प्रकाशक दोनों के लिए कीर्तिजनक सिद्ध हो सकेगी, अन्यथा प्रबुद्ध वर्ग द्वारा इसकी कटु आलोचना संभावित है।

—प्रो० डॉ० रामनाथ वेदालंकार

श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालंकार द्वारा लिखित "रुद्र देवता" सम्बन्धी पाण्डु-लिपि का आद्योपान्त सूक्ष्म निरीक्षण मैंने किया है। अतः गुरुकुल युनिवर्सिटी इस पुस्तक को प्रकाशित करने का विचार करती है, इसलिए मैंने यह ध्यान रखा है कि पुस्तक में कोई ऐसा अंश न रह जाए जोकि ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों और आर्यसमाज की मानी धारणाओं के प्रतिकूल हो।

१—पण्डित जी ने वेदों, शाखाओं, आरण्यक ग्रन्थों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में यत्र-तत्र रुद्र देवता-सम्बन्धी वर्णनों का उचित संकलन कर दिया है, और उनकी व्याख्या भी कर दी है। यह एक उत्तम शोध-ग्रन्थ हो गया है, जोकि रुद्र देवता पर अन्य विद्वानों के शोध के लिए पृष्ठभूमि रूप हुआ है।

२—ब्राह्मणग्रन्थोक्त रुद्र-सम्बन्धी कथानकों की स्वोपज्ञ व्याख्या सुन्दर तथा बुद्धिग्राह्य हुई है।

३—प्रतिपादित विषयों के विस्तृत विवरणों को तालिकाओं (चार्ट्स) के रूप में दे दिया है जिससे प्रतिपादित विषय संक्षिप्तरूप में दृष्टिगत हो जाता है।

४—ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता के निज विशिष्ट विचार भी मिलते हैं जो कि मनन के योग्य और उपयोगी हैं। अतः ग्रन्थ केवल पिष्ट-पोषण नहीं हुआ।

५—रुद्रदेवता के स्वरूप के सम्बन्ध में यूरोप के विद्वानों, सायण, महीधर के विचारों तथा ऋषिदयानन्द और योगी अरविन्द के भी विचारों का उत्तम संग्रह हुआ है।

६—याज्ञिक क्रियाओं के उद्धरण देते हुए, उन द्वारा प्रतिपादित विषयों के बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् आधिदैविक तथा आध्यात्मिक की पारस्परिक तुलना भी उत्कृष्ट हुई है।

७—परन्तु कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जिन पर वैदिक विद्वानों द्वारा आक्षेप सम्भावनीय हैं, अतः उनका यथेष्ट संशोधन अपेक्षित है, ताकि वे ऋषि दयानन्द के विचारों और आर्यसमाज की विचारधाराओं के प्रतिकूल न रहें। यथा—

—प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

इस प्रकार वेद के दो विद्वानों की सम्मतियाँ हमने ऊपर उद्धृत कीं। इस ग्रन्थ की उपादेयता कितनी है यह इससे स्पष्ट है। आगे दोनों विद्वानों ने इसमें कुछ संशोधन की आवश्यकता भी दर्शायी है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि कुछ संशोधन तो भाषा के परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं कुछ और अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं कुछ संशोधनों में दोनों विद्वानों ने आर्यसमाज के सिद्धान्तों व स्वामी दयानन्द के मन्तव्य से सामंजस्य न रखने वाला बताया है। किन्तु हमारे विचार में स्वामी दयानन्द के मन्तव्य से हमारा दृष्टिकोण भले ही सामंजस्य न रखता हो पर विरोधी नहीं है। अब हम इस उपसंहार में अपने दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

सर्वप्रथम विज्ञ पाठकों को हम यह बता देना चाहते हैं कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन न तो गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से और ना ही किसी आर्यसमाज के द्वारा हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय सनातन धर्म के उच्चकोटि के विद्वान् श्री डॉ० श्यामसुन्दरदास जी अध्यक्ष गरीबदास साधु आश्रम ने वहन किया है अतः उनके विचारों का भी इस ग्रन्थ में समावेश होना स्वाभाविक है।

प्रायः सुझाये गये सभी संशोधन अंशांशि-भाव के चहुँ ओर केन्द्रित हैं और जिन बातों को हम पौराणिक कहकर उनकी अवहेलना करते हैं ऐसी बातों की शतपथ, ऐतरेय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों और यजुर्वेद की शाखा-संहिताओं में भरमार है। इसकी पुष्टि रुद्र देवता ग्रन्थ के अवलोकन से भी हो जाती है। ऐसे कथानकों या आख्यानों की संख्या भी बहुत है जो स्थूल दृष्टि से अश्लील, अनुचित व हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। पर जो सृष्टि-सम्बन्धी स्वाभाविकता और गूढ़ रहस्यों व अध्यात्म की गहराइयों और उच्चताओं के प्रजनन को प्रच्छन्न रूप में अपने अन्दर समेटे हुए हैं। यदि सूर्य की उपासना पौराणिक है तो अग्निहोत्र द्वारा अग्नि की उपासना भी इसी श्रेणी में समाविष्ट करनी होगी। **"उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि"** 'हे अग्नि ! उठ, जाग' यह बोलना और फिर अग्नि में आहुति देना यदि भौतिक अग्नि के लिए नहीं है तो **"स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपाम्"** आदि मन्त्रों के समय सूर्य के समक्ष उपस्थित हो उनकी उपासना करना भौतिक सूर्य-मण्डल के लिए क्यों समझा जाए ? स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के **"ओं खं ब्रह्म"** के भाष्य में सूर्य-मण्डल में पूर्ण परब्रह्म की सत्ता मानी है। यथा—"जो वह प्राण व सूर्य-मण्डल में पूर्ण परमात्मा है वह परोक्ष रूप मैं आकाश के तुल्य व्यापक सबसे गुण-कर्म और स्वरूप करके अधिक हूँ।" इसी दृष्टि से सन्ध्या के **"उद्वयं तमसस्परि"** मन्त्र से लेकर अन्त तक के सब मन्त्रों का विधान सूर्य-मण्डल के माध्यम से तत्रस्थ पूर्ण परमात्मा की उपासना में क्यों न माना जाए ? अतः हमारी दृष्टि में सूर्योपासना भी वैदिक ही है। स्वामी दयानन्द ने

१६वें अध्याय के यजुर्वेद-भाष्य में रुद्र से राजपुरुषों तथा प्रजाजनों आदि का ही प्राय: ग्रहण किया है। **"नमः शम्भवाय च मयोभवाय च"** मन्त्र में परमेश्वर का भी संकेत कर दिया है। महर्षि दयानन्द के इस विशिष्ट क्षेत्र में किए गए अर्थों से हमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है, परन्तु हमारे इस रुद्र देवता ग्रन्थ का प्रमुख आधार शतपथ ब्राह्मण, गोपथ व ऐतरेय ब्राह्मण, यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक तथा मैत्रायणी संहिताएँ आदि हैं। जिनमें रुद्र को मन्यु रूप माना है। यजुर्वेद के १६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही **"नमस्ते रुद्र मन्यवे"** मन्यु रूप रुद्र को नमस्कार किया है। इसी रुद्राध्याय की व्याख्या करते हुए **"शतपथ ब्राह्मण"** के ९वें काण्ड में याज्ञवल्क्य ऋषि ने रुद्राध्याय में परिगणित सैकड़ों रुद्रों के आधार पर इस काण्ड की शतरुद्रीय संज्ञा रक्खी। तैत्तिरीय संहिता में भी शतरुद्रीय का वर्णन हुआ है। शतरुद्रीय की ही दूसरी निष्पत्ति शान्त रुद्रीय बतायी है। वह इसलिए कि रुद्रों के क्रोध को अन्न देकर शान्त करने का आदेश हुआ है। पुनश्च रुद्र-सूक्तों व रुद्राध्याय में निम्न प्रयोग रुद्र के रौद्र भाव को ही प्रकट करते हैं शिव रूप को नहीं। यथा—**मन्यवे, आयुधाय, इषु हस्ते बिभर्षि, हेतिः, मा हिंसीः, अयक्ष्मं, मृडतं यातुधान्यो अधराचीः परासुव, विज्यं धनुः, विशल्यः, मानो वधीः रीरिषः, परमेवृक्ष आयुधं निधाय,** इसी प्रकार अवतान सम्बन्धी सभी मन्त्र, अथर्ववेद के भवाशर्वौ सम्बन्धी सभी मन्त्र इन दोनों रुद्र रूपों को दूर रखने का ही विधान करते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में, रुद्र सूक्तों में तथा रुद्र-सम्बन्धी फुटकर मन्त्रों में प्राय: रुद्र के उग्र रूप का ही दिग्दर्शन होता है। अतः इन प्रमाणों के होते हुए यदि हमने रुद्र का संहारकरूप ही स्वीकार किया है तो यह अयुक्तियुक्त नहीं है। प्रश्न पैदा होता है कि **"या ते रुद्र शिवातनू" "नमः शम्भवाय च मयोभवाय च"** तथा रुद्र को भिषक्तम आदि विशेषणों का औचित्य क्या है? इस सम्बन्ध में हम अपना मन्तव्य पहिले ही दर्शा चुके हैं कि रुद्र अपने रौद्र रूप का परित्याग कैसे कर सकता है? उसका यह संहारकारी रूप आवश्यक नहीं कि मनुष्यों के प्रति ही हो प्रत्युत विषैले जीव-जन्तुओं, कृमिकीटों, चोर व डकैतों तथा अन्य रोगाणुओं के प्रति भी हो सकता है। मानव-विरोधी शत्रुओं, व्याधियों आदि के प्रति रौद्र रूप होने के कारण मनुष्य का कल्याण हो जाता है इसलिये वह शिव कहा गया है। स्वरूप से वह शिव नहीं है। स्वरूप से तो वह रुद्र ही है और वेदों में प्राय: उसको रुद्र ही कहा गया है। शिव, शम्भु आदि नाम तो एक-दो स्थलों पर ही आता है।

अंशांशि भाव

वेदों में परमात्मा का पुरुष रूप में वर्णन हुआ है। परमात्मा + सृष्टि = (पुर + वस या पुरि + शेते) यह पुरुष है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि उस पुरुष के अंगोपांग हैं। इसी भाँति मानव पुरुष भी दो का समन्वय है, सम्मिलन है (आत्मा + शरीर)। जिस प्रकार ये दो होते हुए भी देवदत्त, यज्ञदत्त आदि एक ही माना

जाता है। इसी प्रकार समग्रसृष्टि में एकत्व है (एकत्वमनुपश्यत:)। जिस प्रकार जीवात्मा प्रत्यक्ष नहीं पर देवदत्त प्रत्यक्ष है उसी प्रकार परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं पर परमपुरुष प्रत्यक्ष है। तैत्तिरीय आरण्यक में इसी दृष्टि से **"वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि०"** वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है। मानव पुरुष पैदा होता है तो परमपुरुष भी पैदा होता है कहा भी है—**"ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् स प्रजापतिः। संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदं हिरण्यमाण्डं व्यरुजत्"** श० प० ११।१।६।२ यहाँ "अजायत"—धातु का प्रयोग करके प्रजापति रूप पुरुष की उत्पत्ति बतायी है। वस्तुत: ये सब गौण प्रयोग हैं। सृष्टि में क्रमिक अवस्थाओं की उत्पत्ति के सूचक हैं पर प्रयोग तो है। पुरुष संज्ञा तो वास्तव में परमात्मा की है मानव में पुरुष संज्ञा गौण है क्योंकि परमपुरुष के घटकों व अंगोपांगों से ही थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर मानवादि प्राणियों के शरीरों का निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से परमपुरुष व मानव पुरुष में अंशांशि भाव स्वत: सिद्ध है। मैंने अपने ग्रन्थ में श्री पण्डित सातवलेकरजी कृत "रुद्र देवता का परिचय" जो बहुत पहिले लिखा गया था, उससे उद्धरण दिये हैं। पंडित जी ने उसमें अंशांशि भाव का खण्डन किया है पर पीछे उन्होंने ही अपने विचारों का परित्याग कर दिया था और वे अद्वैतवाद की ओर झुक गये थे। चेतनतत्त्व के प्रकृति व प्राकृतिक घटकों से सम्पर्क में आने पर पिता, माता, पुत्र, अंशअंशीभाव आदि व्यवहार सम्भव है। अत: यह अंशांशि-भाव प्रकृति को लेकर है चेतनतत्त्व को नहीं और इस अंशांशि भाव को मानने पर कई विवादास्पद मन्त्रों की सुसंगति भी हो जाती है। इस रुद्र देवता ग्रन्थ में यजुर्वेद के रुद्राध्याय का प्रमुख स्थान है। शतपथ ब्राह्मण तथा यजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक तथा मैत्रायणी आदि शाखा-संहिताओं में इस रुद्राध्याय को शतरुद्रिय नाम से सम्बोधित किया गया है। शतरुद्रिय के दो भाव हैं एक तो जिसमें सैकड़ों रुद्रों का वर्णन हो और दूसरा यह है कि जिसमें रुद्रों को शान्त करने का विधान हो। कहा भी है—**"शान्तदेवत्यं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्"** अर्थात् शतरुद्रिय नाम इसलिए है कि इसमें रुद्र के रौद्रभाव को दूरकर उसे शान्त करना पड़ता है। किससे शान्त करें ? **"अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनं शमयामेति"** अर्थात् इस रुद्र को अन्न देकर शान्त करते हैं। इसके दो भाव स्पष्ट हैं—एक तो रुद्र में रौद्रभाव ही है जिसे शान्त करना पड़ता है। दूसरा भाव यह है कि प्राकृतिक देवता अन्न तो जुटाते हैं साँप, बिच्छु, कुत्ते, बिल्ली आदि प्राणियों के लिए पर शांत होता है रुद्र, जो कि प्रजापति का मन्यु है इससे यह ध्वनित होता है कि सांप, बिच्छु, कृमि-कीटों आदि रूपों में वह रुद्र ही है जो अन्न प्राप्त कर शांत हो जाता है। फिर प्रश्न होता है कि मन्त्र में यह क्यों कहा कि **"या ते रुद्र शिवा तनू"** हे रुद्र जो तेरी शिवतनू है अर्थात् रुद्र के घोर अघोर, शिव, शम्भु आदि दोनों रूप हैं। इसका समाधान मैंने इस रूप में किया है कि रुद्र प्रजापति का मन्यु है कोई

भी अपने स्वभाव व गुणधर्म को छोड़ा नहीं करता। अतः रुद्र रौद्र भाव को कैसे छोड़ सकता है ? यह रौद्र रूप जब मानव शत्रुओं, कृमिकीटों, व्याधियों आदि के प्रति होता है तब स्वभावतः मनुष्य का कल्याण हो जाता है। इस रूप में वह रुद्र शिव भी है। वस्तुतः देखा जाये तो मन्यु से ही प्रजा का कल्याण होता है। **"दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः"**—मनुस्मृति। दण्ड शासन करता है, दण्ड ही रक्षक है, दण्ड ही धर्म है। दण्ड न हो तो अराजकता फैल जाए। त्रिगुण से निर्मित प्राणी शरीरों का नियामक व प्रेरक वही है इसलिए **"भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"**—**"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते"** आदि सत्य वचन प्रकट हुए हैं। जीवात्मा को चुनाव करना है सत्त्व, रजस् तमस् में से। फिर तो वह अपने गुणानुरूप भ्रमित होता है। त्रिगुणातीत तो कोई विरला ही भाग्यशाली होता है जो कि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो। सत्त्व का चुनाव करने वाले भी किसी अंश में स्वतन्त्र प्रज्ञा वाले कहे जा सकते हैं। पर रजस्तमस् प्रधान साँप, बिच्छु आदि सरीसृप, कुत्ता, व्याघ्र तथा अन्य पशु-पक्षी आदियों में पाप-पुण्य की दृष्टि से स्वतन्त्र विवेकशक्ति होती नहीं, ये तो पूर्ण रूप से रुद्र भगवान् की रजस्-तमस् शक्ति के अधीन होकर इधर-उधर मंडराते हैं, इनका नियामक व प्रेरक वही रुद्र भगवान् है। ये जब परस्पर में एक-दूसरे पर अथवा मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं तो उसी की प्रेरणा है। कर्मफल देने का और क्या रूप हो सकता है। सर्व प्रकार की दुर्घटनाएँ तोड़-फोड़ संहार व विनाश आदि कर्मफल की तो परिणति है। इसी कोटि में चोर, डकैत आदि भी आ जाते हैं। एक स्वतन्त्र प्रज्ञावाला मनुष्य भी जब काम-क्रोध के वशीभूत हो जाता है तब वह भी रुद्र-गणों में परिगणित किया गया है।

नमस्ते का तात्पर्य

रुद्राध्याय में जो "नमस्ते" का प्रयोग है उसकी दो दृष्टियों से व्याख्या हो सकती है एक तो इषु, बाहु, साँप, बिच्छु, कुत्ता, व्याघ्र, चोर, डकैत आदियों को नमस्ते का प्रयोग वास्तव में उस रुद्र भगवान् के प्रति है जो कि इनका नियामक व प्रेरक है—भक्त कहता है कि हे रुद्र देव ! तुम अपने रजस्तमस् को शान्त करो, हिंसा पर उतारु इनसे मेरी रक्षा करो। दूसरा नमस्ते का भाव एक-दूसरे के प्रति आदरभाव व विनम्रता प्रदर्शित करने के लिए प्रायः होता है। यह मनुष्यों के लिए तो किसी प्रकार ठीक समझा जा सकता है पर पशु-पक्षी, चोर, डकैत आदियों के प्रति नमस्ते का प्रयोग किसी आदर भाव व पूज्य बुद्धि से नहीं है वहाँ केवल उन्हें नमाने का भाव है। नमस्ते = तव नमः नमनं भवतु। हिंसक जीवों का नमाना चाहे दण्ड से हो या अन्नादि देकर हो। अतः 'नमः' का अर्थ नमाना ही है। दण्ड व अन्नादि देना तो नमाने के साधन हैं। यास्काचार्य ने अपने निघण्टु/निरुक्त "नमः" के जो दण्ड व अन्नादि अर्थ किये हैं वे गौण अर्थ हैं। नमन के साधन होने के कारण दण्ड व अन्नादि "नमः" के साक्षात् अर्थ नहीं हैं। इसी कारण यजुर्वेद के १६वें

रुद्राध्याय में प्रायःकर "नमः, नमः का प्रयोग हुआ है। "नमस्ते" का अति स्वल्प प्रयोग हुआ है। यदि और सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये **"स्तेनानां पतये, स्तायूनां पतये, वंचकानां पतये"** आदि प्रयोगों में "पतये" शब्द की आवश्यकता ही क्या है। वहाँ तो सभी चोरों, सभी लुटेरों, डकैतों आदि का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि सभी को नमाना है। बिच्छुओं की टोली जा रही हो, पूछा जाये इनमें कौन राजा है। किसी भी बिच्छु की पूँछ पर अंगुलि रखकर देख लो, उत्तर मिल जायेगा। अतः "पति" शब्द का प्रयोग उसी देवाधिदेव रुद्र देव के लिए है किस-लिये ? कि हे देव ! इन हिंसक जीवों को कम करो, शान्त करो। अब रही बात अचेतनों को नमस्कार की। इस सम्बन्ध में हमारा कथन यह है कि वेद-मन्त्रों की रचना ही ऐसी है "अचेतनान्यप्येव स्तूयन्ते" अचेतनों की भी स्तुति-प्रार्थना व उन्हें नमस्कार आदि मिलते हैं। उनके अंगोपांग उनका कर्म-विधान आदि मिलता है। यथा **"ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः"** इसका क्या समाधान होगा ? यास्काचार्य को भी देवताओं के पुरुषविध तथा अपुरुषधि दोनों रूप स्वीकार करने पड़े। "अपिवा" करके कुछ समाधान करने का भी प्रयत्न किया है। इसी प्रसंग में स्वामी ब्रह्ममुनि ने अपने 'निरुक्त-सम्मर्श' में लिखा है **"एषां तथाभूतालंकारिका पुरुषविधताऽस्ति हि तेषां स्तुतिश्च"** अर्थात् अचेतनों की पुरुषविधता तथा उनकी स्तुति आलंकारिक है। ठीक है स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने आलंकारिक मानकर समाधान करने का प्रयत्न किया। महर्षि दयानन्द भी अपने भाष्य में प्रायःकर वाचकलुप्तोपमा आदि अलंकारों का सहारा लेते हैं, पर दूसरे नहीं मानते। अलंकारों को वे अभिमानी देवता मानकर समाधान करते हैं हम कहते हैं कि तदवच्छिन्न भागवत शक्ति ही अभिमानी देवता है। आपः में तदवच्छिन्न, अग्नि में तदवच्छिन्न तथा इन्द्र में तदवच्छिन्न। माना वेद उस देव की बुद्धिपूर्वा काव्यकृति है। काव्य कवि-कर्म से सम्बद्ध है अतः काव्य में क्रान्तदर्शिता है। जो तत्त्व चर्मचक्षु आदि इन्द्रियों से तथा मन, बुद्धि के क्षेत्र से परे हों वे वेद से ज्ञात हो सकते हैं, काव्य का यह तात्पर्य तो ठीक है। अलंकार होते हुए भी हमें अलंकारों से बचना चाहिए क्योंकि अलंकार में असम्भव, अर्धसत्य आदि का समावेश होना स्वाभाविक है। वेद वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं। वैज्ञानिक ग्रन्थ मानने पर ही वे सर्वसत्य विद्याओं के पुस्तक सिद्ध हो सकते हैं।

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि वेदों में परब्रह्म का निराकार, अरूप, अव्यय आदि रूप में भी वर्णन मिलता है। जो तात्त्विक है पर—**"तदेवाग्निस्तदा-दित्यः, इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं"** आदि मन्त्रों द्वारा उसका काल्पनिक रूप व आकार भी बताया गया है। जहाँ वह परब्रह्म परोक्ष है वहाँ सृष्टि रूपी पुर में बसने के कारण प्रत्यक्ष भी है। इन दोनों प्रकार के वर्णनों से **"तदेजति तन्नैजति०"** आदि मन्त्रों की व्याख्या सुचारु रूप से हो जाती है। मन्त्रों के विरोधाभास को दूर करने का हमारा यह प्रयत्न है। □